अथ

वेद-विद्या-निदर्शन

आधिभौतिक और आधिदैविक पक्ष

(Containing Unknown Scientific Facts)

लेखक

भगवद्दत्त

प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन मण्डल

दुकान नं० २९, मार्केट,

दक्षिण पटेल नगर, नई देहली-१२

प्रकाशक :
इतिहास प्रकाशन मण्डल,
दुकान नं० २६, मार्केट, दक्षिण पटेल नगर,
नई दिल्ली।

प्रथम संस्करण, मार्च १९५९

मूल्य : १२-५०

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली।

पञ्जाब विश्वविद्यालय के

भूतपूर्व-उपकुलपति

श्री दीवान आनन्दकुमार जी

की सेवा में

समर्पित

विषय-सूची

भूमिका

वेद के प्रति श्रद्धा—संवत् १९३२ के समीप अनेक शतियों के पश्चात् भारत में एक सिंहनाद हुआ। यह असाधारण गर्जन था। मुनिवर दयानन्द सरस्वती ने जयघोष किया, वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है। वेद से अधिक सत्य ज्ञान अन्यत्र नहीं है। अमृतसर, पञ्जाब के एक आर्य-सामाजिक परिवार में (सन् १८९३, संवत् १९५०) जन्म लेने के कारण मैं इस सत्य को बाल्य-काल से सुनता आया था। इसका मेरे पर प्रबल-संस्कार था।

वर्तमान विज्ञान का प्रभाव—अब स्कूल और कालेज में (सन् १९१३ तक) मैंने विज्ञान का विषय पढ़ा। दिन-दिन इसका प्रभाव अधिक हुआ। संस्कृत भाषा का मुझे ज्ञान नहीं था। विज्ञान की वर्तमान संज्ञाओं का प्रभाव इतना गहरा हुआ कि मैं विज्ञान-विषयक किसी पुरानी बात को समझने में अशक्त हो गया। स्कूल में मैंने पढ़ा कि पञ्चभूत तत्त्व (elements) नहीं हैं। प्रत्युत सुवर्ण, लोह और पारद आदि पदार्थ तत्त्व हैं। अतः अग्निः आदि तत्त्वों के परमाणुओं के मानने से बुद्धि परे हट रही थी। अपरञ्च, वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान की अधूरी संज्ञाओं के कुप्रभाव से प्राचीन विचार बुद्धि-गम्य न होते थे।

सात वर्ष पूर्व—संवत् २००९ तक जब कभी किसी ने पूछा कि वेद में विज्ञान है वा नहीं, तो मैं उसे कोई उत्तर नहीं देता था। वेद पर मेरी श्रद्धा थी, पर अपने ज्ञान के सीमित होने के कारण मैं उत्तर नहीं दिया करता था। तब तक महान् वैदिक-ज्ञान का मुझे स्पष्ट चित्र

न दीखा था।

एक दिन सं० २००९, अथवा सन् १९५२ में मैं अपनी सुपुत्री सुवर्चा को अंग्रेज वैज्ञानिक टिण्डल का एक लेख पढ़ा रहा था। उसमें लिखा था कि आदि काल में पृथिवी पिघली दशा में थी, तथा यह तथ्य योरप को कुछ ही काल पहले ज्ञात हुआ था। मेरे मन में वेग उठा। मैंने शतपथ ब्राह्मण में पढ़ा था, यह पृथिवी पहले आर्द्रा तथा शिथिला थी।[1] मैंने विचार आरम्भ किया। मुझे पता लगता गया कि पुरातन ऋषियों की इस सम्बन्ध में एक अभेद्य-धारणा थी।

वह दिन और आज, मेरा विश्वास, मेरी श्रद्धा, मेरी आस्था वैदिक-विज्ञान के प्रति बढ़ती ही गई। आज मैं कह सकता हूँ कि वैदिक और विविध लौकिक ग्रन्थों में भी विज्ञान की पराकाष्ठा है। अब यह भी पूरा समझ आ रहा है कि वेद का आधिभौतिक अर्थ-ज्ञान (व्याख्यान) कैसे होता है।

वैदिक ग्रन्थों में विज्ञान शब्द—शतपथ ब्राह्मण ३।३।४।११ में पाठ है—**एतदु विज्ञानम्**। यहाँ विज्ञान का अर्थ साइंस के अतिरिक्त और नहीं है। यास्कीय निरुक्त और कल्प-सूत्र आदि में **इति विज्ञायते,** लिख कर प्रायः ब्राह्मण ग्रन्थों की विज्ञान-विषयक पंक्तियाँ उद्धृत होती हैं। ईश्वर-कृष्ण प्रणीत सांख्य कारिकाओं की दूसरी कारिका में भी विज्ञान शब्द का प्रयोग इस अर्थ में मिलता है। ये आचार्य ब्राह्मण ग्रन्थों को विज्ञान की खान मानते थे। जब ब्राह्मण ग्रन्थ विज्ञान की खान हुए, तो उनका मूल ब्रह्म अर्थात् वेद क्यों ऐसा न होगा। वस्तुतः वेद अपरिमित ज्ञान का भण्डार है।

अमर कोष में—

विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः । धीवर्ग ५।६॥

विज्ञान शिल्प और शास्त्र का भी कहा है। निस्सन्देह शिल्प में विज्ञान का ही प्रयोग होता है।

---

१. देखो आगे, पृ० ९३-९५।

देव-विद्या आदि—वेद-विद्या के एक भाग को देव-विद्या भी कहते हैं। महाभारत, शान्ति पर्व में कथन है कि देव-स्तुति के लिए ही ब्रह्मा ने वेद सृजे। यथा—

स्तुत्यर्थं हि देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा ।३३५।४६॥

वेद देव-विद्या का कोष है। इस देव-विद्या और इसके साथ की अनेक विद्याओं पर कभी स्वतन्त्र ग्रन्थ थे। भगवान् सनत्कुमार के प्रति देवर्षि नारद कहता है, मैं—

राशि-विद्या, देव-विद्या, भूत-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-देव-जन विद्या आदि, पढ़ा हूँ।[1] छान्द० उप० ७।२॥

देव-विद्या में आदित्य, चन्द्र, बृहस्पति ग्रह और इन्द्र[2] तथा अग्निः आदि की विद्या है। इनके जन्म, स्वरूप और कार्य का वर्णन इन ग्रन्थों में था। देव-चक्र क्या है, कैसे चलता है, पृथिवी आदि का अपनी रेखाओं में स्थैर्य कैसा हुआ, यह सब राशि-ग्रन्थों में वर्णित था। भूतविद्या में महाभूतों की विद्याएँ हैं। नक्षत्र-विद्या में नक्षत्रों की विविध

---

१. ये निश्चित स्वतन्त्र ग्रन्थ थे। इन्हें वेद का अंश समझना भूल है। पक्षपाती एगलिङ्ग को भी इन्हें वेद के अंश मानना खटकता था, अतः उसने लिखा—

It is hardly likely that some of the texts mentioned (देवजन-विद्या, सर्पविद्या, etc.) refer merely to portions of the Vedic texts. (Shatapatha Br., Vol. V, Introduction, p. XIII.)

२. इन्द्र क्या है, इस विषय में शतपथ का कथन है कि मध्य प्राण इन्द्र है। शतपथ में ही प्राण तथा स्तनयित्नुः भी इन्द्र कहे हैं। दुर्गाचार्य के अनुसार—

वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन-इन्द्राख्येन,

अर्थात्—वैद्युत ज्योति जो वायु से आवेष्टित है, इन्द्र है।

देवों के विषय में देखो, आगे पृष्ठ ३२८।

विद्याएँ तथा सर्प-विद्या में पार्थिव सर्पों और सूर्य-रश्मियों आदि में होने वाले सर्पों की विद्या है। देवजन विद्या में देवों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों की विद्या है। इन सब पर स्वतन्त्र ग्रन्थ थे और इनमें वेद के अलौकिक ज्ञान की विशद व्याख्या थी। वहीं से अथवा वैसी सामग्री लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या की गई है। वेद की ब्रह्म-विद्या के साथ ये विद्याएँ विज्ञान की चरम सीमा हैं।

माईथॉलोजि—यह शब्द यावनी (ग्रीक) भाषा का है। इसका पहला अर्थ था, देवविद्या। अब इसका अर्थ बनाया गया है, कल्पित अथवा अनृत बात। इतिहास से ज्ञात होता है कि यवन देश वासियों ने अपना ज्ञान मिश्र देश से लिया। हैरोडोटस (४५० पू० ईसा ?) ऐसा लिखता है। मिश्र देश में कभी वेद का पर्याप्त प्रचार था। उस समय वहाँ देव विद्या ज्ञात थी। वहीं से मूसा (और यहूदियों) और तत्पश्चात् यवन लोगों ने यह विद्या ली। पर उत्तर काल के यहूदी और यवन उसे पूरा समझ नहीं पाए।

भारत में इस विद्या का ह्रास—भारत में भी ठीक वैसी ही घटना घटी। यहाँ के पण्डित भी गत ढाई, तीन सहस्र वर्ष से शनैः शनैः देव-विद्या और भूत-विद्या आदि को भूल रहे थे। भगवान् वाल्मीकि ने ठीक कहा था—

आम्नायानाम् अयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।

सुन्दर १५।३६॥

वेद-वाक, मानवी-वाक् नहीं, वेदश्रुति, आदि में ऋषियों ने और पुनः याज्ञवल्क्यादि ने सुनी। इन रहस्यों पर वैदिक आम्नाय से अपरिचित जिज्ञासु विश्वास नहीं कर सकते।

बुद्ध का प्रहार—वैदिक विज्ञान पर पहला प्रहार गौतम बुद्ध ने किया। चरित्र ही सब कुछ है और उसमें विज्ञान का महत्त्व नहीं, यह बुद्ध की शिक्षा में भासता है। अतः बौद्ध भिक्षुओं में विज्ञान के अध्ययन का अभाव हो गया। प्राचीन वीतराग भक्त सनत्कुमार, नारद और

शाण्डिल्य आदि वेद विज्ञान के महान् पण्डित थे। पर बुद्ध से यह प्रथा बन्द सी हो गई।

वेदान्त का प्रहार—इस ह्रासमयी अवस्था में वेदान्त के आचार्यों ने भौतिक-विज्ञान और वैशेषिक आदि शास्त्रों पर गहरा प्रहार किया। वैशेषिक का अध्ययन न्यून हुआ। फलतः वैशेषिक शास्त्र का एक लाख श्लोक का ग्रन्थ और रावण आदि के विशाल भाष्य लुप्त हो गए।

प्राचीन ब्रह्मवेत्ता—ब्रह्मर्षि ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ), अङ्गिरा, भृगु, अत्रि, स्वायंभुव मनु, सनत्कुमार, नारद[1], उशना, बृहस्पति, चिरजीवी पञ्चशिख, भरद्वाज, सारस्वत, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, कृष्ण द्वैपायन, बाल ब्रह्मचारी भीष्म और यादव कृष्ण आदि ऋषि और महात्मा गण वेद के अद्वितीय वेत्ता हो चुके हैं। महाभारत, शान्ति पर्व ३४९।६८ में भीष्म आदि को सात वेदपारगों में गिना है।

इन ब्रह्मवादियों के इतिहास सुविदित हैं।

पाश्चात्य मत प्रादुर्भाव—सन् १७५७ से अँग्रेजी शासन भारत में स्थिर होने लगा। अब वेद-विद्या के विषय में राजनीतिक लोगों ने हस्तक्षेप किया। पादरी लोगों की महती पक्षपातयुक्त नीति के कारण बृटिश राज्य और जर्मनी के संस्कृत-भाषा अध्येताओं ने "भाषा-विज्ञान" पर ग्रन्थ लिख कर यह सिद्ध करने का यत्न किया कि योरोप के वर्तमान संस्कृत पढ़ने वालों को प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा वेद का अधिक ज्ञान है। इस विषय पर पहली घोषणा अहंमन्य जर्मन रॉथ ने की। राथ और उसके अनुयायी वेद का अंश भी नहीं जानते थे। वे संस्कृत भी अति साधारण जानते थे। पर उन सबने निरन्तर यह घोषणा जारी रखी कि ऋषियों की अपेक्षा वे वेद का ज्ञान अधिक जानते हैं।

प्रायः वेदानभिज्ञ लोगों ने इस बात को ठीक समझा। हमारे इस ग्रन्थ का पाठ स्वयं बताएगा कि राथ, वैबर, मैक्समूलर, ह्विटनि, ओल्डनबर्ग, एगलिङ्ग, मैकडानल, कीथ, विण्टर्निट्ज और कालेण्ड

---

१. वेदार्थविद् विभागेन। शान्तिपर्व।

आदि वेद के देव और भौतिक पक्ष की साधारण संज्ञाओं को भी नहीं जान पाए। इन सब में से कालेण्ड अधिक योग्य था, पर ब्राह्मण ग्रन्थों के कई साधारण शब्द उसकी बुद्धि में भी नहीं आए।

मेरा ज्ञान, आरम्भमात्र—इस ग्रन्थ में मैंने बहुधा लिखा है कि शास्त्र की अमुक बात मेरी समझ में नहीं आई। वस्तुतः इस दिशा में मेरा ज्ञान भी आरम्भमात्र है। पर ब्राह्मण ग्रन्थों के सतत अध्ययन से यह तथ्य मेरे मन पर अङ्कित हो गया है कि ऐतरेय, तित्तिरि, वाजसनेय याज्ञवल्क्य, ताण्ड्य और जैमिनि आदि ब्राह्मण-प्रवचन-कर्ता मुनि विज्ञान के यथार्थ और निश्चित सिद्धान्तों को अत्यधिक समझते थे। उनके सिद्धान्त समान थे। वे सांख्य और वैशेषिक में भेद नहीं करते थे। उनके सिद्धान्त मनुस्मृति, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, दर्शन और महाभारत आदि ग्रन्थों में भी वर्णित हैं।

वेद-विज्ञान के अनुशीलन की आवश्यकता—मैं लिख चुका हूँ, मेरा प्रयास आरम्भमात्र है। मैंने मार्ग ढूंढ़ा है। अब विद्वानों को वेद-विज्ञान पर विशाल ग्रन्थ लिखने चाहिएं। पावन, पावक और शुचिः अग्नियों के भेदों पर, आपः के विविध रूपों पर, मरुतों के एक-एक गण पर, अन्तरिक्षस्थ नदियों और वायु-नाड़ियों पर, रश्मियों के सहस्र भेदों तथा ऐसे ही अन्य विषयों पर गम्भीर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

शास्त्र और प्रयोग—मैंने शास्त्रीय अथवा सिद्धान्त पक्ष ही लिखा है। इसके साथ प्रयोग (experimental) पक्ष की भी आवश्यकता है। प्रयोगों से वैदिक ज्ञान की स्वच्छता और श्रेष्ठता प्रमाणित होगी। विज्ञान का एक अर्थ शिल्प भी है।[1] इसमें पाश्चात्य लोगों ने असाधारण उन्नति की है। वेदविद्या में अभ्यास करने वालों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

अपने पाठकों के प्रति—इस पुस्तक में अग्निः आदि पदों के साथ बहुधा विसर्ग का प्रयोग किया गया है। पहले मेरी ऐसी धारणा

---

१. देखो स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार काण्ड, पृ० ४५६।

न थी। पर विज्ञान के वर्णन में अन्य संज्ञाओं के ज्ञान के साथ इस बात के ध्यान में रखने का भी अनुभव होता गया। इस ग्रन्थ के अध्ययन के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

१. संस्कृत भाषा का ज्ञान।
२. वेद के आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थों का ज्ञान।
३. इन अर्थों में सहायक वैदिक संज्ञाओं का ज्ञान।
४. वैदिक-प्रक्रिया का ज्ञान।
   इसका थोड़ा सा परिचय इस ग्रन्थ से भी मिलेगा। तदर्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ का पाठ करना होगा। बीच-बीच में देखने से समझ न आएगी।
५. वेद, ब्राह्मण और महाभारत, शान्ति पर्व के मोक्षधर्म का निरन्तर पाठ। इस मोक्षधर्म में सृष्टि-विद्या का विस्तृत उल्लेख है।
६. पुराणों के सर्ग और प्रतिसर्ग प्रकरणों का ज्ञान। पुराणों के इन प्रकरणों में अति प्राचीन सामग्री सुरक्षित है।

विशेषताएँ—इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे रहस्य हैं, जिन पर संसार भर के वैज्ञानिकों को विचार करना पड़ेगा। energy भूतों से पृथक् नहीं, matter और energy पृथक् नहीं, matter के परमाणु हैं, ये जटिल प्रश्न हैं।[1] वायु, अग्निः और आपः के परमाणु हैं, और ये ही वास्तविक तत्त्व हैं। ये ही nucleus, electrons और neutrons के रूप में अब पुनः माने जा रहे हैं। भविष्य में यह तथ्य सबको ज्ञात हो जाएगा। पाश्चात्य विज्ञान यह नहीं बता सका कि विद्युत् के शुष्क (positive) और आर्द्र (negative) रूप क्यों हैं। महाभूतों

---

१. डा० आईन स्टाईन सदृश विचारक को कहना पड़ा—
Matter and energy are indistinguishable. (The Universe and Dr. Einstein, p. 16)
देखो आगे, पृ० १९४।

के मानने से ही पता लगेगा कि positive आग्नेय तत्त्व है और negative आपः।

सूर्य-ताप का कारण आपः-परमाणु, आपः का दिव्य बनना, अन्तरिक्ष में मरुत-चक्र और उनसे उत्पन्न वैद्युत-चुम्बुकीय क्षेत्र का प्रादुर्भाव, इसी क्षेत्र के प्रभाव से अयस्मयी पृथिवी का चुम्बुकीय बनना, तथा दिशाओं आदि का कर्म और परिधियां अभी पाश्चात्य विज्ञान में अज्ञात तथ्य हैं। द्यौः और पृथिवी का सामीप्य, फिर इनका दूर-गमन, तदनन्तर इनका दृंहण आदि भी ध्यान देने योग्य हैं।

बाईबिल की सृष्टि-उत्पत्ति—प्रस्तुत ग्रन्थ में बाईबिल के इस प्रसङ्ग के अधूरे लेख की जो तुलना ब्राह्मण-वचनों से यत्र-तत्र की गई है, वह प्रथम वार इसी ग्रन्थ में उपस्थित की गई है। यहूदी विचारक इसे देख कर क्या कहेंगे, यह भविष्य बताएगा।

सहायता का अभाव—सन् १९१५ से मैंने अन्वेषण-कार्य आरम्भ किया था। सन् १९३४ में मैंने लाहौर का दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज प्रबन्धकों की कुव्यवस्था के कारण छोड़ा। तत्पश्चात् मैंने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, भारत वर्ष का इतिहास, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास और भाषा का इतिहास लिखे। मेरे इन ग्रन्थों में ईसाई और यहूदी लेखकों के मतों की परीक्षा थी। इस कारण वे और उनके एतद्देशीय उच्छिष्टभोजी अध्यापक मेरे ग्रन्थों से घबरा उठे। उन्होंने मेरे ग्रन्थों का प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार से विरोध किया। जिन अनेक अध्यापकों को इन विषयों से दिखावामात्र का सम्पर्क था, उन्होंने भी विरोध में कसर नहीं उठाई। भाषा के इतिहास से उनके पक्ष अधिक जर्जरित हुए हैं।

इसलिए मेरे अनुसन्धान कार्य में कतिपय मित्रों की आर्थिक सहायता के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान से आर्थिक सहायता नहीं मिली।

इतिहास आदि के अध्ययन के साथ-साथ मैं वेद-विद्या के समझने में भी यत्नशील रहा। संवत् २००६ से मुझे इस अध्ययन में सफलता

होने लगी। उसी का फल यह ग्रन्थ है।

पूर्व लेखक—वैदिक विज्ञान पर पं० गुरुदत्त एम० ए०, श्री गङ्गाप्रसाद एम० ए०, प्रधान न्यायाधीश टिहरी, प्रो० बालकृष्ण एम० ए०, The Riks के लेखक, Vedic Gods के लेखक श्री Rele, श्री ब्रजेन्द्रनाथ सील एम० ए०, (सन् १९१६) श्री मधुसूदन झा, सनातन विज्ञान समुदय (सन् १९४६) के लेखक श्री वेङ्कटरमण आर्य, और पं० हंसराज (सन् १९५६) आदि महाशयों ने लेख लिखे हैं। इनमें से The Riks, श्री सील और पं० हंसराज के ग्रन्थ अधिक उपयोगी सामग्री रखते हैं। पर इस विषय पर लिखने वाले अधिकांश महानुभावों ने कल्पना का न्यूनाधिक आश्रय लिया है। Vedic Gods, मधुसूदन झा की कृतियों और विज्ञान समुदय में कल्पना की मात्रा अधिक होने से उनका मूल्य न्यून हो गया है।

कल्पना अभाव—प्रस्तुत ग्रन्थ में कल्पनाओं का अभाव है। कहीं-कहीं, जहाँ कोई बात स्वतः सिद्ध थी, वहीं पाश्चात्य संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। अन्यथा सब प्राचीन संज्ञाएँ ही वर्ती गई हैं। वस्तुतः विज्ञान में उन्हें ही अपनाना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में मेरा विश्वास हो गया है कि विज्ञान के यथार्थ अध्ययन के लिए संस्कृत भाषा का यथेष्ट ज्ञान परमावश्यक है। संस्कृत ज्ञान-शून्य संसार आर्ष ज्ञान के उत्कृष्ट प्रकाश से वञ्चित रहेगा।

कृतज्ञता प्रकाश—इस अध्ययन का वास्तविक श्रेय श्री दीवान आनन्द कुमार जी भूतपूर्व उपकुलपति, पञ्जाब विश्वविद्यालय को है। उनकी महती कृपा के विना यह अध्ययन सम्पन्न न होता। एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

३/४ ईस्ट पटेल नगर, **भगवद्दत्त**
नई देहली—१२
मंगलवार, १७—३—१९५९

ज्ञानं सांख्यं परं मतम्

महाभारत, शान्तिपर्व ३०७।१०१ ।।

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्

विज्ञान के अध्ययन में संज्ञाओं का यथार्थ ज्ञान अत्यावश्यक है। वेद और ब्राह्मण का आधिदैविक पक्ष उच्चतम विज्ञान का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। यह विज्ञान आदि में ही पूर्ण और विशिष्ट संज्ञाओं में व्यक्त था, अत: उनसे अधिक उत्तम-संज्ञाएँ संसार में न बन सकेंगी ।

पाश्चात्य विज्ञान शनैः शनैः उन्नति की ओर जाने के यत्न में है, और उसकी संज्ञाएँ भी। अत: अभी तक ये संज्ञाएँ अधूरी, कालान्तर में परिवर्तनशील और कभी-कभी उलटी दिशा को भी जाती हैं।

अतएव वैदिक-विज्ञान को पाश्चात्य संज्ञाओं में प्रकट करने का यत्न करना वैदिक-विज्ञान को निस्सन्देह विकृत करना है। इसके विपरीत पाश्चात्य विज्ञान को वैदिक-विज्ञान की सहायता लेकर अपनी संज्ञाओं को अधिक सार्थक तथा व्यापक और अपने विज्ञान को अधिक यथार्थ बनाना चाहिए। अगला सन्दर्भ इस दिशा में प्रथम प्रयास है ।

वेदविद्यागत संज्ञाएँ निश्चितार्थ रखती हैं, पर प्रकरणवशात् पृथक्-पृथक् अर्थ भी देती हैं। तथापि ये पृथक् अर्थ भी निश्चित ही होते हैं। लोक में भी बहुधा ऐसा होता है। योग-शास्त्र में समाधि पद का एक निश्चित अर्थ है। यही पद सूर्य-विद्या प्रकरण में एक दूसरा भाव प्रकट करता है। यथा—

यथा भानुगतं तेजः मणिः शुद्धः समाधिना।
आदत्ते राजशार्दूल तथा योगः प्रवर्तते॥

शान्तिपर्व ३०४।१२॥

अर्थात्—जैसे भानुगत तेज को शुद्ध मणि (lens) समाधि (focus) द्वारा ले लेता है।

अथ

वेद-विद्या-निदर्शन

प्रथमाध्याय

ईसाई-यहूदियों द्वारा वैदिक-ज्ञान-निन्दा

वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति और तज्जन्य योरोपीय मत—गत दो शतियों में पश्चिम में कुछ-कुछ वैज्ञानिक और असाधारण यान्त्रिक उन्नति हुई। उसको लक्षित करके योरोपीय विज्ञानान्वेषकों का मत बन गया कि पुरा-काल में, न केवल योरोप, प्रत्युत सम्पूर्ण संसार प्रायः विज्ञान-शून्य था। इस मत के साथ-साथ इन लोगों ने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि का मत भी खड़ा किया। उन्होंने युक्ति दी कि आधुनिक काल की "मानव-जाति की वर्गीकरण-विद्या" (ethnology) इस मत की सहायक है। जर्मन अध्यापक विण्टर्निट्ज़ ने लिखा—

We hear in the hymns of the Rigveda of incest, seduction, conjugal unfaithfulness, the procuring of abortion, as also of deception, theft and robbery·········Modern ethnology knows nothing of "unspoiled children of nature" any more than it regards all primitive peoples as rough savages or cannibal monsters, the ethnologist knows that a step ladder of endless gradations of the most widely differing cultural conditions leads from the primitive peoples to the half civilised peoples, and right up to the civilised

nations.[1]

अर्थात्—ऋग्वेद के सूक्तों में सपिण्ड्य और सगोत्र्य दारकर्म, स्त्री-अपहरण, व्यभिचार, भ्रूणहत्या, तथा धोखा, चोरी और डकैती का भी उल्लेख है। वर्तमान-कालिक जातियों की वर्गीकरण-विद्या सतयुगी पुरुषों का अस्तित्व नहीं मानती। मानव-जाति की वर्गीकरण-विद्या का आधुनिक विद्वान् जानता है कि पहला मनुष्य अति असभ्य था। अति-विभिन्न सांस्कृतिक अवस्थाओं की अनन्त सीढ़ियाँ चढ़कर उन्नति होते-होते अर्ध-सभ्य जातियाँ और तदनु सभ्य जातियाँ बनी हैं। इति।

आलोचना—है यह बात तर्क-हीन, इतिहास-विरुद्ध और सर्वथा असिद्ध। यह वर्गीकरण त्रुटियों से भरा पड़ा है। इसमें भारतीय, मिश्री, दैत्य[2] और दानव आदि जातियों के ऐतिहासिक वृत्तों का लेश भी नहीं, हेत्वाभासों की अधिकता है। अतः एक असिद्ध पक्ष से दूसरा साध्य पक्ष कभी प्रमाणित नहीं होता। इति।

उत्तरोत्तर ज्ञान-वृद्धि मत की कसौटी पर प्राचीन भारतीय-ज्ञान का सन्तोलन—पूर्वोक्त दोनों मतों के अनुसार संसार के प्राचीन इतिहास के विषय में प्रायः परस्पर-विरोधिनी विविध कल्पनाएँ की गईं। भारत का इतिहास और अनुपम वैदिक-ज्ञान भी इन कल्पनाओं का पात्र बना। मन्त्र और ब्राह्मण, जो विज्ञान के महान् और अद्वितीय स्रोत थे, अधिकांश अति साधारण ग्रन्थ समझे जाने लगे। योरोप के ईसाई-यहूदी अध्यापकों की बन आई। उन्होंने मन्त्र और ब्राह्मण के विषय में अपने उद्गार प्रकट किए।

ईसाई-यहूदी उद्गार—योरोप के संस्कृताध्यापक अति अल्प-श्रुत थे, और हैं। उन्होंने लिखा। यथा—

१. सन् १८६० में अध्यापक मैक्समूलर ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय में लिखा—

---

1. H. I. L. by Winternitz, 1927, pp. 67, 68.
२. देखो, मेरा भाषा का इतिहास, पृ० २१५—२१८।

The Brāhmaṇas......judged by themselves...are most disappointing. No one would have supposed that......in so primitive a state of society, there could have risen, a literature which for pedantry and downright absurdity can hardly be matched anywhere. There is no lack of striking thought. But these are only like the fragments of a torso, like precious gems set in brass and lead...These works deserve to be studied as the physician studies the twaddle of idiots, and the raving of mad men.[1]

अर्थात्—ब्राह्मण-ग्रन्थों का..................., जब स्वतन्त्र रूप से निरीक्षण किया जाए, तो वे अति निराशा-जनक हैं। कोई अनुमान नहीं कर सकता था, कि समाज की इतनी प्राथमिक अवस्था में ऐसा वाङ्मय उत्पन्न हो सकता था, जो वृथा पाण्डित्य-प्रदर्शन और नितान्त उपहासास्पद होने के लिए इतना अनुपम हो। इनमें सूक्ष्म के विचार भी हैं...। परन्तु ये केवल छिन्नाङ्ग हैं। और सिक्के और पीतल में जटित बहुमूल्य रत्नों के समान हैं। इन ग्रन्थों का अध्ययन इस प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार कोई चिकित्सक किसी जडमति की अनर्गल वाचालता और उन्मत्त के प्रलाप का अध्ययन करता है। इति।

२. सन् १८८२ में जूलिअस ऐग्लिङ्ग मैक्समूलर की प्रतिध्वनि करता है—

For wearisome prolixity of exposition, characterised by dogmatic assertion and a flimsy symbolism rather than by serious reasoning, these works are perhaps not equalled anywhere.[2]

अर्थात्—व्याख्या के श्रान्तिकारी दुरूह-विस्तार की विशेषता के लिए, जिसमें तर्कावकाश-रहित और सारहीन प्रतीकें हों, तथा गम्भीर

---

1. H. A. S. L. second ed. p. 389.
2. The Śatapatha, Brāhmaṇa, Eng. tr. Vol. I, p. IX, (Intro.)

हेतु न हों, ये ग्रन्थ संसार में कदाचित् अपनी समता नहीं रखते। इति।

३. सन् १८८६ में अडोल्फ केगी, पूर्वोक्त दोनों लेखकों का अनुसरण करते हुए लिखता है—

Therefore the hymns vary greatly in value ; by the side of the splendid productions of divinely inspired poets we find a large number of unimportant, tiresome and overburdened compositions,[1]

The Brāhmaṇas, all of them marvellous products of priestly knowledge and perverted imagination, ... Dogma, mythology, legend, philosophy, exegesis, etymology are here interwoven in reckless confusion.[2]

अर्थात्—अतएव महत्ता में ये सूक्त अति विभिन्न कोटियों के हैं। दिव्य-प्रेरणा वाले कवियों की उज्ज्वल कृतियों के साथ-साथ हमें बहुत-सी अनावश्यक, थकाने वाली और बोझलकृतियाँ मिलती हैं। इति।

सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ, जो पौरोहित्य ज्ञान और विकृत-कल्पना की आश्चर्यजनक उपज हैं...............। अन्ध-धारणा, कल्पित कथा-कहानी, दर्शन, व्याख्या, व्युत्पत्ति, ये सब इनमें अन्धाधुन्ध ओत-प्रोत किए हुए हैं। इति।

४. सन् १८६४ में वृथाभिमानी ओल्डनबर्ग ने लिखा—

sacrificial songs and litanies, with which the priests of the Vedic Aryans on a templeless place of sacrifice, at the sacrificial fires strewn around with grass, invoked their gods—barbarian priests—the barbarian gods.[3]

अर्थात्—यज्ञीय गीतों और निविदों में दोहराई गई प्रार्थनाएँ,

---

1. The Rigveda, pp. 24, 25.
2. ,, ,, p. 5.
3. Religion des Veda, Berlin, 1894, p. 3. Translated on p. 73 of H. I. L. by M. Winternitz.

जिनसे वैदिक आर्यों के पुरोहित मन्दिरविहीन यज्ञ-स्थल पर यज्ञ-अग्नियाँ जलाकर और उनके चारों ओर बर्हि बिछाकर, अपने देवताओं का आवाहन करते थे।[१] ये पुरोहित बर्बर थे, तथा इनके देवता भी बर्बर थे। इति।

५. सन् १८९७ में आक्सफोर्ड के महोपाध्याय आर्थर एन्थनि मैकडानल ने लिखा—

Such myths have their source in the attempt of the human mind, in a primitive and unscientific age, to explain the various forces and phenomena of nature with which man is confronted. They represent in fact the conjectural science of a primitive mental condition. For statements which to the highly civilised mind would be merely metaphorical, amount in that early stage to explanations of the phenomena observed.[2]

अर्थात्—ऐसी कल्पित-कहानियों का मूल मानव-मन के आदिम और विज्ञान-शून्य युग के उस प्रयास में है, जिससे वह प्रकृति की विविध शक्तियों और मायाओं का, जो उसके सामने उपस्थित हो जाती हैं, व्याख्यान करता है। ये [कल्पित कहानियाँ] आदिम मानसिक अवस्था के अटकलपच्चू विज्ञान की ज्ञापक हैं। क्योंकि ऐसे वचन, जो अति सभ्य मन के लिए केवल आलङ्कारिक होंगे, उस आदिम अवस्था में दृश्यमान-माया के व्याख्यान समझे जाते हैं। इति।

६. १९०८ में अमरीका-निवासी मारीस ब्लूमफील्ड ने लिखा—

Both the performances and their explanations are treated in such a way, and spun out to such length, as to render these works (Brāhmaṇas) on the whole monuments of

---

१. ओल्डनबर्ग का संकेत निरुक्तस्थ ७।२० के आरम्भ में पढ़े गए ऋग्वेद १०।१८८।१ मन्त्र के अभिप्राय से है।

2. Vedic Mythology, Strassberg, 1897 A. D., p. I.

tediousness and intrinsic stupidity.[1]

अर्थात्—यज्ञ-क्रियाएँ और उनका व्याख्यान, दोनों इस प्रकार लिखे गए और इतने लम्बे काते गए हैं, कि ये (ब्राह्मण) श्रान्ति के स्मारक और अन्तर्हित मूर्खता के ग्रन्थ बन गए हैं।

पुनः उपनिषदों की कुछ प्रशंसा करके उनके विषय में वह लिखता है—

We are often vexed with their unstable, contradictory and partly foolish statements. [2]

अर्थात्—हम प्रायः तंग आ जाते हैं, उनके अस्थिर, परस्पर विरुद्ध और आंशिक मूर्खता के बयानों से।

७. सन् १६२७ में ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय में जर्मन अध्यापक विण्टर्निट्ज़ ने लिखा—

What Oldenberg calls 'pre-scientific knowledge,' should however, be more correctly called 'priestly pseudo-science.' [3]

अर्थात्—[ब्राह्मण-ग्रन्थों के ज्ञान-विषय में] जिसे ओल्डनबर्ग "प्राग्-वैज्ञानिक ज्ञान" कहता है, पर वस्तुतः अधिक शुद्ध प्रकार से जिसे पुरोहितों का "अयथार्थ विज्ञान" कहना चाहिए। इति।

८. सन् १६५१ में ईसाई-यहूदियों का चेला बटकृष्ण घोष लिखता है—

Next to the Samhitas are the Brāhmaṇas, an arid desert of puerile speculations on ritual ceremonies.[4]

अर्थात्—संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। बालिश कल्पनाओं और याज्ञिक संस्कारों के ये शुष्क मरुस्थल हैं। इति।

पूर्वोद्धृत मतों का सारांश—वेदमन्त्र अनावश्यक और बोझल

---

1. Religion of the Veda, 1908 A. D., p. 44.
2. " " p. 57.
3. H. I. L. p. 187, note 1.
4. Vedic Age, p. 225.

कृतियाँ हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ निराशाजनक, वृथा पाण्डित्य-प्रदर्शन के पुञ्ज, नितान्त उपहासास्पद, स्वल्प-सूक्ष्म के विचार से युक्त, बहुधा उन्मत्त प्रलापवत्, तर्कहीन प्रतिज्ञान्वित तथा विकृत कल्पनाएँ हैं। प्राचीन ऋषि, पुरोहित और देवता बर्बर थे। तथा मन्त्र और ब्राह्मण में यथार्थ विज्ञान नहीं, पर विज्ञानाभास अवश्य है। मन्त्र और ब्राह्मण समाज की आदि, प्राथमिक, अविकसित अथवा असभ्य अवस्था के ग्रन्थ हैं।

द्वितीयाध्याय

हमारी प्रतिज्ञा, सृष्टि उत्पत्ति और तद्विषयक योरोपीय-ज्ञान

हमारी प्रतिज्ञा—पूर्व उपाधियाँ अधिकांश पाश्चात्य कथित-संस्कृतज्ञों और उनकी कृतियों पर पूर्णतया चरितार्थ होती हैं, तथा मन्त्र और ब्राह्मण वाङ्मय पर नहीं। हमारे अगले लेख से यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट होगा। योरोप का अति सभ्य विज्ञान-निमग्न-मन विज्ञान के रहस्यों को कितना जान पाया है, यह भी आगे व्यक्त होगा।

इस प्रतिज्ञा का कारण—पाश्चात्य लेखक कहते हैं कि वर्तमान विज्ञान की प्रवृत्ति सन्देह से आरम्भ हुई है। यह मत कतिपय अंशों में सत्य है। हमारी अवस्था भी तदनुकूल हुई। हमने कालेज में पाश्चात्य अध्यापकों के वेद-विषयक ग्रन्थ पढ़े। उनके कथनों में हमें महान् सन्देह उत्पन्न हुआ। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये हमने मन्त्र-ब्राह्मण-प्रतिपादित कतिपय विषयों की सूक्ष्म विवेचना की। हमारा परिणाम मैक्समूलर प्रभृति-घोषित परिणाम के सर्वथा विपरीत निकला। मन्त्र और ब्राह्मण में ऐसे वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध हुए, जो पश्चिम में आज भी प्रायः अज्ञात हैं।

मन्त्र और ब्राह्मण उच्चतम विज्ञानमय—मन्त्र और ब्राह्मण समाज की अविकसित अथवा असभ्य अवस्था की कृतियाँ हैं, मैक्समूलर आदि का ऐसा कथन वदतो व्याघात है। मन्त्र और ब्राह्मण की शब्द-राशि इस कल्पना का और इस कल्पना के मूलाधार पाश्चात्य लेखकों

के विकासमत (development theory) का मुँह-बोलता खण्डन है। जिन मन्त्रों में शब्दार्थ-सम्बन्ध सर्वथा नित्य है, अपि च जिन में ऋत, सत्य, समुद्रार्णव, असत्, सत्, पुरुष, हिरण्यगर्भ, सहस्रपात् और दैवी वाक् आदि शब्द परम विज्ञान का परिचय दे रहे हैं, तथा जिनके पश्चात् सम्पूर्ण संसार में शब्दों का स्वरूप संकुचित, अविकसित और अन्ततः अपभ्रंशात्मक होता गया, तथा भाषा का स्तर सब प्रकार से गिरता चला गया, उन मंत्रों को असभ्य अवस्था की कृति मानना महाभ्रम और चरम सीमा का अज्ञान है।

मैक्समूलर का वदतो व्याघात—मैक्समूलर के विषय में जैस्पर्सन लिखता है—

The view that the modern languages of Europe, Persia and India are far inferior to the old languages, or the one old language, from which they descend, we have already encountered in the historical part of this work, in Bopp, Humboldt, Grimm, and their followers. It looms very large in Schleicher, according to whom the history of language is all a Decline and Fall, and in Max Muller, who says that "on the whole, the history of all the Aryan languages is nothing but a gradual process of decay."[1]

अर्थात्—बाप, हम्बोल्ट, ग्रिम और तदनुयायियों के विषय में लिखते हुए इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक भाग में यह बताया गया है कि योरोप, ईरान और भारत की वर्तमान भाषाएँ मूल-भाषाओं अथवा उस एक मूल-भाषा से अत्यधिक निकृष्ट हैं जिससे वे जन्मी हैं। श्लाईशर के लेख में इस विचार का प्राधान्य है कि भाषा का इतिहास ह्रास और गिरावट का इतिहास है। मैक्समूलर के लेख में भी यही बात है। वह लिखता है कि आर्य भाषाओं का इतिहास उत्तरोत्तर क्षीणता के अति-

1. Language, Its Nature Development And Origin, by Otto Jespersen, London, 1950, p. 322.

रिक्त और कुछ नहीं । इति ।

श्लाईशर और मैक्समूलर के पूर्वोद्धृत विचारों में सत्य का अंश है । उत्तरोत्तर विकास के असिद्ध मत पर, यह वज्र-प्रहार है । विकासोपासक मैक्समूलर का यह वदतो-व्याघात है । हम जानते हैं कि जिस प्रकार आदि की संस्कृत भाषा अति विकसित थी, ठीक उसी प्रकार आदि ज्ञान का मूल भण्डार भी अति विकसित था, तथा है ।

सृष्टि-उत्पत्ति—हमने सृष्टि-उत्पत्ति (cosmogony) विषय का अधिक ध्यान से अध्ययन किया है । अतः आगे उसे सप्रमाण लिखते हैं । विद्वान् पाठक स्वयं देख सकते हैं कि हमारी प्रतिज्ञा कहाँ तक सिद्ध होती है ।

सर्ग-विषयक योरोपीय ज्ञान—वक्ष्यमाण लेख से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि सर्ग (cosmogony) के विषय में योरोप के वैज्ञानिकों के अन्तिम-निष्कर्ष भी लिख दिए जाएँ, ताकि विद्वानों के हृदयङ्गम हो जाए, कि पश्चिम में इस विषय का आज तक कितना ज्ञान हुआ है ।

१. सर जेम्स जीन्स लिखता है—

If the sun had been unattended by planets, its origin and evolution would have presented no difficulty.[1]

अर्थात्—यदि सूर्य के साथ उसका ग्रह चक्र न होता, तो इसकी उत्पत्ति और विकास के जानने में कोई कठिनाई न होती । इति ।

२. सत्य का अनुभव करने वाला हैरल्ड जैफ़रि लिखता है—

The problem of the origin and development of the solar system suffers from the label 'speculative'. It is frequently said that as we were not there when the system was formed, we can not legitimately arrive at any idea of how it

1. Sir James H. Geans, Astronomy and Cosmogony, (1929 A. D.) p. 395.

was formed.[1]

अर्थात्—सौर-जगत् की उत्पत्ति और वृद्धि की समस्या पर 'कल्पना-प्रधान' विज्ञापक का दोष लगा है। बहुधा कहा जाता है कि क्योंकि सौर-जगत् के बनने के समय हम नहीं थे, अतः हम सत्यतापूर्वक किसी विचार पर नहीं पहुँच सकते कि यह कैसे बना था। इति।

३. इमैनूअल वेलिकोव्सकी के गम्भीर-विचार का फल है—

The origin of the planets and their satellites remains unsolved. The theories not only contradict one another, but each of them bears within itself its own contradictions.[2]

अर्थात्—ग्रहों और उनके उपग्रहों आदि की उत्पत्ति अब तक अज्ञात है। विविध वाद न केवल एक-दूसरे का परस्पर खण्डन करते हैं परन्तु उनमें से प्रत्येक वाद अपना अन्दर अपना खण्डन भी रखता है।

४. स्मार्ट महाशय लिखता है—

It is suggested, then, that the reader should bear in mind the incompleteness of the picture which science gives of the beginnings of things ; as we shall see, it can account in a surprisingly successful way for several elements in the story but it fails to discern any motive behind Creation, any Omnipotent Mind, any guiding hand in the evolutionary process ; that this is so is not a fault of the scientific method but of its limitations in a critical survey of the Universe from every possible angle.[3]

पुनश्च—

The earliest known description of the Creation is the

---

1. Harold Jeffrey, The Origin of the Solar System-in Internal constitution of the Earth, B·Gutenberg. ed. (1939)
2. Worlds in Collision, London, 1950 ; p.
3. W.M. Smart, M.A.,D. Sc., The Origin of the Earth, Cambridge, (1951) p. 7.

polytheistic account of the Babylonians about two thousand years before the beginning of the Christian era. Later came the superb account in the Book of Genesis with which most of us are familiar and which has dominated European theology and philosophy until comparatively recent times. As a result of the rapid march of science, especially in the last century, attention has inevitably been focused on the theme of the Biblical story,......

Perhaps, here, we may ask legitimately if in probing, in the deepest sense, the mystery of Creation—seience has *really* been more successful than the poetic expounder of Hebrew cosmogony ; the answer seems to be emphatically 'No'.

As we shall see, the cosmogonist has on his part to postulate hypotheses which to him must be reasonable and conformable to established scientific laws. However far on the road of exploration these hypotheses take him, the ultimate goal seems to be as far out of sight as ever, although neighbouring land marks continue to be investigated with ever-increasing thoroughness and understanding.[1]

It is quite possible that we shall never know, beyond a shadow of a doubt, how the planetary system came into existence.[2]

अर्थात्—तब यह सुझाया जाता है कि पदार्थों की उत्पत्ति का अपूर्ण विवरण, जिसे विज्ञान देता है, पाठक अपने ध्यान में रखे। जैसा हम देखेंगे, उत्पत्ति की कथा के अनेक अंशों का आश्चर्यजनक-सफल वर्णन विज्ञान कर सकता है, पर सर्ग के मूल में किसी उद्देश्य के, किसी सर्व-

1. Ibid, p. 8, 9.
2. Ibid, p. 192.

शक्तिमान् मन (आत्मा) के, विकास के क्रम में किसी निर्देशक हाथ के अस्तित्व के, जानने में असफल है। परिस्थिति ऐसी है। यह वैज्ञानिक पद्धति का दोष नहीं है, यह दोष जगत् के प्रत्येक सम्भावित दृष्टि से सूक्ष्म-निरीक्षण करने की इस पद्धति की सीमाओं का है।

पुनश्च—

सर्ग का प्राचीनतम ज्ञात-विवरण, खीष्टीय शक के आरम्भ से लगभग दो सहस्र वर्ष के पूर्व के, बाबल देशस्थ लोगों का बहुदेवतात्मक उल्लेख है। तत्पश्चात् बाइबिल-अन्तर्गत उत्पत्ति की पुस्तक का अत्युत्कृष्ट उल्लेख है, जिससे हममें से प्रायः अधिकांश लोग परिचित हैं। इस का गत कुछ ही दिन पूर्व तक योरोप की फिलासफी और ब्रह्मविद्या पर प्रभुत्व रहा है। विज्ञान की द्रुत-गति के फलस्वरूप, विशेषतया उन्नीसवीं शती ईसा में, लोगों का ध्यान बाइबिल की कथा पर अनायास केन्द्रित रहा है···।

कदाचित्, यहीं पर, हम उचित रूप से पूछ सकते हैं, कि सर्ग-रहस्य के गम्भीरतम रूप से खोलने में इबरानी सर्ग-विद्या के काव्यमय-व्याख्याता से क्या विज्ञान अधिक सफल हुआ है। प्रतीत होता है, उत्तर एक बलशाली 'नहीं' है।

जैसा हम देखेंगे, सर्ग-विद्या-अध्येता को अपने लिए कोई असिद्ध अनुमान खड़ा करना पड़ता है, जो उसके लिए तर्कपूर्ण और प्रमाणित-वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल हो। खोज के पथ पर कितनी ही दूर ये अनुमान उसे ले जाएँ, पर अन्तिम स्थान दृष्टि से तब भी उतना ही दूर होता है, जितना पहले कभी था। यद्यपि आस-पास के सीमावर्ती चिह्नों की खोज सदा बढ़ती हुई पूर्णता और सूझ के साथ जारी रहती है।

यह सर्वथा सम्भव है कि ग्रह-समूह किस प्रकार अस्तित्व में आया, इसे सन्देह के आभास से अधिक हम कभी न जान सकेंगे, इति।

स्मार्ट के पूर्वोक्त लेख से निम्नलिखित परिणाम स्पष्ट निकलते हैं—

१. पाश्चात्य विज्ञान ने जगद्-उत्पत्ति के कई अंशों का आश्चर्य-

जनक विवरण दिया है।

२. इस विवरण में ईश्वर की सत्ता का हाथ नहीं दिखता।

३. विज्ञान की पाश्चात्य पद्धति अति संकुचित है।

४. बाबल का सर्ग विषयक वर्णन ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व का है।

५. तदुत्तरवर्ती बाइबिल का एतद्विषयक व्याख्यान अत्युत्कृष्ट है।

६. ईसाई-जगत् बाइबिल के व्याख्यान का गहरा अध्ययन करता रहा है।

७. बाइबिल के कथनों की अपेक्षा विज्ञान आगे नहीं जा सका।

८. ग्रह-जगत् का इतिवृत्त कदाचित् सदा रहस्यमय ही रहे।

एतद्विषयक गर्वित पाश्चात्य विज्ञान कल्पना-प्रधान—पूर्वोद्धृत उद्धरणों और विशेषतया स्मार्ट के लेख में कुछ शब्द आलोचना-योग्य हैं। पर यहाँ उसका स्थान नहीं। तथापि उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट है कि पश्चिम में इस विषय का वर्तमान अध्ययन कल्पनाओं पर अधिक आश्रित है। योरोप की वैज्ञानिक-पद्धति इस रहस्य के जानने में अब तक असमर्थ रही है।

सम्पूर्ण ऋषियों का समाधि-जन्य समान मत—इस विषय का अध्ययन करते हुए जब हमने मन्त्र और ब्राह्मणगत एतद्विषयक सामग्री को उचित क्रम दिया, तो हमें ज्ञात हुआ कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के सम्पूर्ण ब्राह्मण-प्रवचन-कर्ता महिदास ऐतरेय, तित्तिरि, कठ, मैत्रायण, जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि, मुनि सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक विविध तथ्य लगभग समान रूप में प्रकट करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के मूलाधार मन्त्रों में भी सृष्टि-उत्पत्ति का वही स्वरूप और क्रम सर्वत्र मिलता है। इस उत्पत्ति के आधारभूत वैज्ञानिक नियम भी सर्वत्र समान हैं। विषय के प्रतिपादन में तर्क भी समान हैं। ये तर्क विषय के ज्ञाता के लिए असाधारण वैज्ञानिक मूल्य रखते हैं। विभिन्न वैदिक सूक्तों के तत्तत् तत्त्व वर्णन में हमें कोई भेद दिखाई नहीं दिया। यथार्थ वैज्ञानिक दर्शन

में अन्तिम मत समान होता है। आर्षज्ञान विज्ञान की पराकाष्ठा है। अतः सब ऋषियों का मत समान होना स्वाभाविक है।

मन्त्रगत सर्गविद्या पर पाश्चात्य मत—इसके विपरीत ऐगलिङ्ग तथा मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य लेखकों का मत है कि—

(क) मन्त्र और ब्राह्मण में प्राकृतिक माया का यथार्थ चित्र नहीं।

(ख) मन्त्रस्थ सृष्टि-उत्पत्ति के प्रकरणों में माईथालोजी अधिक और दार्शनिक विचार कहीं-कहीं हैं। यथा—

To the childlike intellect of the primitive Āryan which knew not how to account for the manifold strange and awe inspiring phenomena of nature otherwise than by peopling the universe with a thousand divine agents.[1]

A mythological account of the origin of the universe, involving neither manufacture nor generation, is given in one of the latest hymns of the RV., the well known पुरुष सूक्त (10,90)......, the main idea is very primitive, as it accounts for the formation of the world from the body of a giant.[2]

There are in the last book of the RV. some hymns which treat the origin of the world philosophically rather than mythologically.[3]

अर्थात्—आदिम आर्य बाल-बुद्धि था, उसे ज्ञात नहीं था कि प्रकृति की बहुविधा और भयावहा माया को किस प्रकार समझाया जाए। इसलिए उसने सहस्रों दैवी एजण्ट मान लिए।

सृष्टि उत्पत्ति का माइथोलोजियुक्त वृत्त, जिसमें न निर्माण, और न सृजन का काम है, ऋग्वेद के परमोत्तर-कालीन सूक्त अर्थात् पुरुष

---

1. The Śata. Br., tr. by Julius Eggeling, part II, 1885, p. xii, Intro.
2. Vedic Mythology, p. 12, 13.
3. Ibid, p. 13.

सूक्त (१०।६०) में दिया गया है······। इस सूक्त में मूल विचार अति असभ्य अवस्था का है, क्योंकि इसमें देव के शरीर से सृष्टि बनने का वर्णन है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में कुछ सूक्त हैं, जिनमें सृष्टि-उत्पत्ति का उल्लेख माईथोलोजी के रूप में नहीं, प्रत्युत दार्शनिक रूप में है।

हमारी आलोचना—पूर्वोक्त पंक्तियों को पढ़कर हमें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि ऐगलिङ्ग तथा मैकडानल आदि का ऐसा लेख वेदाभ्यास के नितान्त अभाव के कारण हुआ है। वेद-विद्या का इन अध्यापकों को स्पर्श भी नहीं हुआ। सहस्रशीर्ष पुरुष क्या है, पुरुष सूक्त में विज्ञान का कैसा उज्ज्वल निदर्शन है, इसका उल्लेख पाठक यथास्थान देखेंगे।

देव-विद्या—ब्राह्मण-ग्रन्थों के सतत् अभ्यास से हमें अनायास सूझा कि ब्राह्मण-प्रवक्ता मुनियों के सामने सृष्टि-विद्या और देव-विद्या प्रतिपादक, मन्त्र व्याख्यान रूप विशालकाय ग्रन्थ थे। यही नहीं, हमें भासित हुआ कि ऋषि, मुनियों ने इस विषय के जितने भी तथ्य वर्णित किए हैं, उनमें कुछ व्यापक प्राकृतिक नियम चरितार्थ होते हैं। ऐसे कतिपय नियम हम समझ भी पाए हैं, और शेष के समझने में यत्नशील हैं। इन तथ्यों का महत्त्व असाधारण है। सम्भव ही नहीं, अपितु निश्चित है कि हमारे उत्तरवर्ती-विचारक इनको अधिक समझ सकेंगे। तब प्राकृतिक रहस्यों का अथवा दैवी-माया का अधिक उद्घाटन होगा।

देव-विद्या का प्राकृतिक-माया से सम्बन्ध है इस सत्य को मैकडानल को भी मानना पड़ा। वह लिखता है—

This is mainly due to the fact that they (gods) are nearer to the physical phenomena which they represent, than the gods of any other Indo-European people. Such common features tend to obscure what is essential.[1]

देव-विज्ञान का फल—इस विषय के मार्मिक अध्ययन से यह प्रमाणित हो गया है कि ज्ञानोपलब्धि की भारतीय आर्ष प्रणाली वर्त-

1. Ved. Myth. p. 15.

मान वैज्ञानिक पद्धति से उत्कृष्ट है। यदि इस प्रणाली को सर्वाङ्ग समझा जाए तो विज्ञान के इतिहास में भारी परिवर्तन की आशा हो सकती है।

एकाग्रता से आत्म-दर्शन—आर्ष प्रणाली के ज्ञानार्थ एकाग्रता से आत्म-दर्शन तक का मार्ग पार करना पड़ता है। यह मार्ग योरोप में अज्ञात है। मैक्समूलर स्वयं स्वीकार करता है—

Concentration is something quite foreign to the Western mind.[1]

अर्थात्—एकाग्रता ऐसा विषय है, जिससे पाश्चात्य मन सर्वथा अपरिचित है।

फ्रैञ्च विद्वान् ग्यूनों—आर्ष प्रणाली और पाश्चात्य प्रणाली की तुलना करते हुए ग्यूनों लिखता है—

The *Vaisheshika darshana* implies something, which is fundamentally more rational and even, in a certain measure, more intellectual in the strict sense of the word than modern science : more rational, because, though it remains within the individual field ; it is free from all empiricism ; more intellectual, because, it never loses sight of the fact that the entire individual order depends on universal principles, from which it deserves all the reality it is capable of possessing.[2]

अर्थात्—वैशेषिक दर्शन का अभिप्राय-विशेष है। इसका आधार अधिक तर्कपूर्ण और यदि बुद्धि शब्द का ठीक अर्थ लिया जाए, तो वर्तमान साइंस से किसी सीमा तक अधिक बुद्धियुक्त भी है। अधिक तर्कपूर्ण इसलिए कि यद्यपि यह दर्शन व्यक्ति के क्षेत्र में सीमित है, पर सम्पूर्ण अनुभवोत्पन्न ज्ञान से मुक्त है। अधिक बुद्धियुक्त इसलिए कि इसमें इस तथ्य को दृष्टि से कभी ओझल नहीं किया गया कि पुरुष का

1. S.B.E., Preface, pp. xxiii-xxiv.
2. p. 247.

आद्यन्त रूप ब्रह्माण्ड व्यापी नियमों पर आश्रित है। और पुरुष में जो भी तत्त्व हो सकता है, वह ब्रह्माण्ड से लिया गया है।

तर्कयुक्त (rational) ज्ञान के विषय में यही लेखक लिखता है—

Rational knowledge is only indirect knowledge and for that reason open to error.[1]

अर्थात्—तर्कयुक्त-ज्ञान केवल असाक्षात्-ज्ञान है, और इसलिए भ्रान्ति-प्रद हो सकता है।

योरोपीय त्रुटि—योरोपीय-ज्ञान का मार्ग दोषपूर्ण है, इस पर भी ग्यूनों का विचार द्रष्टव्य है—

but the Western mentality, being turned almost exclusively towards action and being unable to conceive of any realization outside the sphere of action, has come to oppose theory and realization in a general sense.

सृष्टि-उत्पत्ति पर ग्यूनों—अब हमारे प्रस्तुत विषय पर भी इस लेखक का विचार देखिए—

Cosmology, even within the limits of the Vaisheshika, is not an experimental science like the present day physics.

अर्थात्—सृष्टि-विद्या, वैशेषिक की परिधियों में भी, वर्तमान भौतिकी-विद्या के सदृश एक परीक्षान्तर्गत विद्या नहीं है।

यह बात बहुत दूर तक सत्य है। वस्तुतः इस महती-विद्या का ज्ञान ईश्वर ने मन्त्रों में दिया। और मन्त्रों के साक्षात्करण के पश्चात् ऋषियों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों में दिया। अगले अध्याय इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं।

---

1. p. 243.
2. p. 285.

तृतीयाध्याय

पुरुष से असत्-सत् पर्यन्त

१ — पुरुष = परब्रह्म

विभिन्न अर्थ—१. सृष्टि-विद्या के विषय में अति प्राचीन आर्य-ग्रन्थकार सहमत हैं कि वर्तमान दृश्य जगत् का आरम्भ परम पुरुष, अविनाशी, अक्षर अथवा परब्रह्म से हुआ। तदनुसार पुरुष शब्द मूलतः पर-ब्रह्म का वाचक है।

२. पुरुष शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति के लिये भी हुआ है। यह आगे शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से स्पष्ट होगा।

३. पुरुष शब्द का तीसरा मनुष्य-परक अर्थ सुप्रसिद्ध है।

उपस्थित प्रकरण में पुरुष पद का अभिप्राय प्रथम स्थान में उल्लिखित पुरुष से है।

पुरुष और प्रकृति—ज्ञान के परम भण्डार शास्त्रकार ऋषि कहते हैं, पुरुष के साथ प्रकृति का अस्तित्व भी सदा से है। प्रलयावस्था में परम-पुरुष में प्रकृति उसी प्रकार लीन थी, जिस प्रकार बुभुक्षित पारद में सुवर्ण लीन हो जाता है। यह दृष्टान्त यद्यपि भौतिक जगत् का है, और परम-पुरुष भूतों से बहुत परे है, तथापि अन्य ऐसा स्पष्ट दृष्टान्त न होने से यह दृष्टान्त दिया गया है।

पुरुष का स्वरूप—कठोपनिषद् में इस पुरुष के विषय में कठ ऋषि का प्रवचन है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषात् न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥[1]
१। ३। १०, ११॥

अर्थात्—अव्यक्त से पुरुष परे है। पुरुष से परे कुछ नहीं। वह अन्तिम स्थान और परे से परे की गति है।

उसे ही अन्यत्र परम-पुरुष कहा है—

"परात् परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्। मुण्डक उ० ३। २। ८॥[2]

अर्थात्—परा = प्रकृति से परे दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।

उसीके लिए वेद-मन्त्र अलौकिक रूप में कहता है—

"आनीदवातं स्वधया तदेकम्। ऋ० १०। १२९। २॥

अर्थात्—प्राण लेता था = जीवित था विना वायु के, स्वधा = प्रकृति से [युक्त], वह एक अद्वितीय।

श्वेताश्वतर का निर्णय—इस दिव्य पुरुष के विना सृष्टि का प्रादुर्भाव असम्भव था। विनीत शिष्यों ने प्रश्न किया—

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् १। २॥

अर्थात्—[जगत् की उत्पत्ति में] काल, स्वभाव,[3] नियति, यदृच्छा, पंचभूत, योनि = प्रकृति तथा पुरुष में से प्रधान कौन है, यह चिन्त्य है।

उन्हें उत्तर देता हुआ श्वेताश्वतर ऋषि परम-पवित्र ज्ञान कहता है—

---

१. तुलना करो भगवद्गीता ३। ४६, ४७॥ तथा महाभारत, शान्ति पर्व २५२। ३, ४ भी यही श्लोक हैं।

२. तुलना करो—भगवद्गीता ८। ११—स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्॥

३. वायु पुराण ६। ६० में इसी का संकेत है—दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं दैवचिन्तकाः॥

काल आदि सात कारणों में से प्रधान-कारण पुरुष है। उसी का सब पर अधिष्ठान है।

वर्तमान वैज्ञानिकों की त्रुटि—वर्तमान वैज्ञानिक-वादों वाला संसार अपने अल्प ज्ञान के कारण कालादिकों अथवा भूतादिकों को ही जगत् का प्रधान कारण मान रहा है। पुरुष के अस्तित्व को न समझने और पुरुष-प्रेरणा के विना जगत् की उत्पत्ति मानने के कारण संसार की जो महती हानि हो रही है, वह चिन्त्य है।

पुरुष के अन्य नाम—पुरुष को ही वेद और अन्य शास्त्रों में, क्षेत्रज्ञ और अज आदि नामों से स्मरण किया है।

क्षेत्रज्ञ—(क) मानव धर्मशास्त्र १२। १२, १४। में।

(ख) आरण्यक में—आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र १। २। १२ तथा १। ३। ७ में पैङ्गि रहस्य-ब्राह्मण तथा पैङ्गि उपनिषद् से क्षेत्रज्ञ—विषयक दो श्रुतियाँ उद्धृत करता है—

(१) "पैंगिरहस्यब्राह्मणेन[1] अन्यथा व्याख्यातत्वात्—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति—इति। सत्त्वम्। अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति। अनश्नन् अन्योऽभिपश्यति ज्ञः। तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ—इति।...... । तदेतत् सत्त्वम् येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः। तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ—इति। तथा—

अर्थात्—उन दोनों में से एक फल को अच्छे प्रकार भोगता है;

---

१. **रहस्यब्राह्मण शब्द आरण्यक का वाचक है। वेदान्तसूत्र ३। ३। २४ के भाष्य के आरम्भ में शंकर लिखता है—"अस्ति ताण्डिनां पैंगिना च रहस्य-ब्राह्मणे पुरुष-विद्या। तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः।" यह पुरुष-विद्या ताण्डि शाखान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध होती है। उपनिषद् ग्रन्थ आरण्यक के ही अवान्तर भाग हैं, अतः रहस्यब्राह्मण का अर्थ आरण्यक है।**

[वह भोक्ता] सत्त्व है। न खाता हुआ एक, सब ओर देखता है, [वह द्रष्टा] ज्ञ है। वे दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं।"...वही सत्त्व है जिससे स्वप्न को देखता है। जो यह शरीर में देखने वाला है वह क्षेत्रज्ञ है। ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं।

(२) यदापि पैंग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेन....।

सत्त्वम्=प्रकृति। क्षेत्रज्ञ=ब्रह्म।

(ग) पञ्चशिख के तन्त्र में—वर्तमान उपनिषदों से बहुत पूर्व आसुरि मुनि के प्रधान शिष्य चिरंजीवी महामुनि पञ्चशिख (कलि सम्वत् से १००० वर्ष पूर्व) के तन्त्र में यह शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

(घ) वेद में—ऋग्वेद १०। ३२। ७ में भी क्षेत्रविद्=क्षेत्रज्ञ पद का प्रयोग है।

२. प्रधान=प्रकृति

प्रधान के पर्याय—सम्पूर्ण प्राचीन आर्य-शास्त्र सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन पुरुष की इच्छा की अभिव्यक्ति के पश्चात् प्रधान से आरम्भ करते हैं। मन्त्र और ब्राह्मण आदि में प्रधान के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन में से कुछ-एक निम्नलिखित हैं—

१. तमः	ऋ० १०। १२६। ३
२. ज्येष्ठ	ऋ० १०। १२०। १
३. अव्यक्त	कठ उप० १। ३। ११[1]
४. स्वधा	ऋ० १०। १२६। २
५. सत्त्व	
६. अजा	श्वेताश्वतर उप० ४। ५
७. क्षेत्र	गीता
८. विधानम्	देवल धर्मसूत्र
९. गौः	वायु पु० २३। ५५॥

अब इनका अर्थ सप्रमाण स्पष्ट किया जाता है—

१. भगवद्गीता में यही श्लोक उपनिषद से लेकर रखे गये हैं।

१. तमः—ऋग्वेद १० । १२६ । ३ मन्त्रार्द्ध है—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

इस मन्त्र पर दुर्गाचार्य (विक्रम पंचम शती से पूर्व) निरुक्त वृत्ति में लिखता है—

सांख्यास्तु तमःशब्देन प्रधानम् उपादानम् उच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—

तम एव खलु इदमग्र आसीत् तस्मिन् तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तत—इति ।[1] निरुक्त वृत्ति ७ । ३ ।।

अर्थात्—सांख्यवित् 'तमः' शब्द से प्रधान=उपादान कारण का ग्रहण मानते हैं। वे परम ऋषि का सूत्र पढ़ते हैं—तम अथवा प्रधान ही पहले था। उस प्रधान में क्षेत्रज्ञ अथवा परम पुरुष ही पहले सर्वोपरि था।

पञ्चशिख-प्रदर्शित तम शब्द का अर्थ—

पञ्चशिख के तन्त्र में यह सूत्र उपलब्ध होता है। सांख्य सप्तति की ७१वीं कारिका की माठर वृत्ति में ऐसा ही उल्लेख है।

उसी तम अथवा प्रकृति से रूपान्तर होते-होते यह जगत् बना।

सलिलम्—जिस में सब लीन हो गया था। जिस प्रकार अब भी जल में लवण आदि गलित हो जाते हैं, उसी प्रकार आपों में सम्पूर्ण धातु लीन थे।

आगे आपः का भी सलिल रूप कहेंगे। वहाँ सलिल का अर्थ watery नहीं होगा। प्रत्युत् वह आपः का विशेषण होगा।

यजुर्वेद में—आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—में तमसः का अर्थ है प्रकृति से।

मनु और वायु पुराण—मनु और वायु पुराण में भी तम शब्द प्रधान के लिए व्यवहृत हुआ है। यथा—

---

१. सांख्य सप्तति कारिका की माठर वृत्ति (?) में परमर्षि कपिल का यही सूत्र स्वल्प पाठान्तर से उद्धृत है—
क्षेत्रज्ञो ऽभिवर्तते प्रथमम् ।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । मनु १ । ५ ॥

अर्थात्—था यह तमोरूप जानने के अयोग्य और लक्षण=चिह्न-रहित । तथा—

गुणसाम्ये तदा तस्मिन् अविभातं तमोमयम् । वायु ४।२३॥[1]

अर्थात्—[सत्त्व रजः तम] गुणों की साम्यता में उस समय में अप्रकाशित था तमोयुक्त ।

२. **ज्येष्ठ**—ज्येष्ठ शब्द है ही प्रधान का पर्याय । निरुक्त १३ । ३७ में ऋ० १० । १२० । १ के व्याख्यान में यास्क ने लिखा है—

भुवनेषु ज्येष्ठम्–अव्यक्तम् ।

अर्थात्—भूतों में ज्येष्ठ । ज्येष्ठ का अर्थ अव्यक्त अथवा प्रधान है।

३. **अव्यक्त**—प्रधान और अव्यक्त भी एक हैं । इस विषय में अन्य अनेक प्रमाणों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो स्थान देखने योग्य हैं।

विष्णुपुराण १।२।५४ में—**प्रधानानुग्रहेण** पाठ है । वायु पुराण ४।७४ में इसी का—**अव्यक्तानुग्रहेण** च, पाठान्तर है । अतः प्रधान और अव्यक्त पर्याय-मात्र हैं ।

सत्-असत्-आत्मक—यह अव्यक्त सत्-असत् आत्मक था । वायु पुराण अ० १०३ में लिखा है—

अव्यक्तात् कारणात् तस्मान्नित्यात् सदसदात्मकात् ।
सृजते स पुनर्लोकानभिमानगुणात्मकान् ॥३७॥
स पुत्रः संभवपिता जायते ब्रह्मसंज्ञितः ॥३८॥

अर्थात्—उस अव्यक्त नित्य सत्-असद् रूप कारण से उत्पन्न करता है वह अभिमान गुणों से युक्त लोकों को ।

यथा ऽश्वत्थकणीकायाम् अन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तम् अव्यक्तात् संभवस्तथा ॥
शान्ति पर्व २१३।२॥

सत्-असत् का व्याख्यान आगे देखें ।

---

१. **तुलना करो, ब्रह्माण्ड पु० १।१।३।१२॥**

४. स्वधा—यह शब्द पहले व्याख्या किया गया है।

५. अजा—श्वेताश्वतर उप० ४।५ के जिस "अजामेकां" मन्त्र में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ अजा का अर्थ प्रकृति ही है। इस मन्त्र का एक और पाठ वायु पुराण २३।५७ में है।

६. क्षेत्र—गीता आदि में क्षेत्र शब्द प्रकृतिवाची है। क्षेत्र शब्द के निर्वचन-विषय में वायुपुराण, अ० १०२ में एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

क्षयणात् कारणाच्चैव क्षतत्राणात् तथैव च।
भोज्यत्वात् विषयत्वाच्च क्षेत्रं क्षेत्रविदो विदुः ॥१११॥

अर्थात्—क्षय होने से, कारण होने से, क्षीणता से रक्षा करने से, भोग्य होने से और विषय होने से क्षेत्र कहते हैं, क्षेत्र के जानने वाले।

७. विधान—देवल के धर्मसूत्र में लिखा है—

गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानम् इत्यनर्थान्तरम्।[1]

अर्थात्—गुणों की साम्यता लक्षण वाले को ही अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति, विधान कहते हैं, ये सब समानार्थक हैं।

इसी प्रकार मन्त्र गत "धाता यथापूर्वम्" पदों में धाता का प्रयोग है।

इस धाता शब्द के साथ वि उपसर्ग लगकर विधाता, रूप बना है। उससे सम्बन्ध रखने वाले विधान और विधेय शब्द हैं।

८. गौ—वायु पुराण २३।५५ में प्रकृति के लिये गौ शब्द का प्रयोग हुआ है—

चतुर्मुखी जगद् योनिः प्रकृतिर्गौः प्रकीर्तिता।

९. प्रधान—अब रहा प्रधान शब्द। इसका प्रयोग निम्नलिखित श्रुतियों में मिलता है—

(क) योगदर्शन २।२३ के व्यास-भाष्य में किसी लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थ की निम्नलिखित श्रुति उद्धृत है—

---

१. अपरार्ककृता याज्ञवल्क्य स्मृति टीका ३। १०९॥ तथा कृत्यकल्पतरु, मोक्ष काण्ड।

प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः इति श्रुतेः।

अर्थात्—प्रधान की आत्मख्यापन निमित्त प्रवृत्ति हुई।

(ख) महाभारत, शान्तिपर्व २३८।२६ में इसी प्रसंग की एक अन्य श्रुति उद्धृत है—

त्रिगुणोऽसौ महा ज्ञातः प्रधान इति वै श्रुतिः।

अर्थात्—त्रिगुणात्मक वह महान् है। उसे ही प्रधान कहते हैं। यह श्रुति है।

इन दोनों श्रुतियों में प्रधान शब्द का प्रयोग सांख्यशास्त्र-निर्दिष्ट प्रधान अथवा प्रकृति के लिए है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पुरातन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रधान आदि का व्याख्यान था। और ब्राह्मण ग्रन्थों को सांख्य-ज्ञान अभिमत था।

(ग) क्षरं प्रधानम्—श्वे० उप० १।१०॥

अर्थात्—क्षर ही प्रधान है।

लोक में प्रकृति के लिये अन्य शब्द

सत्त्व=प्रकृति आत्मा—पैङ्गिरहस्य में।

सृजते तु गुणान सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वनुतिष्ठति।

शान्तिपर्व २४१।१ (पूना संस्क०)

सत्य, परा और अलिंगा—वायु पुराण में प्रकृति को सत्य और परा भी कहा है। यथा—

सत्य—प्रकृतिं सत्यमित्याहुर्विकारोऽनृतमुच्यते। १०२।१०७॥

अर्थात्—प्रकृति को सत्य और उसके बहुविध विकार को अनृत कहते हैं।

यह जगत् अनृत् है, विकार रूप होने से। नवीन वेदान्तियों ने जगत् के अनृत होने का भाव यहीं से लेकर दूसरे रूप में रख दिया है।

मन्त्र में सत्य पद—ऋग्वेद के भाववृत्तात्मक प्रसिद्ध अघमर्षण मन्त्र—'ऋतं च सत्यं च' में सत्य से प्रकृति का भाव ग्रहण हो सकता है।

परा—वायु पुराण में लिखा है—

प्रकृतिश्च परा स्मृता ॥ ५।२० ॥

अर्थात्—प्रकृति ही परा नाम से स्मरण की गई है।

पुलिन बिहारी का मत—वंगीय लेखक पुलिन बिहारी चक्रवर्ती ने लिखा है—

The term Prakriti is conspicuous by its absence in the ancient prose Upanishads.[1]

अर्थात्—प्रकृति संज्ञा प्राचीन गद्य उपनिषदों में अप्रयुक्त है। यह बात अति स्पष्ट है।

समालोचना—कपिल मुनि का सांख्य तन्त्र वर्तमान उपनिषदों से सहस्रों वर्ष पूर्व बना। जब उसमें प्रकृति शब्द था, तो पुलिन बिहारी जी के इस मत का कोई मूल्य नहीं।

अलिंगा—महाभारत, शान्तिपर्व ३०३।४७ (२९२।४२ पूना सं०) में प्रकृति को अलिंगा कहा है—

अलिंगां प्रकृतिं त्वाहुः।

योगसूत्र व्यास भाष्य[२] २।१९ में भी अलिंगा का प्रकृति अर्थ है।

अनिर्वचनीया—प्रकृति अप्रतर्क्या, अविज्ञेया और अलिंगा आदि थी। अतः इसे ही अनिर्वचनीया भी कहते हैं। नवीन वेदान्त में इस

1. Origin and Development of the Samkhya System of Thought, Calcutta, 1952.
२. वाचस्पतिमिश्र (विक्रम संवत् ८९८), व्यासभाष्य नाम, ग्रन्थकार के नाम से पड़ा, ऐसा मानता है। परन्तु अनेक प्राचीन ग्रन्थकार व्यास-भाष्य के वचनों को पतञ्जलि के नाम से उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार सूत्र और भाष्य का कर्ता एक ही था। यदि यह पक्ष सत्य सिद्ध हुआ, तो मानना पड़ेगा कि पतञ्जलि ने अपने सूत्रों पर न्यून-से-न्यून दो भाष्य रचे होंगे, व्यास-भाष्य और समास भाष्य। यह विचार गम्भीर अन्वेषण योग्य है।

पद से कुछ भिन्न भाव समझा जा रहा है।

प्रकृति का अपचय नहीं—महाभारत, शान्तिपर्व २१२।३९ में एक परम सूक्ष्म सिद्धान्त वर्णित है। यथा—

दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः।
प्रकृतिः सूयते तद्वद् आनन्त्यान्नापचीयते॥

अर्थात्—एक दीपक से जैसे अन्य सहस्रों दीपक प्रज्वलित होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति (अनन्त लोकों को) उत्पन्न करती है, अनन्त होने से वह क्षीण नहीं होती।

निश्चय ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के चारों ओर अब भी प्रकृति का अन्तिम घेरा अथवा मण्डल है। सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर उस मण्डल के अन्दर-अन्दर हैं।

प्रधान में क्षोभ

प्रधान में क्षोभ आया। रजोगुण प्रधान हुआ। तब सृष्टि-उत्पत्ति आरम्भ हुई। वायु पुराण अध्याय ५ में लिखा है—

गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते॥ ९॥
तिलेषु वा यथा तैलं घृतं पयसि वा स्थितम्।
तथा तमसि सत्त्वे च रजोऽव्यक्ताश्रितं स्थितम्॥ १०॥
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः॥ ११॥
प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्याण्डं महेश्वरः।
प्रधानात् क्षोभ्यमाणात् तु रजो वै समवर्तत॥ १२॥
रजः प्रवर्तकं तत्र बीजेष्विव यथा जलम्।
गुण[1]-वैषम्यमासाद्य[1] प्रसूयन्ते ह्यधिष्ठिताः॥ १३॥

अर्थात्—[सत्त्व रज और तम] गुणों की समता में प्रलय जानना चाहिए और विषमता में सृष्टि कही जाती है। तिलों में जैसे तेल, दूध में जैसे घृत रहता है, उसी प्रकार तम और सत्त्व में रज अव्यक्त रूप से

---

१. **ब्रह्माण्ड (१।१।४।३) का पाठान्तर—गुणा वै०।**

आश्रित है। परमेश्वर ने परम योग से अण्ड में प्रवेश करके प्रधान और पुरुष को क्षोभित किया। प्रधान के क्षुब्ध होने से रज प्रकट हुआ। रज ही उनमें प्रवृत्ति कराने वाला है, जैसे बीजों में जल। पुरुष से अधिष्ठित गुण विषमता को प्राप्त होकर [सृष्टि को] उत्पन्न करते हैं।

३. महान्—व्यक्त

अब कही जाने वाली अवस्था बन रही थी। अनिर्वचनीय प्रकार दूर हो रहा था। पुरुष-प्रेरणा से प्रधान में वैषम्य उत्पन्न हुआ। प्रकृति में क्षोभ स्वयं नहीं हुआ। अनीश्वरवादी यहीं भूल करते हैं। उस क्षोभ के अनन्तर महान् का प्रादुर्भाव हुआ। वायु पुराण ४।२४ में लिखा है—

गुणभावाद् वाच्यमानो महान् प्रादुर्बभूव ह।

अर्थात्—गुणों से महान् कहा जाने वाला तत्त्व प्रादुर्भूत हुआ।

महान् के विभिन्न नाम—जिस प्रकार प्रधान के अनेक नाम हैं, उसी प्रकार महान् भी शास्त्रों में अनेक नामों से गाया गया है। यथा—

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा भूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः॥ २७॥
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं चोच्यते बुधैः॥ २८॥[1]

मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पूः ?, भूः, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चितिः, स्मृतिः, संवित्, विपुरं आदि महान् के नाम हैं।

इनके अतिरिक्त महान् के लिंग और अक्षर दो अन्य पर्याय भी वायु पुराण में उल्लिखित हैं। यथा—

बुद्धिर्मनश्च लिंगश्च महानक्षर एव च।
पर्यायवाचकैः शब्दैस्तमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः॥ १०२।२१॥

वायु पुराण में अन्यत्र भी महान् को बुद्धिलक्षण कहा है—

महान् वै बुद्धिलक्षणः॥ १०२।३०॥

---

१. वा० पु० अ० ४। वेदान्तसूत्र शाङ्कर भाष्य १।४।१ में यही श्लोक किञ्चित् पाठ भेद से उद्धृत है। देवल धर्मसूत्र में भी ऐसा पाठ है। वेदान्तसूत्र शाङ्कर भाष्य, १।४।१ में शङ्कर इस पक्ष का खण्डन करता है।

आयुर्वेदीय चरक संहिता (३१०० वर्ष विक्रम से पूर्व) शरीर स्थान में भी कहा है—

जायते बुद्धिरव्यक्तात् । १।६५ ॥

अर्थात्—अव्यक्त=प्रधान से बुद्धि उत्पन्न होती है ।

मनुस्मृति १।१४ में इसी महान् को मन तथा अहंकार का उत्पादक कहा है ।

महाभारत, शान्तिपर्वान्तर्गत कपिल-आसुरी संवाद में लिखा है—

महदित्युक्तं बुद्धिरिति च । सत्ता, स्मृतिः, धृतिः, मेधा, व्यवसायः, समाधिप्राप्तिः—इत्येवमादीनि व्यक्तपर्याये नामानि वदन्त्येवमाह ॥ ३२७।७ ॥

अर्थात्—'महत्' कहा है, [उसे ही] बुद्धि भी । सत्ता, धृति, मेधा, व्यवसाय, समाधिप्राप्ति ये सब व्यक्त के पर्याय नाम हैं ।

वैदिक वाङ्मय में—शाखा, ब्राह्मण और उपनिषद् में कहा है—

(क) न हि इन्द्राद् ऋते आहुतिरस्ति । देवा वै पुरा अग्निहोत्रम् अहौषुः । तस्मात् पुरा बृहन् महान् अजनि । काठक० सं० ६।८॥ कपि० सं० पृ० ४६ ।

अर्थात्—नहीं इन्द्र के विना आहुति है । देव निश्चय ही पहले (आकाश) में अग्निहोत्र को हवियाँ देते थे । उससे पूर्व बृहत् (अथवा) महान् जन्मा ।

(ख) **महा भूत्वा प्रजापतिः । महान् हि स तद् अभवत् ।** शत० ब्रा० ७।५।१।२१॥

अर्थात्—महान् होकर प्रजापति, महान् ही वह [प्रजापति] हुआ ।

(ग) **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥

अर्थात्—इन्द्रियों से परे अर्थ हैं, अर्थों से परे मन, मन से परे

बुद्धि, बुद्धि से परे महान् आत्मा, महत् से परे अव्यक्त, और अव्यक्त से परे पुरुष है।

वेदान्त भाष्य १।४।१ में शंकर इस पक्ष का खण्डन करता है।

(घ) **इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतो व्यक्तमुत्तमम्॥**
कठ० उप० २।६।७॥

अर्थात्—इन्द्रियों से परे मन है, मन से सत्त्व उत्तम, सत्त्व से ऊपर महान् आत्मा, महत् से अव्यक्त उत्तम है।

मन्त्रों में भी महान् को मन नाम से स्मरण किया है।

युक्तिदीपिका में महान् के पर्याय—सांख्यसप्तति की टीका युक्ति दी० में भी महान् के लगभग ये ही पर्याय कहे गए हैं। (पृ० १०८)

महान्—सृष्टिकर्ता

वायु पुराण में महान् को सृष्टिकर्ता कहा है। यथा—

**महांस्तु सृष्टिं कुरुते नोद्यमानः सिसृक्षया।४।२७॥
महान् सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानः सिसृक्षया।४।४६॥**[1]

पुरुष-प्रेरणा—महान् का नोदन पुरुष-प्रेरणा का फल है। पुराण का 'नोद्यमानः' पद मनु के **तमोनुदः** (१।७) पद के अनुसरण पर लिखा गया है।

अव्यक्त से आवृत

पूर्व कह चुके हैं कि प्रधान के परिणाम आगे-आगे उसके अन्दर-अन्दर होते हैं। अर्थात्—प्रत्येक अगला विकार पहले के अन्दर होता। ब्रह्माण्डपुराण १।१।३ में इसका स्पष्टीकरण है—

गुणाभावाद् भासमाने महातत्त्वं बभूव ह॥१३॥[2]
सूक्ष्मः स तु महानग्रे अव्यक्तेन समावृतः॥ १४॥[2]

---

१. **तुलना करो, शान्तिपर्व** २३८।६६, **महान् = मन।**

२. **तुलना करो, वायु** ४।२४॥

इससे स्पष्ट है कि ग्रह, चन्द्र और नक्षत्रों सहित सम्पूर्ण जगत् तथा इसके साथी अन्य अनेक जगत् भूतों से आवृत हैं और उन सब का अन्तिम आवरण प्रकृति है।

महान् के भेद—महान् के तीन रूप थे। उनका स्पष्टीकरण आगे किया जाता है—

महान् आत्मा

वैकारिक	तैजस	भूतादि

इन रूपों पर युक्तिदीपिका पृ० ११४ पर सांख्याचार्य पंचशिख का सूत्र द्रष्टव्य है।

४. अहंकार=काम, अभिमानक[1]

महान् से अहंकार उत्पन्न हुआ।

अन्य नाम—(क) भूतादि, अहंकार को ही कहते हैं। अर्थात् वह जो भूतों का आदि था।

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३८ में व्यास-शुक संवाद में व्यास जी कहते हैं—

सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधात्मकः।
त्रिविधो ऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत् ॥२७॥
तामसो ऽसावहङ्कारो भूतादिरिति संज्ञितः ॥२८॥

अर्थात्—अहङ्कार के तामस भेद की भूतादि संज्ञा है।

वायु पुराण अ० १०२ में लिखा है—

आकाशावरणं यच्च भूतादिर्ग्रसते तु तत्।
भूतादिं ग्रसते चापि महान्वै बुद्धिलक्षणः ॥३०॥

अर्थात्—[प्रलयावस्था में] भूतादि को महान् ग्रसता है।

इसके विपरीत उत्पत्ति के क्रम में अहङ्कार से भूतसर्ग निकलता है। यथा—

---

१. देखो, शान्तिपर्व २१२।४६, कुं भ० सं०।

भूतसर्गमहंकारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव।
शान्तिपर्व ३०२।२४॥

अतः अहङ्कार को भूतादि कहते हैं।

(ख) **काम**—ऋग्वेद १०।१२९। ४ में इसे ही सम्भवतः काम-नाम से स्मरण किया है।

कपिल मुनि का निदर्शन—कपिल मुनि आसुरि को उपदेश देते हैं—

ईर्ष्या, कामः, क्रोधः लोभो·········एतानि अहंकार-पर्यायनामानि भवन्ति—एवमाह। शान्तिपर्व ३२७।१२॥

अर्थात्—अहङ्कार के पर्याय नाम अथवा रूपान्तर ही ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ आदि हैं।

(ग) **मन**—महान् को गत-प्रकरण में मन कहा है। कहीं-कहीं अहङ्कार भी मन हो सकता है—

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप।
शान्तिपर्व ३१०। १६॥

५. भूततन्मात्रा=तन्मात्रा सर्ग

वायु पुराण ४।४६ में इन्हें भूत तन्मात्रा कहा है। भूतों की यह पूर्वावस्था है।

अन्य नाम—तन्मात्राओं को **अविशेष** और भूतों को **विशेष** कहा जाता है। **विशेषो ऽन्यविशेषणात्।** ब्र० पु० १।२।१६।१८३॥

मन्त्र और ब्राह्मणों में तन्मात्राओं की सृष्टि का क्रम सुस्पष्ट रूप से अभी तक हम निर्णीत नहीं कर पाए।

ब्राह्मण में अग्निमात्रा—शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

प्रजापतिः अग्निः। यावान् अग्निः यावती अस्य मात्रा तावत्—६।१।१।१६,३८॥

उपनिषद् में तन्मात्रा—प्रश्न उपनिषद् में तन्मात्राओं का उल्लेख

है । यथा—

पृथिवी च पृथिवी मात्रा च । आपश्च-अपोमात्रा च ४।८।।

तन्मात्राएँ गुण—आकाश आदि के जो गुण हैं, उन्हें ही तन्मात्रा कहते हैं । देखिये—

अपामस्ति गुणो यस्तु ज्योतिषे लीयते रसः ।
नश्यन्त्यापस्तदा तच्च रसतन्मात्रसंक्षयात् ।।
वायु पु० १०२।६।।

अर्थात—[प्रलयावस्था की ओर जाते हुए] आपों का गुण जो रस है, वह ज्योति में लीन हो जाता है । तब आप नष्ट हो जाते हैं । रस तन्मात्रा के लय होने से ।

पुलिन बिहारी का मत—सांख्य सप्तति की युक्ति दीपिका व्याख्या का सम्पादक सांख्य विषयक अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ में लिखता है—

The ancient Upaniṣads do not mention the tanmātras, but the word bhūtamātra occurs in the Kauṣ-up III.5; and it is difficult to ascertain whether the tanmātra doctrine is adambrated there. The Praśna Upaniṣad speaks of prithivi and prithivimatra doctrine, but it is not regarded to be so old as the other prose Upaniṣads, viz, the छान्दोग्य[1]—

अर्थात्—पुरातन उपनिषदें तन्मात्राओं का वर्णन नहीं करतीं परन्तु भूततन्मात्रा शब्द कौषीतकि उपनिषद् ३।५ में मिलता है। यह निश्चित करना कठिन है कि तन्मात्रा सिद्धान्त वहाँ अभिप्रेत है। प्रश्न उपनिषद् में पृथिवी और पृथिवी मात्रा का सिद्धान्त कथित है। यह उपनिषद् उतना पुराना नहीं समझा जाता जितना छान्दोग्य आदि दूसरे गद्य उपनिषद् समझे जाते हैं।

हमारा वक्तव्य—दस उपनिषदों के ऐतिहासिक काल को अणुमात्र न समझते हुए पुलिन बिहारी जी ने ऐसा लिखा है । उपलब्ध उपनिषदों

१. p. 13, 14.

से पूर्व देवल के धर्मसूत्रों में, और उनसे पूर्वकालिक पञ्चशिख के सूत्र-ग्रन्थ में तन्मात्रा का उल्लेख मिलता है।

गुणों का पृथक् अस्तित्व—महाभूतों से पूर्व भूततन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं। ये तन्मात्राएँ गुण थीं।[1] निश्चय ही तब गुणों का पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व था।

वह अस्तित्व किस प्रकार का था, इसका समझना अत्यन्त आवश्यक है।

इसीलिये सम्पूर्ण आर्य दर्शन में गुण को द्रव्य अथवा महाभूतों से पृथक् माना है।

योरोपीय विज्ञान की त्रुटि

योरोपीय विज्ञान में गुण और द्रव्य का पार्थक्य न होने से सारा साइन्स अधूरा है। गुण के द्रव्य में प्रवेश से द्रव्य का संघात कैसे बनता है, इसका उल्लेख पुनः करेंगे। तब ज्ञात होगा कि रस के प्रवेश से आपः तथा गन्ध के प्रवेश से पृथिवी आदि का उत्तर रूप कैसे बना।

इन्द्रियों में आज तक रूप, रस आदि की पहचान कर लेने की शक्ति प्रत्यक्ष है। यह शक्ति इन्द्रियों में कैसे आई यह विज्ञान का भारी क्षेत्र है।

इन्द्रिय गण

युगपत्-सृष्टि—शान्तिपर्व २६१।२५ (पूना) का पाठ है—

वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥२४॥
एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम् ॥२५॥

---

१. गुण शब्द वैशेषिक आदि में जिस अर्थ को कहता है, उसका इस अर्थ से पार्थक्य है।

अर्थात्—वायु, अग्नि, आकाश, जल, पृथिवी, तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये दश तत्त्वों का वर्ग एक साथ उत्पन्न हुआ ।

वायु पुराण अ० १०३ का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

अहंकारस्तु महतस्तस्माद् भूतानि चात्मनः ।
युगपत् संप्रवर्तन्ते भूतान्येवेन्द्रियाणि च ।।३८।।

अर्थात्—इन्द्रियाँ और भूत [=तन्मात्रा] समकाल में उत्पन्न होते हैं ।

इसीलिए पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ पाँच ही भूत हैं । इन्द्रियों के प्रत्यक्ष अस्तित्व को मानकर पञ्च भूतों के स्वतन्त्र अस्तित्व को न मानना, जैसा कि वर्तमान पाश्चात्य साइन्स में है, विज्ञान की त्रुटि है ।

प्राणी-मात्र में जिह्वा क्यों रसना का ज्ञान कराती है, नेत्र क्यों दर्शन का साधन हैं, इस क्यों का उत्तर इसी क्रम में है ।

अविशेष सृष्टि—तन्मात्राओं तक की सृष्टि अविशेष कही जाती है । यहाँ तक की सृष्टि इन्द्रियों से अग्राह्य है ।

६. महाभूत

तन्मात्राओं के पश्चात् आकाश आदि महाभूतों की सृष्टि आरम्भ होती है । महाभूतों की उत्तरोत्तर-परम्परा में आकाश के पश्चात् दूसरे स्थान पर वायु का अस्तित्व माना गया है ।

पञ्च महाभूतों के दो प्रधान रूप—

महाभूतों के असत् और सत् दो भेद वेदादि में वर्णित हैं । उनका उल्लेख आगे किया जाता है ।

असत्—सत्

भाववृत्त सूक्त—ऋग्वेदीय १० । १२६ सूक्त भाववृत्त देवता-वाला है । भाववृत्त का अर्थ है, [सृष्टि] होने का इतिहास । अतः स्पष्ट है कि इस सूक्त में सृष्टि–उत्पत्ति का इतिहास उपनिबद्ध है । इस सूक्त का ऋषि प्रजापति परमेष्ठी है । सूक्त का प्रथम मन्त्र निम्नलिखित है ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

पाश्चात्य पद्धति का अर्थ—इस मन्त्र में दो शब्द प्रधान हैं, असत् और सत् । इनके अर्थ विषय में वर्तमान लेखकों ने अनेक ऊहापोह किए हैं । मैक्समूलर से तारापद चौधरी पर्यन्त पाश्चात्य पद्धति के लेखकों ने असत् का अर्थ—

What is not[1], non-existent[2], non-being[3], naught[4],

तथा सत् का अर्थ—

That is[1], existent[2], being[3], aught[4], किया है ।

इस अर्थ की अस्पष्टता में हेतु—इस और अन्य ऐसे प्रकरणों में असत् और सत् संज्ञा शब्द हैं । ब्राह्मण और उपनिषदों में ऐसा व्याख्यान होने से । मैक्समूलर प्रभृति कृत अर्थ उन संज्ञाओं के तथा तर्क के विरुद्ध हैं । अतः वेदार्थ का महत्त्व समझने में सर्वथा असमर्थ हैं ।

---

1. Max Muller, H. A. S. L. sec. ed. (1860 A. D.) p. 559.
2. A. A. Macdonell, Ved. myth. (1897 A. D.) p. 13.
3. (a) मारीस ब्लूमफील्ड ने The Religion of the Veda, 1908 A.D में पृ० २३५ पर यही अर्थ किया है तथा Adolf Kaegi, The Rigveda. (1886 A. D.), p. 90. में भी ।
   (b) History of Philosophy, Eastern and Western, Vol. 1. (1952 A. D.) Article on the Vedas, by Tarapad Chowdhury, p. 47.
4. M. Winternitz, H. I. L. (1927 A. D.) p. 98.

अविच्छिन्न परम्परा का अर्थ—इन शब्दों का परम प्रामाणिक अर्थ शतपथ ब्राह्मण आदि में उपलब्ध होता है। यथा, असत् के विषय में शतपथ ६।१।१ में लिखा है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः। किं तद् असद् आसीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः। के त ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा-अस्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद्[1] ऋषयः ॥१॥

अर्थात्—असत् ही पूर्व था। तो [ब्रह्मवादी] कहते हैं। क्या वह असत् था, इति। ऋषि ही वे पूर्व असत् था। ऐसा [ब्रह्मवादी] कहते हैं। कौन वे ऋषि (थे), इति। प्राण(=परम सूक्ष्म वायु के विभिन्न भेद) ही ऋषि (थे)। वे, जो पूर्व इस सम्पूर्ण (जगत् के) इस (जगत् की) इच्छा करते हुए (परम पुरुष के ध्यान से) श्रम द्वारा, तप द्वारा गतिमान् हुए, इस लिए ऋषि हैं।

विशेष आवश्यक—ध्यान करने की बात है। असत् का यह प्रतिपादित अर्थ वाजसनेय याज्ञवल्क्य मुनि तथा उसके शिष्य का स्वकल्पित अर्थ नहीं है। तदाहुः (=विद्वान् ऐसा कहते हैं) पद प्रकट करता है कि अनवच्छिन्न भारतीय परम्परा में यह अर्थ प्राचीनतम समय से चला आ रहा था।

वेद मन्त्रों में विश्वामित्र, वसिष्ठ, जमदग्नि, कश्यप, दक्ष आदि जो अनेक ऋषि नाम मिलते हैं, वे इन विभिन्न प्राणों के ही नाम हैं। उनको मानुष ऋषि समझना भयंकर भूल है।

शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र १४।५।२ में सत् के व्याख्यान द्वारा

---

१. तुलना करो—ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् संनियतस्तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥
वायु पु० ५९।८० ॥

वायुपुराण में ऋष-गतौ से ऋषि शब्द की सिद्धि मानी है। शतपथ के पूर्वोक्त लेख में रिष्-गतौ से अर्थ दर्शाया है।

असत् का स्पष्टीकरण कर दिया है। यथा—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तं च। मर्त्यं चामृतं च। स्थितं च यच्च। सच्च त्यं च ॥१॥ तदेतन्मूर्तम्। यदन्यद् वायोश्चा-न्तरिक्षाच्च। एतन्मर्त्यम्। एतत् स्थितम् एतत् सत् ॥२॥······ अथामूर्तम्। वायुश्चान्तरिक्षं च। एतद् अमृतम्। एतद् यत्। एतत् त्यम् ॥४॥

अर्थात्—दो ही ब्रह्म=महान् के रूप (हुए)। मूर्त और अमूर्त। मर्त्य और अमृत। स्थित और यत्। सत् और त्यम् ॥१॥ तो यह मूर्त है, जो दूसरा है वायु से और अन्तरिक्ष से। यह मर्त्य है। यह स्थित है। यह सत् है ॥२॥········अब अमूर्त। वायु और अन्तरिक्ष (अमूर्त) हैं। यह अमृत (है)। यह त्यम् (है)।

इस व्याख्या के अनुसार असत् और सत् के लिए निम्नलिखित अन्य संज्ञा शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

असत्	सत्
अमूर्त	मूर्त
अमृत	मर्त्य
यत्	स्थित
त्यत्-त्यम्	सत्

काण्व बृहदारण्यक ३। १ में इस का स्वल्प पाठान्तर है। अतः याज्ञवल्क्य-प्रदर्शित इस यथार्थ अर्थ के अनुसार इस मन्त्र का व्याख्यान भूत-सृष्टि अथवा भूतों की तन्मात्रा रूपिणी पूर्वावस्था-परक है। आदि में तन्मात्रा आदि में से कोई न था।

महाभारत में केवल आपः तथा क्षिति को मूर्त कहा है

शान्तिपर्व—१८५।१०॥

प्राण का परिणाम सत् के सब रूप हैं, तथा प्राण ही असत् आदि है, यह प्रश्न उपनिषद् में भी लिखा है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष ।
वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।।

अर्थात्—यह (प्राण ही) अग्नि है, (प्राण ही) तपता है यह सूर्य। यह (प्राण ही) पर्जन्य (तथा) मघवा यह। (प्राण ही) वायु यह (है)। पृथिवी (यही है) रयि और देव। सत्, असत्, अमृत और यत् (है)।

पुनः शतपथ १०।५।३।१—३ में लिखा है—

नेव वा इदमग्रेऽसदासीत्। नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्। तद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतद् ऋषिणाभ्य-नूक्तम्—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति।[1]

नेव हि सन्मनो नेवासत्।। तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्।

अर्थात्—नहीं के समान निश्चय ही यह पहले असत् था। न के समान ही सत् था। होने के समान निश्चय यह पहले नहीं के समान था। तो निश्चय वह मन (=अहंकार) ही था। इस कारण यह ऋषि ने [प्राकृत माया] के अनुसार कहा—

न ही निश्चय से सत् मन (था) न असत्। तो यह मन उत्पन्न हुआ, आविर्भाव की इच्छा वाला हुआ।

इसी प्रकार का एक पाठ तैत्तिरीय ब्राह्मण में पढ़ा गया है—

इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीत्। न पृथिवी। नान्तरिक्षम्। तद् असदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति। तदतप्यत। तस्मात् तेपानाद् धूमोऽजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्माद् तेपा-नाद् अग्निरजायत तद्भ्रमिव समहन्यत।। २।२।६।१ ।।

अर्थात्—यह (दृश्य जगत्) निश्चय ही पूर्व कुछ नहीं था। न द्यौ था। न पृथिवी (थी)। न अन्तरिक्ष (था)। वह असत् होता हुआ सत् मनन करने लगा, होउं मैं, इति। वह तपा उस तपे हुए से धूम उत्पन्न

---

१. तुलना करो—महाभारत, शान्तिपर्व ३५१। ८ ।।

हुआ। वह पुनः तपा। उस तपे हुए से अग्नि उत्पन्न हुआ।.........
वह अभ्र के समान ठोस हुआ।

यहाँ धूम मूल वायु के उत्तर की और अग्नि से पूर्व की अवस्था प्रतीत होती है।

तै० ब्रा० में इससे आगे पुनः कहा है—**असतोऽधिमनोऽसृज्यत।**
२। २। ६। १२॥

छान्दोग्य उपनिषद् में भी ऐसा ही पाठ है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुः। असदेवेदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तस्माद् असतः सद् अजायत॥ छा० उप० ६।२॥

अर्थात्—सत् ही हे सौम्य [श्वेतकेतो] पूर्व था। एक ही विना दूसरे के। तो निश्चय एक [ब्रह्मवादी] कहते हैं। असत् ही इस जगत् के पूर्व था। एक ही विना दूसरे के। [वे दोनों सत्य-निष्ठ हैं।] इसलिए असत् से सत् उत्पन्न हुआ।

छान्दोग्य उपनिषद् में अन्यत्र भी ऐसा कथन है—

आदित्यो ब्रह्म इत्यादेशः। तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत। तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। —अथ यत् तद् अजायत सोऽसावादित्यः। तं जायमानं घोषा उलूलवो ऽनूदतिष्ठन्त॥
३।१६।१०३॥

अतः असत् और सत् संज्ञा शब्द हैं। इनका अर्थ पूर्व स्पष्ट किया गया है।

महाभूत अथवा विशेष—अब देव इन्द्रियों की सृष्टि हो चुकी थी। उन्हीं के साथ महाभूत भी उत्पन्न हो गए। इन्हें ही विशेष कहते हैं। ये इन्द्रिग्राह्य थे। (**विशेषा इन्द्रियग्राह्याः**, वायु पु० ४।७०)।

इनसे पहले इन्द्रियाँ नहीं थीं। अतः महाभूतों से पूर्व की अवस्थाएँ

इन्द्रियग्राह्य कैसे हो सकती हैं। इन्द्रियाँ तो भूतों की सारी माया को भी ग्रहण नहीं कर सकतीं।[1] प्रकृति के विकारों का कार्य-कारण रूप अत्यन्त सुसम्बद्ध नियमों में नियमित है।

विज्ञान की सीमा—भौतिक विज्ञान की सीमा यहीं तक है। इन्द्रियों पर आश्रित ज्ञान इससे परे नहीं जा सकता। वर्तमान साइन्स का सारा क्षेत्र यहाँ समाप्त हो जाता है। सम्पूर्ण यन्त्रों का साहाय्य यहाँ आ कर ठहर जाता है। एटम (atom) और उससे पूर्व के इलैक्ट्रान(electron) की माया यहाँ समाप्त हो जाती है।

विशेषों का अद्भुत ज्ञान प्रदर्शन करने के कारण भी कणाद मुनि के शास्त्र को वैशेषिक शास्त्र कहते हैं।

---

1. alarming limitations of man's senses—the human eye is sensitive only to the narrow band of radiation that falls between the red and the violet. (The Universe and Dr. Einstein, p. 22)

तृतीयाध्याय

क्षोभ तथा सम्पीडन pressure

प्रकृति से महान् और महान् से अहङ्कार आदि क्षोभ के कारण उत्पन्न हुए। इससे आगे का विस्तार महाभारत (दा० सं०), शान्ति-पर्व अ० २३८ में अत्यन्त सुन्दर और वैज्ञानिक रीति से किया गया है। आकाश से भूतों की उत्तरोत्तर उत्पत्ति सम्पीडन (pressure) का परिणाम है।

भूतादिः स विकुर्वाणः[1] शिष्टं तन्मात्रकं ततः।
ससर्ज शब्दं तन्मात्रमाकाशं शब्दलक्षणम् ॥२६॥
शब्दलक्षणमाकाशं शब्दतन्मात्रमावृणोत्।
तेन सम्पीड्यमानस्तु स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ॥३०॥

अर्थात्—[उस त्रिगुण रूप महान् से त्रिगुणात्मक अहङ्कार उत्पन्न हुआ। ये त्रिगुण सात्त्विक, राजस और तामस थे। इनमें से तामस अहङ्कार भूतादि कहाता है।] उस तामस अहङ्कार अथवा भूतादि ने विकार को करते हुए शब्द तन्मात्रा को उत्पन्न किया। शब्दतन्मात्रा ने शब्दलक्षण आकाश को उत्पन्न किया। शब्दलक्षण आकाश को शब्द तन्मात्रा ने आवृत किया अर्थात् ढक लिया। उस शब्द तन्मात्रा से सम्पीडित आकाश ने स्पर्शमात्रा को उत्पन्न किया।

---

१. **मनुस्मृति १। तथा वायुपुराण ४।४६ में इसी संज्ञा (विकुर्वाणः, तथा विकुरुते) का प्रयोग है।**

शब्द तन्मात्रा से सम्पीड़ित शब्दलक्षण आकाश ने स्पर्श तन्मात्रा को उत्पन्न किया। इस घटना का समझना और परीक्षणपूर्वक सिद्ध करना आवश्यक प्रतीत होता है।

आकाश शून्य नहीं—पूर्वोक्त लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आकाश शून्य नहीं। जब प्रकृति शून्य नहीं, तो उसके उत्तरोत्तर विकार शून्य कैसे हो सकते हैं। वस्तुतः शून्य सम्पीडन भी नहीं कर सकता।

> शब्दमात्रं तदाकाशं स्पर्शमात्रं समावृणोत्।
> ससर्ज वायुस्तेनासौ पीड्यमान इति श्रुतिः ॥३१॥
> स्पर्शमात्रं तदा वायू रूपमात्रं समावृणोत्।
> तेन सम्पीड्यमानस्तु ससर्जाग्निमिति श्रुतिः ॥३२॥

शब्दमात्रा वाले आकाश ने स्पर्शमात्रा को ढक लिया। उस आकाश से सम्पीडित स्पर्शमात्रा ने वायु को उत्पन्न किया। ऐसी श्रुति है। स्पर्शमात्रा वाले वायु ने रूप मात्रा को ढक लिया। उस स्पर्शमात्रा वाली सम्पीड़ित रूपमात्रा ने अग्नि को उत्पन्न किया, यह श्रुति है।

> रूपमात्रं ततो वह्निं समुत्सृज्य समावृणोत्।
> तेन सम्पीड्यमानस्तु रसमात्रं ससर्ज ह ॥३३॥
> रूपमात्रगतं तेजो रसमात्रं समावृणोत्।
> तेन सम्पीड्यमानस्तु ससर्जाम्भ इति श्रुतिः ॥३४॥

रूपमात्रा ने वह्नि को छोड़कर उसे ढक लिया। उस रूपमात्रा से सम्पीडित वह्नि ने रस-मात्रा को उत्पन्न किया। रूपमात्रा को प्राप्त वह्निने रस-मात्रा को ढक लिया। उस वह्नि से सम्पीडित रस-मात्रा ने अम्भ=आपः को उत्पन्न किया, यह श्रुति है।

> रसमात्रात्मकं भूयो रसं तन्मात्रमावृणोत्।
> तेन सम्पीड्यमानस्तु गन्धं तन्मात्रकं ततः ॥३५॥
> ससर्ज गन्धं तन्मात्रमावृणोत् करकं ततः।
> तेन सम्पीड्यमानस्तु काठिन्यं च ससर्ज ह ॥३६॥

रस-मात्रा वाले अम्भ ने पुनः रस-मात्रा को ढका, उससे सम्पीड्य-मान रसमात्रा ने गन्धमात्रा को उत्पन्न किया। उस गन्धमात्रा ने करक को अर्थात् अति ठण्डे बरफ के कणों को उत्पन्न किया।[1] उस गन्धमात्रा से सम्पीड्यमान करक ने काठिन्य को उत्पन्न किया।

प्रथम शैत्य—सृष्टि का यह प्रथम शैत्य प्रतीत होता है। यही शैत्य पृथ्वी तत्त्व के जन्म का कारण बना। आगे चलकर पता चलेगा कि हिमसर्जना नामक सूर्य की रश्मियां हैं। उनके होने से पहले यह शैत्य कैसे हुआ, यह मैं समझ नहीं पाया।

पृथिवी जायते तस्मात् गन्धतन्मात्रजात् तथा ॥३७॥
अम्मयं सर्वमेवेदमापस्तस्तम्भिरे पुनः।
भूतानीमानि जातानि पृथिव्यादीनि वै श्रुतिः ॥३८॥

गन्धमात्रा से उत्पन्न काठिन्य से पृथिवी उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् अम्मय यह सारा हुआ और आपः पुनः स्तम्भित हुए। ये पृथिवी आदि भूत उत्पन्न हुए यह श्रुति है।

यह सम्पीडन क्रम क्यों होता चला गया, इसका ज्ञान भी आवश्यक है। परन्तु सम्पीडन का प्राकृतिक कारण अभी हम नहीं समझ सके। भूतचिन्तक किसी स्वभाव को ढूढेंगे।[2] इतना निश्चित है कि मूल क्रिया

---

१. तुलना करो—अपां संघातो विलयनञ्च तेजः संयोगात्। वैशे० द० ५।२।८ ॥

इस सूत्र पर शङ्करमिश्र का उपस्कार है—दिव्येन तेजसा प्रतिबन्धा-दाप्याः परमाणवा द्व्यणुकमारभमाणा द्व्यणुकेषु द्रवत्वं नारभन्तेय। ततः·······द्रवत्वशून्या हिमकरकादय आरभ्यन्ते।

अर्थात्—आप्य परमाणु, दिव्य तेज से प्रतिबद्ध थे। इसी कारण द्व्यणुक रूप को उत्पन्न करते हुए भी द्रवत्व को उत्पन्न नहीं करते थे। इसी कारण द्रवत्वशून्य, हिम, करक आदि को आरम्भ करते हैं।

२. स्वभाव (property) स्वभावं भूतचिन्तकाः। शान्तिपर्व २३८।८८॥

उस वशी, परमेश्वर से आरम्भ हुई और उस का उत्तरोत्तर कार्य-व्यापार चलता गया। इस सम्पीडन से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की सृष्टि हुई।

क्षोभ और सम्पीडन का भेद ध्यान देने योग्य है।

भूतोत्पत्ति के इस क्रम से थोड़ा सा भिन्न क्रम भृगु और भरद्वाज के संवाद में पाया जाता है। पर यह क्रम किसी अवान्तर प्रलय का प्रतीत होता है। यथा—शान्तिपर्व अ० १८० में—

आकाशाद् अभवद् वारि सलिलाद् अग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही ॥१६॥

अर्थात्—आकाश से हुआ वारि। वारि अथवा सलिल से अग्नि और मारुत के संयोग से तब हुई मही।

तथा अध्याय १८१ में—

पुरा ऽस्तमितनिःशब्दम् आकाशम् अचलोपमम्।
नष्ट चन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव संबभौ ॥९॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडात् समजायत मारुतः ॥१०॥
यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिह लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥११॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोन्ते निरन्तरे।
भित्त्वाऽर्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥१२॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥१३॥
तस्मिन् वायु-अम्बु-संघर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुर्बभूवोर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥१४॥
अग्निः पवनसंयुक्तः खात् समुत्क्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसँयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥१५॥
तस्याकाशात् निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स संघातत्वमापन्नो भमित्वमनुगच्छति ॥१६॥

अर्थात्—पहले विना हल-चल, विना शब्द, अचलोपम आकाश था।......।९। उससे सलिल उत्पन्न हुआ, यथा अन्धकार में दूसरा अन्धकार। उस सलिल से ऊपर की ओर पीडन (pressure) से उत्पन्न हुआ मारुत।१०। जैसे अच्छिद्र भाजन यहां निःशब्द दीखता है, पर वह जब अम्भ से भरा जा रहा होता है, तब शब्द सहित करता है अनिल को।११। वैसे ही नभस् के अन्त तक निरन्तर सलिल के रुके रहने पर अर्णवतल को भेदन कर घोषवान् वायु उत्पन्न होता हैं।१२। वही यह वायु चलता है, अर्णव के उत्पीडन से उत्पन्न। आकाश के स्थान को प्राप्त होकर वह शान्ति को प्राप्त नहीं होता।१३। उस वायु-अम्बु के संघर्ष पर दीप्त-तेज, महाबल, ऊर्ध्व-शिख [अग्नि] उत्पन्न हुआ। उसने नभ को अन्धकार-रहित कर दिया।१४। वह अग्नि पवन से युक्त हुआ आकाश से ऊपर को फेंकता है जल को। वह [जल] अग्नि और मारुत के संयोग से घनत्व को प्राप्त होता है।१५। उस [घने जल] के आकाश से गिरते हुए, जो दूसरा स्नेह गिरता है, वह संघात को प्राप्त हुआ, भूमित्व को प्राप्त होता है।१६।

संपीडन का प्रभाव—संपीडन (pressure) का महान् प्रभाव देव-विद्या में सर्वत्र काम करता दिखाई देता है। सम्पीडन से ही परमाणु, अणु, द्व्यणुक और त्रसरेणु अथवा इलैक्ट्रॉन आदि की उत्पत्ति होती है। इस क्रम की अनेक बातें परीक्षा से सिद्ध हो सकेंगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

चतुर्थाध्याय

आपः

सृजन—शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ में लिखा है—

सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत।.......ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्...॥८॥ सोऽपोऽसृजत। वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत। सेदं सर्वम् आप्नोद् यदिदं किं च। यदाप्नोत् तस्मादापः। यदवृणोत् तस्माद्वा ॥९॥

अर्थात्—इस [अग्निरूप] पुरुष-प्रजापति ने कामना की। ब्रह्म ही प्रथम उत्पन्न किया। त्रयी विद्या को ही.......। उसने अपः को उत्पन्न किया। वाक् के ही लोक से। वाक् ही इस की वह उत्पन्न की। उस [वाक] ने इस सब को व्याप्त किया, जो कुछ भी यह था। क्योंकि व्याप्त किया, इस कारण आपः [हुए]। क्योंकि [इन्हों ने] आवृत किया, ढक लिया, इस कारण भी।

साइंस का नैबूला (Nebulae)—वर्तमान साइंस की जगदुत्पत्ति की प्रक्रिया आपः से आरम्भ होती हैं। इन्हें ही नैबूला अथवा गैस का रूप माना जाता है। इस गैस में ही इलैक्ट्रान आदि बनते हैं।

तै० ब्रा० २।२।६।१ में धूम के पश्चात् अग्नि, तथा अग्नि के पश्चात् (१) ज्योति, (२) अर्चिः,[1] (३) मरीचयः, तथा (४) उदाराः

१. तुलना करो—दीपस्येवार्चिषो गतिः। शान्तिपर्व ३२५।१२२॥ शान्तिपर्व २३९।२ में सृष्टि के प्रत्याहार समय में अर्चियों द्वारा जगत् की जाज्वल्यता का उल्लेख है।

की उत्पत्ति लिखी है। तदनु कहा है—

तद् अभ्रमिव समहन्यत। तद् वस्तिम् अभिनत्। स समुद्रोऽभवत्।......तद्वा इदमापः सलिलमासीत्।

अर्थात्—ये उदार अभ्र के समान संहत हुए। तब वस्ति [निवास, अथवा घर के अधो भाग] को तोड़ा। वह समुद्र हुआ।.......तो निश्चय ये आपः सलिल थे।

सलिलावस्था धारण करने के पश्चात् आपः प्रधान और व्यापक हुए।

वस्ति-भंग—संघात अवस्था ने अग्नि के घेरे के निम्न भाग को तोड़ा। संहत होने पर प्रसारण फैलाव के कारण यह हुआ। वह संघात गैस (gas) रूप में था। गैस करक होकर[1] फैली, अथवा व्यापक हुई।

मनुस्मृति १।८ में भी यहीं से उत्पत्ति-क्रम कहा है।

नराः तथा नाराः—अनेक शास्त्रों में आपों को नारादि कहा है। उसका कारण वायु-पुराण से स्पष्ट होता है—

अरमित्येष शीघ्रं तु निपातः कविभिः स्मृतः।
एकार्णवे भवन्त्यापो न शीघ्रास्तेन ते नराः ॥७।५७,५८॥

तथा च—

नानात्वे चैव शीघ्रे च धातुर्वै अर उच्यते।
एकार्णवे तदाऽऽपो वै न शीघ्रास्तेन ता नराः ॥१००।१८३॥

अर्थात्—अरम् यह शीघ्र अर्थ वाला निपात है। तथा अर धातु नानात्व और शीघ्र अर्थ में है।

आप एकार्णव अवस्था में थे। उनमें शीघ्रता अथवा स्यन्दन नहीं था। अतः उन्हें नरा कहते हैं।

यही भाव मनु आदि का है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

---

१. हिम भी अपने मूल जल से $\frac{1}{11}$ अंश अधिक स्थान घेरता है।

अर्थात्—आप नारा हैं। आपः निश्चय ही नर के सूनु हैं।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि आपों का उत्पत्ति-क्रम निम्न-लिखित था—

उदाराः = अग्नि की अन्तिम अवस्था

|

नरा

|

सलिल-अवस्था = नारा = आपः

स्यन्दन-हीन आपः—आपों में शीघ्रता अथवा स्यन्दन नहीं था, यह अन्यत्र भी माना है। शतपथ ब्राह्मण ३।६।२।१ वचन है—

यत्र वै यज्ञस्य शिरो ऽच्छिद्यत। तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद् रसेन आपः स्यन्दन्ते।

अर्थात्—जहाँ यज्ञ=प्रजापति का शिर छिन्न हुआ, उसका रस बह कर आपों में प्रविष्ट हुआ। वह ही रस आता है जो ये आपः बहते हैं।[1]

इससे स्पष्ट है कि पहले आपः स्यन्दन-हीन थे। महाभारत, शान्ति-पर्व में भी यही सत्य प्रकाशित किया गया है। यथा—

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतहितात्द्रसः।
आपो हि तेन युज्यन्ते द्रवत्वं प्राप्नुवन्ति च ॥ ३५४।७ ॥

अर्थात्—और उस से उठता है, देव से, सर्वभूत हित वाले से रस। उस [रस से] आपः युक्त होते हैं और द्रवत्व को प्राप्त होते हैं।

पाश्चात्य सर्गविद्या (cosmology) का स्पष्ट आरम्भ इन संहत आपः (gas) से होता है।

---

१. प्रशस्तपाद गुणपदार्थ निरूपण प्रकरण में द्रवत्व को मूर्त उदकों का गुण मानता है, सूक्ष्म, अमूर्त आपों का नहीं। पृ० ६५। तथा देखो पृ० २६४, ६५। तथा वै० ५।२।४ द्रवत्वात् स्यन्दनम्।

आप-विकार धूम का ऊपर गमन—जब वस्त्र धूप में सुखाए जाते हैं, अथवा जब अँगीठी पर किसी पतीले में जल उबल रहा होता है, तो जल-धूम (water vapours) ऊपर की ओर क्यों जाते हैं। इसका कारण आन्तर्य-सिद्धान्त है। वह आगे लिखते हैं।

सादृश्य अथवा आन्तर्य

आन्तर्य सिद्धान्त—आन्तर्य सिद्धान्त न केवल चेतनों में प्रत्युत अचेतनों में भी काम करता है। इस विषय का सुन्दर व्याख्यान महा-भाष्यकार पतञ्जलि मुनि (विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व) ने किया है। यथा—

अचेतनेष्वपि। तद् यथा—लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छति-आन्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आप-स्तासां विकारो धूमः। स आकाशदेशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति नावागवरोहति। अब्विकारो ऽप एव गच्छति-आन्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारो ऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितो नैव तिर्यग् गच्छति, नावागवरोहति। ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छति–आन्तर्यतः। १।१।५०॥

अर्थात्—[आन्तर्य सिद्धान्त] अचेतनों में भी [होता है]। तो जैसे मिट्टी का ढेला [ऊपर] फेंका गया, बाहु [में फेंकने का जितना] वेग[1]

---

१. कणाद की संज्ञा—जिसे पतञ्जलि बाहुवेग लिखता है, उसे कणाद के सूत्रों

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ।५।१।७।। तथा

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ।५।२।१८।।

में आत्म संयोग तथा [कर्म जनक] संस्कार (वेग, भावना, स्थिति स्थापक, पृ० २६६) कहा है। यह कर्मजनक संस्कार ही पार्थिव पदार्थ के पतन में प्रतिबन्ध होता है।

था, [उतना ऊपर] जा कर, न ही तिरछा जाता है, न [अधिक] ऊपर चढ़ता है, [प्रत्युत] पृथिवी का विकार [होने से] पृथिवी की ओर ही जाता है, आन्तर्य के कारण से। इस प्रकार जो ये अन्तरिक्ष में होने वाले सूक्ष्म आपः [हैं], उनका विकार धूम है। वह आकाश देश में, जहाँ वात [वेग का प्रभाव] नहीं, न ही तिरछा जाता है, न नीचे की ओर उतरता है, [प्रत्युत] अप्-विकार [होने से] अपः की ओर ही जाता है, आन्तर्य के कारण से। इस प्रकार ज्योति का विकार जो अर्चि है, आकाश देश में, जहाँ वात [वेग का प्रभाव] नहीं, अच्छे प्रकार जलता हुआ, न तिरछा जाता है, न नीचे की ओर आता है। ज्योति का विकार ज्योति को ही जाता है, आन्तर्य के कारण से।

प्रश्न—प्रश्न होता है, पार्थिव अंश पतङ्ग ऊपर क्यों उठता है। उत्तर है, वायु वेग से। इसी लिए पतञ्जलि ने निवाते प्रयोग किया है। पुनः प्रश्न होता है कि लकड़ी आदि के जलने पर पार्थिव अंश छोटे-छोटे न जले कोले कैसे ऊपर उठते हैं, तो उत्तर है, कि अग्नि और वायु-वेग से। इसी लिए पतञ्जलि ने दोबारा निवाते पद का प्रयोग किया है।

अरस्तू का मत—लिंकन बार्नेट ने अरस्तु का एतद् विषयक मत लिखा है—

Aristotle, whose natural science dominated Western thought for two thousand years, believed that man could arrive at an understanding of ultimate reality by reasoning from *self-evident principles*. It is, for example, a self-evident principle that everything in the universe has its proper place, hence one can deduce that objects fall to the ground because that's where they belong, and smoke goes up be-

---

प्रशस्तपाद के अनुसार आपः को उदकावस्था में गुरुत्व होता है। पृ० २३। तथा देखो, पृ० २६३।

cause that's where it belongs.[1]

अर्थात्—प्रत्यक्ष नियमों पर आश्रित तर्क द्वारा तत्त्वज्ञान हो सकता है। यथा, यह प्रत्यक्ष नियम है कि संसार में प्रत्येक वस्तु का उचित स्थान है। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि पदार्थ भूमि पर गिरते हैं क्योंकि वे उसी से सम्बन्ध रखते हैं, और धुआं ऊपर जाता है, क्योंकि वह उसी से सम्बन्ध रखता है।

यदि बार्नेट ने अरस्तु का अभिप्राय ठीक शब्दों में अनूदित किया है, तो कह सकते हैं, कि अरस्तु के तर्क में अस्पष्टता थी। अरस्तु का तर्क पतंजलि के लेख से ही कुछ स्पष्ट हो सकता है।

वायु पुराण में भी पतञ्जलिमत—सम्पूर्ण वस्तुएँ अपने-अपने कारण की ओर जाती हैं, यह मत वायुपुराण अ० २७ में भी है। यथा—

अपां योनिः समुद्रश्च तस्मात्तं कामयन्ति ताः।
मेध्याश्चैवामृताश्चैव भवन्ति प्राप्य सागरम्॥ २६॥
तस्मादपो न रुन्धीत समुद्रं कामयन्ति ताः। २७।

अर्थात्—आपों का कारण समुद्र है। इस लिए उसे आपः चाहती हैं।

अथर्ववेद में ऐसा उल्लेख—अथर्व १०।५।२२ मन्त्र भी इस विषय में द्रष्टव्य है—

समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिम्।

यजुर्वेद १३।५३ मन्त्रांश है—

अपां त्वा योनौ सादयामि।

इस पर शतपथ ७।५।२।५८ में लिखा है—

समुद्रो वा ऽ अपां योनिः।

यही योनि शब्द पुराण पाठ में प्रयुक्त है।

ग्रैविटेशन (gravitation) **अथवा आन्तर्य**—न्यूटन ने जो पार्थिव-आकर्षण मत चलाया, उसकी अपेक्षा आन्तर्य-सिद्धान्त अधिक

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 17.

युक्त है। पार्थिव-आकर्षण मत के अनुसार निवात स्थान में धूम का ऊपर चढ़ना क्लिष्टता उत्पन्न करता है।

आईन्स्टाईन का मत—आईन्स्टाईन के अनुसार न्यूटन का पार्थिव-आकर्षण कोई शक्ति (force) नहीं है। पेरिस का दैवज्ञ पॉल काउडर्क लिखता है—

Einstein's law possesses certain characteristics which are very different from those of Newton's. It explains gravitation in terms, not of force, but of deformation of space near massive bodies. In the vicinity of a star, space locally is not Euclidean : it is curved.

(The Expansion of the Universe, tr. by J. B. Sidgwick, London, 1952, p. 141)

अर्थात—आईन्स्टाईन के अनुसार बड़े-बड़े अथवा गुरुतम तारों के समीप के आकाश में कुछ टेढ़ापन होता है।

वस्तुतः न्यूटन और आईन्स्टाईन के मत अभी पुष्टि चाहते हैं।

गुरुत्व और भार का भेद—भूतों का गुणसंख्यान करते हुए भीष्म पितामह शान्तिपर्व, अ० २६१ में युधिष्ठिर से कहता है—

भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवात्मता।
गन्धो भारश्च शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः ।।३।।

अर्थात्—भूमि के गुणों में गुरुत्व और भार भी हैं। इन दोनों गुणों का भेद वैज्ञानिक ज्ञान की सूक्ष्मता बताता है।

अनेक सौरमण्डलों (galaxy) का दिन-दिन दूर-गमन न्यूटन के नियम को तोड़ता हैं। पॉल काऊडर्ग लिखता है—

We already have one force of attraction, Newton's ; we see the retreating galaxies : it is surely paradoxical to supplement Newton's attraction by a second one. A cosmic repulsion, on the other hand, would be welcomed[1]; (The

१. तथा देखो, The Universe and Dr. Einstein, पृ० ८१-८४।

Expansion of the Universe p. 196)

अर्थात्—दूरगमन का तथ्य न्यूटन के स्वीकृत आकर्षण नियम के विरुद्ध पड़ता है।

स्त्री स्थानी—ब्राह्मण ग्रन्थों के सृष्टि-उत्पत्ति विषयक प्रायः सब प्रकरणों में आपः स्त्री-स्थानी हैं। योषाः वा आपः। शतपथ ब्रा० १।१।१।१८॥ इसलिए दैवी वा और उसकी अनुकरण कर्त्री संस्कृत-भाषा में आपः शब्द नियत ही स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत होता है।

आपः का अनुवाद असम्भव—यदि कोई अनुवादक आपः शब्द का अङ्गरेजी, हिन्दी आदि भाषाओं में पुल्लिङ्ग पर्याय से अनुवाद करेगा, तो उस अनुवाद से मूल शब्द का वैज्ञानिक स्वरूप नष्ट हो जाएगा।

आपः का व्यापकत्व—आपः की व्यापकता स्पष्ट है—

(क) आपो वा इदं सर्वमाप्न वन। काठक सं० पृ० ४६।

(ख) यदाप्नोत् तस्मादापः। यदवृणोत तस्माद्वा। श० ब्रा० ६।१।१।६॥

अर्थात्—इस सम्पूर्ण अहङ्कार के अन्दर होने वाली परिधि में अथवा महाभूत रूपी इस सम्पूर्ण आकाश में आपः व्यापक हो गए। उनकी आपः संज्ञा इसी सत्य की द्योतक है। आपः ने सब ढाँप लिया।

अवकाश का अभाव—पहले योरोप के वैज्ञानिक पृथिवी और ग्रहों आदि के मध्य में अवकाश की सत्ता मानते थे। इसे वे कभी ईथर (ether) और फिर मध्यवर्ती अवकाश (interstellar space) अथवा (intergalactic space) कहने लगे। पर अब अनेक विचारक अवकाश का अस्तित्व नहीं मानते। पॉल काऊडर्ग लिखता है—

The existence of cosmic rays is a proof of the closed structure of the Universe; it is because space is closed that we still see them. Their presence and their isotropic distribution prove that we inhabit a spherical space which is virtually uniformly stocked with matter. (The Expansion of the Universe, p. 190.)

दिव्य रश्मियाँ क्या हैं, इन पर विचार आगे होगा। पर अन्तरिक्ष, द्यौ आदि सब परिमण्डला हैं, यह सत्य है। और अवकाश [वस्तुतः अन्तरिक्ष] भूतों से भरा पड़ा है।

पुनः महोपाध्याय मक्रिय लिखता है—

The space between the stars is far more empty than the best vacuum that can be produced in a laboratory. But it is not utterly void. It is pervaded by an excessively tenuous distribution of *interstellar matter*, partly in the form of gas and partly "dust". (The Physics of ths Sun and Stars, p. 8)

अर्थात्—भूमि तथा ग्रहों आदि के मध्य का अवकाश अति सूक्ष्म धूम अथवा गैस आदिकों से व्याप्त है।

वेद की अपौरुषेय श्रुति में आपः शब्द अति महत्त्वपूर्ण है। इसे ही, वैदिक ऋषियों ने लोकभाषा में बर्ता। आपः का अर्थ ही है, सब व्याप लेने वाला। इन आपः ने कोई अवकाश रहने ही न दिया।

आपः के विविध रूप—आपः को विधा (यजुः १४। ७।। श० ८।२।२।८), दिव्या आपः (जै० ब्रा० १।४५), वस्तीवरी और एकधनाः (ऐ० ब्रा०) आदि कहा है। शतपथ के इस प्रकरण में विधा का अर्थ—सब-कुछ बनाने वाला लिखा है। एकधना का भाव, १,३, ५, ७ आदि संख्या भी है। इसका रहस्य जानना चाहिए। प्राचीन काल में एकधनाविद् (श० ३।४।३।१८) भी होते थे। इसका रहस्य हम अभी नहीं समझ पाए।

आपः के गुण—महाभारत शान्तिपर्व, अ० २६१ में आपः के निम्नलिखित गुण लिखे हैं—

अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता।
जिह्वा विस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं तथा ॥४॥

अर्थात्—शैत्य, रस, गीलापन, द्रवत्व, स्नेह, सौम्यता, जिह्वा,

विस्यन्दन[1] तथा भूमिगत आपों का गुण उबालना भी है।

हिमसर्जन रश्मियाँ—आगे आदित्य के प्रकरण में लिखा जाएगा कि आदित्य की कुछ रश्मियाँ हिम-सर्जना हैं। ये ३०० रश्मियाँ अन्तरिक्ष के आपः के योग से ऐसा करती हैं। शैत्य आपः का गुण है। इस पृथिवी मण्डल में शैत्य का कारण यही हैं। ठण्डी तरंगों (cold waves) के रूप में इन का कभी-कभी प्रादुर्भाव होता है।

चतुष्टय्य आपः—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।८।२ के अनुसार आपः चतुष्टय्य थे। भट्ट भास्कर इस का अर्थ करता है—**चत्वारोऽवयवा यासां ताः चतुष्टय्यः**। ये चार अवयव कौन से थे, यह हम अभी नहीं जान सके। त्रय्य आपः, श० ६।१।२।२२॥

अपां नपात्—अपां-नपात् का अर्थ है, **आपों का पुत्र**। यह अग्नि है। पर यह भूत अग्नि नहीं। भूताग्नि का जन्म पहले हो चुका था। यह उस से पृथक् आपों का पुत्ररूप वैद्युत अग्नि है। ऋग्वेद में कहा है—

अपां नपात् परितस्थुरापः ।२।३५।३॥

अर्थात्—अपां नपात् (अग्नि) को चारों ओर से घेरते थे आपः।

भुवन-उत्पादक—इस अपां-नपात् से सम्पूर्ण भुवन उत्पन्न हुए। ऋग्वेद का मन्त्र है—

अपां नपाद् असुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान् २।३५।२॥

अर्थात्—आपों के पुत्र ने असुर्य की महत्ता से सम्पूर्ण प्रजा-रूपी भुवनों को उत्पन्न किया,

ऋग्वेद २।३५।४ के अनुसार यह अपां नपात् अनिध्मः था।[2] यह विना ज्वलन सामग्री था। निरुक्त ३।१६ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

---

१. **तस्माद् आपः परिगृहीता स्यन्दन्ते। जै० ब्रा०३।६२॥**

२. **तथा—यो अनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः।ऋ०१०।३०।४॥**

सः अपां नपात् मध्यस्थानो वैद्युतो ऽग्निः। आदित्यस्य पुत्रो ऽपां नप्ता।

प्रश्न होता है, जब अन्तरिक्ष आपः से व्याप्त है, और आपः में वैद्युत अग्नि उत्पन्न होता है, तो क्या उस विद्युत् अथवा अशनि में कभी कड़क भी होती है वा नहीं।

अन्तरिक्ष दुन्दुभिः—इसका संकेत भूमि-दुन्दुभिः और अन्तरिक्ष-दुन्दुभिः का भेद बताते हुए जैमिनि के प्रवचन में है—

अन्तरिक्षे दुन्दुभयो वितता वदन्ति।...अधिकुंभाः पर्यायन्ति।
२।४०४॥

अर्थात्—अन्तरिक्ष में दुन्दुभियाँ विस्तृत, व्याप्त बोलती हैं।

यही अन्तरिक्ष में परमा वाक् है।[1]

सौर घोष (solar noise) तथा galactic noise—मक्रिय लिखता है—

Actually it was the noise associated with the passage of spots across the solar disk which was first shown by J. S. Hey in 1942 to have definitely a solar origin, and the discovery of solar noise under other conditions followed later. (Physics of the Sun and Stars, p. 83)

अर्थात्—सन् १६४२ में हे ने सूर्य से उठने वाले घोष का पता दिया।

तथा पुनः—

Observation shows that the galactic system produces radio emission, called *galactic noise*, in the same wavelengths as those of solar noise. Apparently some noise comes from most parts of the Galaxy, but several regions have been shown to give specially intense radiation. There have been

---

१. श० ब्रा० ५।१।५।६॥

found, moreover, what appear to be point sources of noise and these cannot be identified with any visible features of the galactic system, (ibid, p. 83)

अर्थात्—सौर घोष की समता का घोष गैलैक्सियों से भी आता प्रतीत होता है। इसकी तरङ्गीय मात्रा सौर घोष के समान ही होती है। अभी इस विषय में पूरा अनुसन्धान नहीं हुआ।

अन्तरिक्ष में सूक्ष्म अथवा भूत-वायु—अन्तरिक्ष दुन्दुभियों के साथ इन घोषों का क्या सम्बन्ध है, यह ध्यान और परीक्षण करने योग्य है। यह सत्य है कि वायु के बिना शब्द की गति नहीं होती। अतः यदि अन्तरिक्ष अथवा आदित्य आदि से घोष का प्रभाव पृथिवी पर अनुभव हो सकता है, तो अवश्य ही यह घोष वायु द्वारा यहाँ तक पहुँचता है।

अन्तरिक्ष में विद्युत्-जाल—इस अपां नपात् से अन्तरिक्ष में व्याप्त आपः अणु सब वैद्युत-अणु, (*electrified particles*) हो गए।

ऋग्वेद ७।४८ सूक्त आपः सूक्त है। उसमें आपः को **याः शुचयः पावकाः** कहा है। इससे स्पष्ट है कि आपः पावकरूप थे।

सूर्य की अग्नि शुचिः अग्नि है। सूर्य में वैश्वानर अग्नि भी है। इस शुचि अग्नि से आपः शुचयः हुए। इन्हीं आपः में वैश्वानर अग्नि भी प्रविष्ट हुआ—

वैश्वानरः यासु अग्निः प्रविष्टः। ऋ० ७।४६।४॥

मैकडानल ने **शुचयः पावकाः** का अर्थ clear and purifying किया है।[1] आधिदैविक अथवा आधिभौतिक पक्ष में यह अर्थ सर्वथा अयुक्त है।

आपः के कणों में पावकाः और शुचयः का भेद जानना आवश्यक है।

पावक अग्नि—अन्तरिक्ष का अग्नि पावक कहाता है। इसी लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।६ में लिखा है—**आपो वा अग्निः पावकः।**

---

१. **वैदिक रीडर, पृ० ११७।**

पञ्चमाध्याय

अग्निः

अग्निः = तेज—गत अध्याय में आपः के साथ वेद-मन्त्रों द्वारा अग्नि का भी निरूपण किया गया है। अग्नि की सर्व पूर्वावस्था अथवा भूतावस्था के लिए प्राचीन वाङ्मय में तेजः और ज्योतिः शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। महाभारत, शान्तिपर्व ३०७।२० में तेजः शब्द प्रयुक्त हुआ है।

सृष्टि की प्रलयावस्था में अग्निः का ज्योतिर्मय रूप हो रहा था—

ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले। शान्तिपर्व ३५७।१४॥

अर्थात्—जल का प्रत्येक कण ज्योतिरूप हो गया। तब ये ज्योतिर्भूत [विद्युत्-युक्त] आपः वायु में लीन हो गए।

अग्नि का त्रेधा[1] जन्म

वेद में अत्यन्त स्पष्ट रूप से अग्नि का तीन बार का जन्म वर्णित है। इसको यथार्थ समझे विना वेद और ब्राह्मण का वैज्ञानिक अर्थ तिरोहित रहता है।

ऋग्वेद में वत्सप्रिः ऋषि की ऋचा है—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥ १०।४५।१॥

मैकडानल का अर्थ—From heaven first Agni was born,

---

१. तुल० ऋ० १०।८८।१०॥ निरुक्त ७।२८॥

the second time from us (=men), thirdly in the waters. (Vedic Mythology, p. 93)

मैकडानल की भूल—इस मन्त्र में दिवः शब्द एक विशेष संज्ञा है। यही ऋचा यजुर्वेद १२।१८[1] में पढ़ी गई है। इसका अति सुन्दर और वैज्ञानिक व्याख्यान ब्रह्मिष्ठ वाजसनेय याज्ञवल्क्य के शिष्य माध्यन्दिन ने अपने 'शतपथ ब्राह्मण' में किया है। यथा—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे ऽग्निः इति। प्राणो वै दिवः। प्राणादु वा एष प्रथममजायत। अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदा इति। यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधो ऽजनयत्। तृतीयम् अप्स्विति। यदेनमदस् तृतीयम् अद्भ्यो ऽजनयत्। ६।७।४।३॥

प्रथम जन्म—अतः अग्निः का प्रथम जन्म प्राण अथवा वायु से हुआ। यह अग्नि भूतों में तीसरा है।

द्वितीय जन्म—दूसरा जन्म जब गर्भ अथवा अण्ड हिरण्यगर्भ बना, तब हुआ। वह हिरण्यगर्भ पुरुष अथवा पुरुषविध था।

जातवेद अग्नि—जातवेद मध्यमस्थानी अग्नि है। ऐग्लिङ्ग ने इस का the knower of beings अर्थ करके अर्थ अस्पष्ट कर दिया है।

तृतीय जन्म—तीसरा जन्म अपों में हुआ। इस तीसरे जन्म का कथन अन्यत्र भी है। आपो वा अग्नेर्योनिः। मै० सं० ३।२।३॥ अर्थात्—आपः अग्निः का कारण हैं।

त्रिवृद् अग्निः

स एताः तिस्रः तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त। यदस्य पवमानं रूपमासीत् तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्त। अथ यत् पावकं तदन्तरिक्षे। अथ यत् शुचि-तद्दिवि। तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे। श० २।२।१।१४॥

He then laid down in these (three) worlds those three bodies of his. That blowing (पवमान) form of his he laid

---

१. तै सं० १।३।१४॥

down on this earth, that purifying (पावक) one in the ether and that bright (शुचि) one in the sky.[1]

अर्थात्—उसने ये तीन तनू इन लोकों में रखे।

संज्ञाएँ—पवमान, पावक और शुचि शब्द सार्थक होते हुए भी संज्ञावाची हैं। ये संज्ञाएँ ही वैदिक विज्ञान को खोलती हैं।[2]

मन्त्रों में यही विभाग—अग्नि के जो तीन विभाग मै० सं० में दिखाए गए हैं, वही मन्त्रों में भी दृष्टि में पड़ते हैं—

(क) अग्निः ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः। ऋ० ६।६६।२०॥

(ख) अग्ने पावक रोचिषा। ऋ० ५।२६।१॥

(ग) अग्निः शुचिव्रततमः। ऋ० ८।४४।२१॥

अग्न्युपस्थानम्—मैत्रा० सं० में अग्नि सम्बन्धी मन्त्रों का एक अपूर्व संग्रह किया गया है। उस में पूर्वलिखित तीनों प्रकार के अग्नि के मन्त्र हैं।

शुचि रूप

यत् (अग्नेः) शचि (रूपम्)[3] तद्दिवि (न्यधत्त)। श० २।२।१। १४॥ वीर्यं वै शचि। यद्वा अस्य (अग्नेः) एतदुज्ज्वलति एतदस्य वीर्यं शचि। श० २।२।१।८॥

असौ वा आदित्यो अग्निः शुचिः। तै० ब्रा० १।१।६।८॥

ब्राह्मणस्थ त्रिवृदग्नि पाठ की व्याख्या पुराण में—शतपथ ब्राह्मण के त्रिवृदग्नि-विषयक पाठ की प्रतिध्वनि वायु पुराण ५३।५ से आरम्भ होती है। यह वर्णन पूर्ण वैज्ञानिक है। ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग २४।६ से भी यही वर्णन आरम्भ होता है। मत्स्य पुराण १२८।५-६ में भी थोड़ा सा ऐसा पाठ है। तीनों पुराणों का पाठ पर्याप्त विकृत

१. ऐग्लिंग का अनुवाद।

२. अग्नि का रूप विस्तार वायु पुराण अध्याय २९ में है।

३. तुलना करो—अग्नेः शुचं शमयति, मै० सं० ३।३।६॥

और त्रुटित हो गया है। हम ने तीनों पाठों को कुछ मिलाकर शोधित पाठ नीचे दिया है। उपयोगी पाठान्तर भी टिप्पण में लिख दिए हैं—

अतः परं त्रिविधस्याग्नेः वक्ष्येऽहं समुद्भवम्।
दिव्यस्य भौतिकस्याग्नेर् अब्योनेः[1] पार्थिवस्य च ॥६॥
व्युष्टायां तु रजन्यां वै ब्रह्मणो ऽव्यक्तजन्मनः।[2]
अव्याकृतमिदं त्वासीन्नैशेन तमसावृतम् ॥७॥
सर्वभूतावशिष्टे[3] ऽस्मिन्[8] लोके[4] नष्टविशेषणे।
स्वयंभूर्भगवांस्तत्र लोकतन्त्रार्थसाधकः[5] ॥८॥
खद्योतवत्स व्यचरदाविर्भावचिकीर्षया।
सोऽग्निं दृष्ट्वाथ लोकादौ पृथिवीजलसंश्रितम् ॥९॥[6]
संवृत्य तं प्रकाशार्थं त्रिधा व्यभजदीश्वरः।
पवमानस्तु[7] लोके ऽस्मिन्[8] पार्थिवः सोऽग्निरुच्यते ॥१०॥
यश्चासौ[9] तपते सूर्ये शुचिरग्निस्तु स स्मृतः।
वैद्युतो ऽब्जस्तु विज्ञेयस्तेषां वक्ष्येथ लक्षणम् ॥११॥[10]

---

१. वा०—अप्यग्नेः।
२. म०—अग्नेर्व्युष्टौ रजन्यां वै ब्रह्मणाऽव्यक्तयोनिना।
३. म०, वा०—चतुर्भूता०।
४. म०—ब्रह्मणा समधिष्ठिते।
५. म०—लोकतत्त्वार्थ०।
६. म०—खद्योतरूपी विचरन्नाविर्भावं व्यचिन्तयत्।
ज्ञात्वाग्निं कल्पकालादावपः पृथिवीं च संश्रिताः।
७. ब्र०—पवनो यस्तु। म०—पाचको यस्तु।
८. वा०—सारा पाठ त्रुटित। श्लोक ८ के अस्मिन् के पश्चात् से १० के अस्मिन् के अन्त तक। भूल का कारण स्पष्ट है।
९. वा०—यश्चादौ।
१०. वा०—अर्द्ध श्लोक त्रुटित।

वैद्युतो जाठरः सौरो ह्यपांगर्भास्त्रयो ऽग्नयः।
तस्मादपः पिबन् सूर्यो गोभिर्दीप्यत्यसौ दिवि ॥१२॥
वैद्यतेन समाविष्टो वार्ष्यो[1] नाद्भिः प्रशाम्यति।
मानवानां च कुक्षिस्थो नाद्भिः शाम्यति पावकः।
तस्मात्सौरो वैद्युतश्च जाठरश्चाप्यबिंधनः ॥१३॥[2]

अर्थात्—अग्नि त्रिविध है। पवमान, इस पृथिवी लोक में, पावक अथवा वैद्युत् (=वार्ष्य) जो अन्तरिक्ष और जठर में है और तीसरा सौर अथवा शुचिः अग्निः। वैद्युत, जाठर और सौर अग्नियां अपांगर्भा हैं। वे आपः से उत्पन्न होती हैं।

दिव्य अग्निः भूताग्नि है।

सौर अग्निः कैसे आपः से उत्पन्न होता है, इसका वर्णन आदित्य प्रकरण में होगा।

कौर्म पुराण का स्पष्टीकरण—विष्णु पुराण १।१०।१६ की टीका में श्रीधर स्वामी लिखता है—

तथा च कौर्मे—
निर्मथ्यः पवमानः स्याद् वैद्युतः पावकः स्मृतः।
यश्चासौ तपते सूर्ये शुचिरग्निरसौ स्मृतः ॥[3]

पैंतालीस भेद—विष्णु पुराण १ । १० । १४ —में इन तीनों में से प्रत्येक अग्निः के पन्द्रह भेद कहे हैं। और शुचिः अग्निः जलाशी है।

तीन अग्नियों की अन्य संज्ञाएँ—जैमिनी ब्राह्मण २।४१ के अनुसार पूर्व अग्नियों की, भूपतिः, भुवनपतिः और भूतानां पतिः संज्ञाएँ भी थीं।

पाँच रूप—मै० सं० पृ० ४० के अनुसार अग्निः के तपः, शोचिः,

---

१. वा०—वार्क्षो।

२. वा०—नास्ति।

३. तुलना—वायु २९।३॥

अर्चिः, हरः[1] और तेजः रूप हैं। निरुक्त ४।१६ में यास्क के अनुसार ज्योतिः हरः उच्यते, है।

शुक्ल—शतपथ ब्राह्मण १।६।३।३१ में स्पष्ट कहा है—

यत् शुक्लं तदाग्नेयं यत् कृष्णं तत् सौम्यम्।

अर्थात्—जो शुक्ल रूप है, वह अग्नि के कारण है।

भास्कर का उल्लेख करते हुए वायुपुराण ५०।११० में कहा है—

शुक्लच्छायो ऽग्निरापश्च कृष्णच्छाया च मेदिनी।

यहाँ अग्निः और आपः शुक्लछाया वाले कहे गए हैं। छाया का अभिप्राय मूर्छा अथवा reflection प्रतीत होता है।

अर्चिः का अर्थ—वैश्वानर अग्निः के पूर्व रूप का वर्णन करते हुए जैमिनि ब्राह्मण ३।१६५ में लिखा है—

अथ ह वा अग्निर्वैश्वानर इत्थमेवास यथेमे ऽङ्गाराः। सो ऽकामयत श्रेष्ठयो मे जायेरन्न् अर्चय इति।....एते ह वा अस्य श्रेष्ठयो यदर्चयः।

इससे ज्ञात होता है कि अर्चिः का अर्थ लाट, ज्वाला (=flame) है।

अग्नि के गुण—महाभारत, शान्तिपर्व में अग्नि के निम्नलिखित दस गुण गिनाए हैं—

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शौचं रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वगामिता।।

अर्थात्—१. दुर्धर्षता, २. ज्योतिः, ३. तापः, ४. पाकः, ५. प्रकाशनम्, ६. शौच, ७. राग, ८. लघु, ९. तैक्ष्ण्य, १०. ऊर्ध्वगमन।

राग—स्पष्ट है कि सारे रंग वर्ण अग्निः की माया हैं। स्फटिक (prism) में इन्हीं का दर्शन होता है। वायु पुराण अध्याय ६६ में लिखा है—**मणिर्विभजते वर्णान् विचित्रान् स्फटिके यथा।।६६।।**

---

१. **ताण्ड्य ब्रा० १४।९।३४ के अंग्रेजी अनुवाद में** Caland **इसका अर्थ** energy **करता है। यास्क के अनुसार ज्योति अथवा प्रकाश हरः है।**

अर्थात्—यथा स्फटिकमणि [एक वर्ण को] विचित्र वर्णों में विभाग कर देता है।

रंगों का मूल शुक्ल है, और वह अग्नि-प्रदत्त है।

दीप्ति-रहित अग्निः—उत्पन्न होने के समय अग्नि में दीप्ति न थी। ताण्ड्य ब्राह्मण में लिखा है—

(क) अग्निः सृष्टो नोददीप्यत। तं प्रजापतिरेतेन साम्नोपाधमत्। स उददीप्यत। १३।३।२२॥

अर्थात्—अग्निः उत्पन्न हुआ नहीं चमका। उसे प्रजापति ने इस साम से फूका [अथवा पंखा झेला।] वह चमक उठा।

साम से तरंगें उठीं [=vibrations अथवा waves], ये कौन-सी तरंगें हैं, जो पंखा झेलने का काम करती हैं।

ऐसा भाव अन्यत्र भी है।

(ख) अग्निर्वै जातो न व्यरोचत। सो ऽकामयत। तेजस्वी स्यामिति। सो ऽग्नये तेजस्विने ऽजं कृष्णग्रीवम् आलभत। ततो वै स तेजस्वी अभवत्। काठक सं० १३।३॥
मै० सं० २।५।११॥

अर्थात्—अग्निः उत्पन्न हुआ न चमका। उसने कामना की। तेजस्वी होऊँ। उसने अग्नि के लिए, तेजस्वी के लिए अज को [जो] कृष्ण ग्रीव [था,] छुआ। तब वह तेजस्वी हुआ।

कृष्ण ग्रीव अज क्या था, जिसके स्पर्श से अग्नि तेजस्वी हुआ। यह भविष्य की खोज का विषय है।

(ग) नो ह वा इदमग्रे ऽग्नौ वर्च आस। यदिदमस्मिन्वर्चः। सो ऽकामयत। इदं मयि वर्चः स्यादिति।······ततो ऽस्मिन्नेतद् वर्च आस। शतपथ ४।५।४।३॥

अर्थात्—पहले अग्नि में वर्च नहीं था।

छन्द—अग्निः का प्रियतनू छन्द (waves) हैं। तै० सं० ५।२।१॥

षष्ठ अध्याय

भूत-अस्तित्व

सन्देह कर्ता—जिस प्रकार संख्या का ज्ञान हुए विना गणित विद्या की कोई बात बुद्धिगम्य नहीं होती, उसी प्रकार भूतास्तित्व को माने विना सर्गविद्या समझ में नहीं आ सकती। भूतों का अस्तित्व भारतीय, बाबली, मिश्री और यूनानी सब लोग मानते थे। पर जब से योरोप में कैमिस्ट्री अर्थात् रसायन विद्या का थोड़ा सा प्रकाश होने लगा, तब से भूत का अर्थ element कर के पुराने संसार द्वारा स्वीकृत भूतों के अस्तित्व में उपहास किया जाने लगा।

कैमिस्ट्री में बताया गया कि लोहा, सोना, पारद, हाईड्रोजन आदि elements हैं। पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश, इन ऐलिमैण्ट्स का विकार हैं। अतः ये मूलतत्त्व नहीं हैं।

वर्तमान विज्ञान का निर्णय—वर्तमान भौतिकी (physics) ने कहा कि लोहा, सोना आदि भी तत्त्व नहीं हैं। इन में एटम (atom) और एटमों में ईलैक्ट्रान (electrons) ही मूल हैं। लोहे का एक पूर्ण एटम अपने में २६ ईलैक्ट्रान रखता है। इसी प्रकार सोना और हाईड्रोजन आदि के एक-एक एटम में ईलैक्ट्रानों की संख्या भिन्न-भिन्न है।

इस से सिद्ध हुआ कि लोहा सोना, पारद आदि का कोई स्वतन्त्र रूप नहीं हैं। स्वतन्त्र रूप तो ईलैकट्रानों का है।

चरक-संहिता का प्रकाश—प्रकृति भूत वायु के कर्मों का कथन करते हुए आयुर्वेद की चरक-संहिता में लिखा है—

विभागो धातूनाम्[1]

अर्थात्—लोहा, सोना, चाँदी पारद आदि धातुओं की विभिन्नता का कारण प्रकृति-भूत वायु है। लोहा, सोना, चाँदी सब पार्थिव-विकार हैं। जिस प्रकार पार्थिव अंश गन्ध के अनेक भेद हैं, उसी प्रकार इन पार्थिव लोहा आदि के भी विभाग (classes) हैं। ये विभाग वायु के कारण हुए। ये लोहा आदि तत्त्व (element) नहीं हैं।

वर्तमान विज्ञान के तत्त्व—यदि वृथा विस्तार न किया जाए, तो कहना पड़ेगा कि लोहा आदि भी तत्त्व नहीं हैं। तत्त्व तो ऐटम, ईलैक-ट्रान आदि हैं।

ऐटम क्या हैं—वस्तुतः ऐटम आदि अप, वायु और तेज आदि का मूल रूप हैं। कैसा रूप, यह हम अभी नहीं कह सकते। इस के लिए परीक्षण आवश्यक हैं। प्रशस्तपाद के पदार्थ धर्म संग्रह के गुण-ग्रन्थ प्रकरण में अणु और परमाणु का कुछ विवेचन है। पर उस के लिए भी परीक्षण आवश्यक है।

अग्निं वै वरुणानीरभ्यकामयन्त। तास्समभवत्। आपो वरुणानीर्यदग्ने रेतो ऽसिच्यत तद् हरितमभवत्। यदपां तद् रजतम्। काठक सं० ८।५॥

अग्निर्वै वरुणानीरभ्यकामयत। तस्य तेजः परापतत्। तद् हिरण्यमभवत्। काठक सं० ८।५॥

यहाँ अग्नि और आपः के मेल से हिरण्य और रजत की उत्पत्ति कही है। वस्तुतः वायु, अग्नि और आपः के परमाणुओं के मेल से सब धातुओं का पार्थक्य हो गया है।

अन्तरिक्षस्थ लोह, रजत और हिरण्य का भेद शतपथ १३।२।१०।३ से ज्ञात होता है—

तीन सूचियाँ हैं। लोहमय्य, रजत और हिरण्य। दिशाएं लोहमय्य। अवान्तर दिशाएं रजत। ऊर्ध्व हिरण्य। इति।

१. तुलना करो शान्तिपर्व २१४।१६॥

संभव है आपः आदि परमाणुओं के वर्ण लोहवत्, रजतवत् और हिरण्यवत् हों।

वायु में गुरुत्व—अरस्तु और उस के पूर्वज भारतीय ऋषि वायु में गुरुत्व नहीं मानते थे। इस पर भौतिकी वालों ने एक यन्त्र में से वायु का निष्कासन करके अवकाश (vaccum) उत्पन्न करने का मार्ग निकाला। तब उस यन्त्र का भार न्यून हो गया। इस से परिणाम निकाला गया कि वायु में भार है।

यद्यपि कहीं भी पूर्ण अवकाश असम्भव है, तो भी भौतिकी वालों ने यह नहीं सोचा कि वायु-निष्कासन समय जो रज आदि के रेणु बाहर निकलते हैं, यह उन्हीं का भार था, मूल वायु का नहीं। उन्होंने नूतन-विज्ञान की उत्कृष्टता की घोषणा करने के उत्साह में तथ्य को दृष्टि से ओझल कर दिया। यह काम पक्षपात का था।

भूत-तत्वों का अस्तित्व—भूतों को माने विना विज्ञान का और सर्ग-विद्या का काम चल ही नहीं सकता। इसलिए महान् वैज्ञानक ने कहा—

प्रत्याख्याय तु भूतानि कार्योत्पित्तिर्न विद्यते। १८६।[1]
तन्तूनामिव सन्तारो भूतेष्वन्तर्गतो मतः।

अर्थात्—तन्तुओं में जैसे संतार [ताना-बाना] होता है। वैसा ही भूतों के अन्तर्गत माना गया है। न मानकर भूतों को, सर्ग-विद्या बन ही नहीं सकती।

यह सत्य है और इस पर अधिक अन्वेषण अपेक्षित है, पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि पृथिवी, अप, तेज आदि जो तत्त्व हैं, वे ये दृश्यमान पृथिवी, जल आदि नहीं हैं। इन तत्त्वों के ज्ञाता ही **तत्त्ववेत्ता, तत्त्वचिन्तक** और भूतचिन्तक कहाते थे।

---

१. ब्रह्माण्ड पु० पूर्वभाग, अ० १६।१८६॥

सप्तम् अध्याय

गर्भ = अण्ड

उत्पत्ति—आपः और अपां नपात् के प्रभाव से एक महान् गर्भ उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद के अपांनपात् सूक्त २।३५ में इस का वर्णन है—

स ईं वृषाजनयत् तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति।
सो अपां नपादनभिम्लातवर्णो ऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष ॥१३॥

अर्थात्—उस वृषा [बलशाली, वर्षणशील] ने उन (आपः) में गर्भ को उत्पन्न किया। वह शिशुरूपी [उन आपः को] चुँघता है। [वे आपः] उस को चाटती हैं। वह आपां नपात्, न म्लान वर्ण वाला मानो दूसरे के शरीर द्वारा प्रविष्ट हुआ।

गर्भ-निर्माण में अग्नि और वात—अपां नपात् के अतिरिक्त इस गर्भ के सृजन में अग्नि और वात का भी भाग था। ऋग्वेद मण्डल दशम के पैंतालीसवें आग्नेय सूक्त में अग्नि को **विश्वस्य केतुः भुवनस्य गर्भः** ।६। अर्थात् भुवन का गर्भ लिखा है। तथा इसी मण्डल के १६८ वें वात सूक्त में वात को **आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः** ।४। अर्थात् देवों का आत्मा और भुवन का गर्भ लिखा है। निस्सन्देह गर्भ-सृजन में अग्नि और वात का साहाय्य था,

वायु पुराण अध्याय ४ में लिखा है—

पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ॥ ७४ ॥

एक कालं समुत्पन्नं जलबुद्बुद्वच्च तत् ।
विशेषेभ्यो ऽण्डमभवद् बृहत्तदुदकं च यत् ॥ ७५ ॥

अर्थात्—पुरुष के अधिष्ठान के कारण और अव्यक्त = प्रकृति की कृपा से 'महत्' से 'विशेष' पर्यन्त पदार्थ अण्ड को उत्पन्न करते हैं। जल के बुलबुले के समान अण्ड सहसा उत्पन्न हुआ [इसमें विशेष समय नहीं लगा] ।

वेद में गर्भ—वेदों में इस गर्भ = अण्ड की उत्पत्ति का वर्णन अन्य अनेक मन्त्रों में भी उपलब्ध होता है। उनमें से कतिपय मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥[1]
ऋ० १० । ८२ । ६ ॥

अर्थात्—उस गर्भ अथवा अण्ड को पहले धारण किया आपों ने, जहाँ देव एकत्रित हुए सब । अज अर्थात् सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था की नाभि [= मध्य] में । वह एक था जिसमें सम्पूर्ण भुवन ठहरे थे ।

इस मन्त्र में **अजस्य नाभौ** पद अति गम्भीर विचार-योग्य हैं ।

वायुपुराण ५ । ४० में हिरण्यगर्भ को अज कहा है ।

एक दूसरी ऋचा भी इसी अर्थ को प्रकट करती है—

२. आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ऋ० १० । १२१ । ७ ॥

अर्थात्—आपः निश्चय से जो महान् [थीं], विश्व में व्यापक थीं । गर्भ (अथवा अण्ड) को धारण करते हुए [और] उत्पन्न करते हुए अग्नि को ।

आपः के व्यापकत्व ने सम्पूर्ण आकाश को भर दिया और इन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया ।

---

१. तु०, तै० सं० ४ । ६ । २ ॥

यजुर्वेद ८ । २६ में कहा है—

३. देवीराप एष वो गर्भस्तं सुप्रीतं सुभृतं बिभृत ।

अर्थात्—हे दिव्य आपो ! यह तुम्हारा (तुम से उत्पन्न हुआ) गर्भ है, इसे अच्छे प्रकार प्रीति पूर्वक और अच्छे प्रकार पोषित करते हुए धारण करो ।

पुनः यजुर्वेद ११ । ४६ में एक मन्त्र पठित है—

४. वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ।

अर्थात्—वृषा (=सेक्ता=प्रजापति) ने गर्भोत्पादक अग्नि का आहरण करते हुए अपों के समुद्र-सम्बन्धी गर्भ को···· ।

स्पष्ट है, गर्भ की उत्पत्ति में अग्नि का साहाय्य था ।

यजुर्वेद २३ । ६३ में इस गर्भ का और भी अधिक स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है । वहाँ कहा है—

५. सुभूः स्वयंभूः प्रथमो ऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥

अर्थात्—श्रेष्ठ सत्ता तथा स्वयम्भू [पुरुष] ने पहले महान् अर्णव में धारण किया निश्चय से समय-प्राप्त गर्भ को, जिस गर्भ से उत्पन्न हुआ प्रजापति ।

यही गर्भ कुछ काल पश्चात् प्रजापति बना ।

तैत्तिरीय संहिता ५ । ६ । १ में कहा है—

६. हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः ।
अग्निं या गर्भं दधिरे विश्वरूपा ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥

अर्थात्—सुवर्ण के समान वर्णवाली शुचि और पावक आपः, जिनमें कश्यप प्रकट हुआ [तथा] जिनमें इन्द्र । अग्नि को जिन्होंने गर्भ में धारण किया, वे विश्वरूप आपः हमारे लिए कल्याणकारी और सुखकारी हों ।

आपः हिरण्यवर्णा थीं, अर्थात् उनमें अग्नि का विद्युद्-रूप था । उनके दो भेद हुए शुचि और पावक । शुचि रूप के आपः आदित्य

तक जाते हैं और पावक अन्तरिक्ष में रहते हैं।

इन्द्र-जन्म—वैदिक इन्द्र का जन्म इन्हीं हिरण्यवर्णा 'शुचयः' और 'पावकाः' आपः में हुआ।

वैशेषिक-सूत्र—वैशेषिक ५। २। ९ में दिव्य आपः में दिव्य अग्नि के अनुप्रवेश का स्पष्ट निर्देश किया है। सूत्र है—

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम्।

अर्थात्—दिव्य आपः में दिव्य अग्नि के अनुप्रवेश का लिङ्ग विस्फूर्जथु=वज्रनिर्घोष=विद्युत् की कड़क है।

मेघों में इसी दिव्य अग्नि के कारण मेघ से उत्पन्न होने वाले करकों=ओलों में करक के आरम्भ करने वाले अपों में द्रवत्व का प्रतिबन्ध (=रुकावट) अथवा काठिन्य वा ठोसपन होता है।

अपों में दिव्य अग्नि का अनुप्रवेश है इसकी पुष्टि में सूत्रकार कहते हैं—

वैदिकं च ॥ ५। २। १० ॥

अर्थात्—अपों में दिव्य तेज का अनुप्रवेश होता है इसमें वैदिक आगम भी प्रमाण है।

वैशेषिक के व्याख्याता शंकर मिश्र ने इस सूत्र की व्याख्या में निम्न वैदिक वचन उद्धृत किए हैं।

(क) आपस्ता अग्निं गर्भमादधीरन्।

(ख) या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णम्। इति।

अर्थात्—(क) उन आपों ने अग्नि को गर्भ में धारण किया। (ख) जिन आपों ने सुवर्ण सदृश वर्ण वाली अग्नि को गर्भ में धारण किया।

दिव्य आपः—दिव्य आपः क्या होते हैं, इसके लिए शान्तिपर्व का निम्नलिखित श्लोकांश देखना चाहिए—

यस्मिन् पारिप्लवाः दिव्याः भवन्ति आपो विहायसा।
पुण्यं चाकशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ३३६। ६९ ॥

अर्थात्—[अन्तरिक्ष में वायु के षष्ठ परिवह नामक मार्ग में] आपः पारिप्लव और दिव्य हो जाते हैं।

दिव्य अर्थात् भूत दशा अथवा इलैक्ट्रान अवस्था में चले जाते हैं। इस परिवर्तन के कारण की क्रिया जानी जा सकेगी।

ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग अ० २२ में इसी विषय का दूसरा पाठ है—

षष्ठः परिवहो नाम तेषां वायुरपाश्रयः।
यो ऽसौ बिभर्ति भगवान् गङ्गामाकाशगोचराम् ॥ ५० ॥
दिव्यामृतजलां पुण्यां त्रिधा स्वातिपथे स्थिताम्।

अर्थात्—षष्ठ वायुमार्ग आकाशगङ्गा[1] वाला है। उसमें दिव्य और अमृतजल हैं।

दिव्य आपः का विषय गम्भीर गवेषणा योग्य है। पारिप्लव शब्द स्पष्ट बताता है कि दिव्य आपः चक्र काटने लगते हैं। स्मरण रहे कि इलैक्ट्रान भी अपने केन्द्र (nucleus) के चारों ओर चक्र काटते हैं।

मेरा विश्वास हो रहा है कि इलैक्ट्रान और प्रोटोन आदि दिव्य आपः और दिव्य अग्निः के परमाणु हैं।

पूर्वनिर्दिष्ट वेद-मन्त्रों में वर्णित इस आश्चर्यजनक वैज्ञानिक सत्य को वायु पुराण (अ० ४) भी कहता है—

अन्तस्तस्मिंस्त्विमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत् ॥ ८२ ॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ सग्रहौ सह वायुना।
लोकालोकं च यत्किञ्चिदण्डे तस्मिन् समर्पितम् ॥ ८३ ॥
अद्भिर्दशगुणाभिस्तु बाह्यतो ऽण्डं समावृतम् ॥ ८४ ॥

अर्थात्—अन्दर उसके ये लोक, अन्दर सम्पूर्ण जगत्। चन्द्र आदित्य, नक्षत्र, ग्रह साथ वायु के (उसमें थे)। प्रकाश और अन्धकार से युक्त जो कुछ था, उस अण्ड में था। आपों से जो दश गुणा

---

१. आकाश गङ्गा का वर्णन विष्णु पुराण २ । ८ । १३ । १२ में देखने योग्य है।

थे, बाहर से अण्ड आवृत था।

पूर्व उद्धृत वेद-मन्त्रों का यह सुन्दर भाष्य है।

हिरण्यगर्भ = तेजोमय महद् अण्ड

इस क्रमिक परिणाम के पश्चात् अथवा महाभूतों द्वारा अण्ड-सृजन के अनन्तर तथा **आपों** के प्रधान होने पर वह गर्भ हिरण्यगर्भ हुआ।

पूर्व प्रदर्शित विषय का कुछ विस्तार करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त। कथं नु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यन्। तास्तपो ऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव। तदिदं···यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। ११। १। ६। १, २॥

अर्थात्—**आपः** निश्चय ही आरम्भ में सलिलावस्था[1] [एकार्ण-वीभूतावस्था] में ही थीं। उनमें [स्वयम्भू ब्रह्म द्वारा] कामना हुई। कैसे हम प्रजारूप में फैलें। उन्होंने श्रम किया। उन्होंने तप तपा। उन तपती हुई [आपों] में **हिरण्याण्ड** उत्पन्न हुआ। वह हिरण्याण्ड जब तक [एक दैव] वर्ष का काल, तब तक परि-प्लव (= चक्र में तैरना) करता रहा। तब संवत्सर बीत जाने पर पुरुष[2] प्रकट हुआ।

हिरण्यगर्भ का पर्यप्लवन—शतपथ के पूर्व उद्धृत वचन में हिरण्यगर्भ की पर्यप्लवन-रूपी गति का स्पष्ट निर्देश किया है।

हिरण्याण्ड संवत्सर पर्यन्त पर्यप्लवन करता रहा, यह काल गणना किन नियमों पर आश्रित है, यह ज्ञातव्य है।

प्रजापति का प्रसर्पण—ताण्ड्य ब्राह्मण १६। ११ में लिखा है—

१. प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। नाहरासीन्न रात्रिरासीत्। सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्।

---

१. जिसमें सब लीन था।

२. पुरुषसूक्त इसी पुरुष का प्रधानतया वर्णन करता है।

अर्थात्—प्रजापति=पुरुष एक ही था, न दिन था, न रात्रि थी। वह अन्धे [करने वाले] अन्धेरे में[1] प्रासर्पण (=आगे आगे सरकना) करता था।

२. जैमिनि ब्राह्मण ३। ३६० में भी लिखा है—

आपो वा इदमग्रे महत् सलिलमासीद्, एतास्ता आपः। त ऊर्मयः समास्यन्त फा३ल् फा३लिति। तद्धिरण्मयमाण्डं समैषत्।

अर्थात्—[जो यह कहा है—] आपः ही पहले महान् सलिल [रूप] थीं, ये ही वे आपः हैं। उन उर्मियों ने फाल् फाल् शब्द को प्राप्त किया। [और उन आपों में उत्पन्न] उस हिरण्मय अण्ड ने गति की।

हिरण्यगर्भ अण्ड की तीन गतियाँ—ऊपर हमने शतपथ, ताण्ड्य तथा जैमिनीय ब्राह्मण के जो वचन उद्धृत किए हैं उनमें हिरण्यगर्भ की तीन गतियों का उल्लेख है—**पर्यप्लवन, प्रसर्पण और समेषण।**

तीनों गतियों के लिए प्रयुक्त शब्दों की सूक्ष्म आलोचना से प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भ में प्रथम गति सलिलावस्था वाले आपो में उत्पन्न ऊर्मियों से उत्पन्न हुई। तदनन्तर उसमें प्रसर्पण=आगे बढ़ना रूपी क्रिया हुई। और उसीसे पर्यप्लवन=चारों ओर चक्कर काटना रूपी क्रिया प्रकट हुई।

पृथिवी ग्रह नक्षत्रों की आदिगति का मूल कारण—हिरण्यगर्भ में किस क्रम से गति का आरम्भ हुआ और उत्तरोत्तर उस गति ने क्या रूप धारण किया इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। हिरण्यगर्भ की ये ही प्रसर्पण (=आगे बढ़ना) और पर्यप्लवन (धुरी पर चारों ओर घूमना) क्रियाएँ उसकी प्रजाओं, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि को दायभाग में प्राप्त हुईं। हिरण्यगर्भ की आदिगति का कारण जैमिनि ब्राह्मण

---

१. तुलना करो—**अन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके। महाभारत, शान्ति० ३५१। ३॥**

के अनुसार आपः में उत्पन्न ऊर्मियाँ थीं।

इसी तत्त्व का वर्णन जैमिनि ब्राह्मण ३। ३६१ में इस प्रकार किया है—

अथ ह ततः पुराहोरात्रे संश्लिष्टे एवासतुरव्याकृते।

अर्थात्—हिरण्यगर्भ अण्ड के भेदन से पूर्व दिन और रात्रि मिली हुई थीं, अव्याकृत थीं, अर्थात् उस समय उनका विभाग नहीं हो सकता था।

बाईबिल में—इस पुरुष के आपः में परिप्लवन के सत्य का एक अंश बाईबिल में सुरक्षित रहा है—

and darkness was upon the face of the deep. And the Spirit of God moved upon the face of the waters. (Genesis, 1. 2.)

वैदिक प्रजापति अथवा पुरुष ही बाइबिल में God कहा गया है।

हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति का ब्राह्मणोक्त वर्णन कितना वैज्ञानिक है।

वह अण्ड अग्नि के प्रभाव के कारण **हैमवर्ण** अथवा **सहस्रांशु-समप्रभ**[1] हो गया था। इस हिरण्यगर्भ को स्वयम्भू ब्रह्म ने अपना विराट् शरीर बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस हेमाभ महान् अण्ड को बहुधा **पुरुष** अथवा **प्रजापति** कहा है।

आपों से आवृत—यह अण्ड आपों में उत्पन्न हुआ, अतः आपों से घिरा हुआ था। वायु पुराण ४। ८४ के पूर्व लिखित वचन में इन आपों का परिमाण दश गुणा बताया है। दश गुणा का यथार्थ अभिप्राय किस परिमाण से है यह जानना चाहिए। ये ही आपः नारायण के निवास थे।

महदण्ड का स्वरूप—महदण्ड महाभूतों का परिणाम था। इन महाभूतों में पार्थिव-परमाणु भार-गुण युक्त थे। अतः महदण्ड के अधो भाग में पार्थिव-अंश एकत्र हुआ। महदण्ड का उपरिभाग लघु और

---

१. मनु १। ६॥

अधोभाग भारी थी। इस अधोभाग से आगे पृथिवी बनी।

अण्ड पूरा गोल नहीं था। अण्ड गोल होता भी नहीं। यह लम्बा अधिक था।

वायु पुराण में हिरण्यगर्भ का रूप निम्नलिखित सुन्दर प्रकार से उदाहृत है—

कुम्भस्थायी भवेद् यादृक् प्रतीच्यां दिशि चन्द्रमाः।
आदितः शुक्लपक्षस्य वपुरण्डस्य तद् विधम् ॥ ४६ । १५० ॥

अर्थात्— कुम्भ (राशि में) स्थित होवे, जैसा पश्चिम दिशा में चन्द्रमा, पहले-पहले शुक्लपक्ष के, वपु=रूप वा शरीर अण्ड का तत् विध [था]।

मैकडानल का अज्ञान—सर्ग-विद्या का वैज्ञानिक स्वरूप अणु-मात्र न समझकर आक्सफोर्ड का पक्षपाती ईसाई अध्यापक मैकडानल लिखता है—

A mythological account of the origin of the universe, involving neither manufacture nor generation, is given in one of the latest hymns···as it accounts for the formation of the world from the body of a giant...and his feet the earth. (V. Myth. p. 12, 13)

यह प्रजापति पुरुष का कैसा अधूरा उल्लेख है।

पुरुष अथवा सूर्य—योरोप के आधुनिक वैज्ञानिक आदि में गरम गैस से सूर्य का अस्तित्व मानते हैं। और सूर्य से ही वे पृथिवी आदि की उत्पत्ति भी मानते हैं।

गैमा लिखता है—

the multitude of stars...were probably formed...from the hot primordial gas that previously filled all the universe. (Biography of the Earth, p. 2)

यह गरम गैसे क्या थी। यह कैसे बनी। इसमें गरमी कैसे आई। इस विषय के योरोपीय अनुमान सन्तोषप्रद नहीं है।

इस पक्ष में तर्क की अनेक बाधाएँ हैं। उनके उल्लेख का यहाँ स्थान नहीं। वैदिक विज्ञान में हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से सब लोक-लोकान्तरों का जन्म माना गया है।

संख्यातीत महदण्ड

क्या महदण्ड एक ही था। क्या उस एक अण्ड से ये अगणित सूर्य, चन्द्र, ग्रह और तारागण आदि उत्पन्न हुए। क्या सम्पूर्ण सृष्टियां (galaxies) एक ही प्रजापति की सन्तान हैं। इसका उत्तर विष्णु पुराण द्वितीयांश, अ० ७ में हैं—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च ॥ २७ ॥

अर्थात्—अण्ड सहस्रों के सहस्र और अयुत (दस सहस्र) थे। ऐसे अण्ड कोटि-कोटि (करोड़ों-करोड़ों)[1] सैकड़ा थे।

वायु पुराण में भी—ऐसा कथन वायु पुराण में भी है—

अण्डानाम् ईदृशानां तु कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च कारणस्याव्ययात्मनः ॥ ४९ । १५१ ॥

अर्थात्—ऐसे अण्ड सहस्रों-करोड़ थे। ये तिर्यक्, ऊर्ध्व (ऊपर) और नीचे थे।

इन्हीं अण्डों का फल ये अति दूरस्थ सृष्टियां (galaxies) हैं।

कप्तेयन की गणना—डच (दैत्य देशस्थ) ज्योतिषी का मत है—

The total number of stars in our galactic system, including the most distant and faint ones, is estimated by the Dutch astronomer Kapteyn, to whom we owe the most careful study of the Milky Way, *to be about 40 billions*,[2]

अर्थात्—हमारी एक सृष्टि (galaxy) में तारा आदि संख्या करोड़ों

१. करोड़ = ten millions.

2. G. Gamow, The Birth And Death of the Sun, p. 183.

से अधिक है। वस्तुतः करोड़ों अण्डों ने करोड़ों सृष्टियाँ (galaxies) उत्पन्न कीं।

यज्ञोपवीत—प्रजापति अथवा पुरुष एक स्वाभाविक यज्ञोपवीत से अलंकृत था। मन्त्र कहता है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।

अर्थात्—यज्ञोपवीत परम पवित्र, प्रजापति का स्वाभाविक था, पहले।

बृहस्पति के चार घेरे—दूर आकाश में जो बृहस्पति ग्रह है, उसके गिर्द चार गोल घेरों की रेखाएँ आज भी सूक्ष्म दूरालोक यन्त्र द्वारा देखी जा सकती हैं।

ऐसी यज्ञोपवीत सदृशी रेखा प्रजापति पर भी थी। आर्य धर्म में उसी की स्मृति आज तक बनी आ रही है। उसी प्रजापति अथवा यज्ञ द्वारा वेद मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। तभी वेद पढ़ने वाले द्विजमात्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं।

हिरण्यगर्भ के अन्य वैदिक नाम

१. वृक्ष—ऋग्वेद के विश्वकर्म सूक्त १०।८१ में कहा है—

क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। ४।

अर्थात्—कौन सा वह वृक्ष था, जिससे द्यु और पृथिवी को [उन्होंने] घड़ा। निश्चय ही हिरण्यगर्भ रूपी वृक्ष से ये द्यु और पृथिवी घड़े गए। जिस प्रकार एक अनघड़ लकड़ी को पहले तेसे से और पुनः सान आदि पर घड़ते हैं, वैसे यह द्यावा पृथिवी बहुत रूपों में से निकल कर वर्तमान अवस्था में आए हैं।

२. **बृहदुक्ष**—प्रजापति का एक नाम बृहदुक्ष है। मन्त्र कहता है—

बृहदुक्षाय नमः।

इस पर शतपथ लिखता है—

प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः।४।४।१।१४॥

अर्थात्—प्रजापति ही बृहदुक्ष है।

एक अन्य मन्त्र में भी ऐसा भाव है—

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्।

अर्थात्—उक्षा ने धारण किया पृथिवी और द्यु को।

३. पुरुष—इस पुरुष की सदृशता मानुष पुरुष से बहुधा की गई है। यही भाव बाईबिल में भी है—

And God created man after his own image.

अर्थात्—प्रजापति परमात्मा ने उत्पन्न किया मनुष्य को अपने रूप में।

४. उत्तानपाद—प्रजापति उत्तानपाद, अर्थात् ऊपर की ओर फैले पैरों वाला था। भूर्जज्ञ उत्तानपदः। ऋ० १०।७२।४॥

प्रजापति की यह अवस्था कब और क्यों हुई, यह जानने योग्य है। पहले पृथिवी-युक्त होने से प्रजापति का अधोभाग भारी था। तब उसके पाँव ही नीचे होंगे।

प्रजापति का मान—प्रजापति की लम्बाई-ऊँचाई तथा चौड़ाई के विषय में ताण्ड्य ब्राह्मण में लिखा है—

यावान् वै प्रजापतिः ऊर्ध्वः तावान् तिर्यङ्।१८।६।२॥

अर्थात्—जितना निश्चय प्रजापति ऊपर की ओर उतना पार्श्वों में।

अण्ड का अन्तः रूप—शतपथ में इस का स्पष्टीकरण है—

सा वै शाणी भवति। मृद्व्यसदिति न्वेव शाणी। यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा-एतस्माद् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते[1] शाणाः। तस्मात्ते पूतयो वान्ति। यद्वस्य जराय्वासीत्

---

१. तुलना करो—वायु ४।८०

हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्योल्बं तन्महात्मनः।

तथा रसरत्नसमुच्चय ५।४—

ब्रह्मा येनावृतो जातः सुवर्णेन जरायुणा।

तन्मेरुरूपतां यातं सुर्णं सहजं हि तत्॥

तद्दीक्षितवसनम् । अन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवति ।३।२।१।११॥

अर्थात्—वह ही सान वाली होती है। कोमल थी निश्चय ही सान-वाली। जहाँ निश्चय प्रजापति जन्मा गर्भ होकर, इस यज्ञ से उसका निकटतम उल्ब था, वे ही सान (यज्ञ में दिखाए जाते हैं।) इसलिए वे गन्धयुक्त बहते हैं। जो निश्चय इस की जेर थी, वह दीक्षित का वस्त्र [है।] अन्तर निश्चय उल्ब जेर के होता है।

ध्यान रहे, यह नेदिष्ठ-उल्ब अर्थात् प्रजापति से सटा हुआ उल्ब (the liquid between) मृदु था। उल्ब और जरायु के अन्तर का सूक्ष्म भेद बहुत महत्त्व-पूर्ण है।

प्रजापति यज्ञ हुआ—पहले कह चुके हैं कि प्रजापति का नाम यज्ञ था। मै० सं० १।६।३ में कहा है—

प्रजापतिर्वा एक आसीत्। सोऽकामयत। यज्ञो भूत्वा प्रजाः सृजेयेति।

अर्थात्—प्रजापति ने यज्ञ होकर प्रजाएँ सृजन कीं।

उसी यज्ञ रूप प्रजापति से वेद-श्रुतियां आकाश में उत्पन्न हुईं। अतः मन्त्र कहता है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

अर्थात्—उस यज्ञ पुरुष से ऋचा और सामादि उत्पन्न हुए।

प्रजापति=त्वष्टा—प्रजापति ने त्वष्टा का रूप धारण किया। तब सृष्टि बनी। काठक संहिता ७।१० में लिखा है—

त्वष्टा वै भूत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। त्वष्टा यजमानः। स यद् वाचा-अवदत् तद्भवत्।

अर्थात्—त्वष्टा निश्चय होकर प्रजापति ने प्रजाएँ उत्पन्न कीं। त्वष्टा यजमान [था। यज्ञ में यजमान वही काम करता है।] वह जो वाणी से बोला, वही हुआ।

बाईबिल में प्रतिध्वनि—त्वष्टा जो-जो बोला, वही हुआ, इसकी छाया बाईबिल के उत्पत्ति प्रकरण में अति स्पष्ट है। यथा—

Ch. 1. 3. And God said; Let there be light: and there was light.
6. And God said, Let there be a firmament (Heaven).
9. And God said,......let the dry land appear,
14. And God said, Let there be lights (sun, moon) in the firmament.

बाईबिल का God = ईश्वर, निश्चय ही ब्राह्मण ग्रन्थों का त्वष्टा प्रजापति है।

ब्राह्मणों में Let there be का मूल "अस्तु" स्पष्ट विद्यमान है। मिश्र देश वाले भी कभी वेद जानने वाले थे। इसी कारण उनके साहित्य में से यह बात मूसा ने ली और तदनु यह बाईबिल में लिखी गई।

महदण्ड फटा—महदण्ड अथवा उसका अन्तिम रूपान्तर त्वष्टा प्रजापति—आत्मनो ध्यानात् (मनु १।१२), अर्थात् स्वयंभू ब्रह्म के अपने ध्यान से, तथा वायु के वेग-युक्त होने से दो शकल (टुकड़ों) में फटा। स्वयंभू ने ध्यान के योग से वायु में बल उत्पन्न किया।

वायु पुराण अ० २४ में लिखा है—

अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद् द्विधा कृतम्। ७४।

मिश्र के ज्ञान में यही बात—यद्यपि मिश्र देश के पुराने विचारों का, जो बाईबिल के विचारों का मूल हैं, अभी यथार्थ अध्ययन नहीं हो पाया, तथापि अण्ड वायु द्वारा टुकड़े हुआ, तथा अन्तरिक्ष द्वारा द्यु और पृथिवी पृथक् हुए, इस विषय का वहाँ प्रतिपादन है ही—

The god of the air, Shu,......separating his sister sky, from his brother Keb, the Earth.......[1]

जै० ब्रा० ३।३६१ में भी प्रजापति के शकलों और भूमि आदि की उत्पत्ति का उल्लेख है।

शतपथ ४।४।४।१ में प्रजापति से इधर-उधर और ऊपर-नीचे प्रजाओं के बनने का कथन है। यथा—

1. Biography of the Earth, p. 1.

उभयतो न्यूनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे। इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः।

कपाल—पुनः पृथिवी सृजन के विषय में शतपथ ६।१।१।११ में कहा है—

अथ यत् कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत्।

छान्दोग्य उपनिषद् ३।१६।१-२ में भी ऐसा पाठ है—

ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्।
तद् यद्रजतं सेयं पृथिवी। यत् सुवर्णं सा द्यौः।

अर्थात्—वे आण्डकपाल रजत और सुवर्ण हुए। जो रजत था, वही यह पृथिवी बनी। जो सुवर्ण था, वह द्यु हुई।

रजत भाग में आपः की प्रधानता है, और हिरण्य वा सुवर्ण भाग में तेज की।

इस विषय में पूर्व पृष्ठ ७० पर काठक संहिता का भी प्रमाण है।

पृथिवी लोक में आपः का आधिक्य है और द्यु-लोक में तेज का। पृथिवी लोक से ही आपः आदित्य तक पहुँचते हैं और उसके तेज का कारण बनते हैं। आपः कण अन्तरिक्ष के षष्ठ वायुमार्ग में अग्नि को अपने गर्भ में धारण करके दिव्य हो जाते हैं।

वर्तमान योरोपीय मत—हिरण्यगर्भ के विषय में कुछ ज्ञान न रखते हुए जार्ज गेमो लिखता है—

We know that the Sun, which gave birth to the Earth, and the other planets,....[1]

आलोचना—वस्तुतः हिरण्यगर्भ पूर्व था और सूर्य बहुत पीछे बना। पृथिवी सूर्य से नहीं प्रत्युत हिरण्यगर्भ से बनी।

शकल और कपाल—ये दोनों शब्द विचार योग्य हैं। कपाल कैसा था। उसमें सम्पूर्ण द्रव्य किस अवस्था में थे। उसमें कैसे-कैसे परिवर्तन आए। यह भविष्य में समझ आ सकेगा।

1. Biography, p. 25.

बफून और लैपलेस—भूमि की उत्पत्ति के विषय में बफून का मत युक्त नहीं। किसी दूसरे ग्रह आदि की टक्कर से भूमि सूर्य से अथवा अपने मूल अण्ड से पृथक् नहीं हुई। लैपलेस अधिक ठीक था, गेमो ने उसका मत निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

To replace Buffon's "two-parent theory," Laplace therefore proposed the theory that the Sun produced the planetary system "all by itself", as the result of a terrific internal explosion that threw a part of its atmosphere far beyond the present orbits of the planets. "This explosion," writes Laplace, "*might have taken place* through causes similar to that which produced the brilliant outburst in 1572, lasting several months, of the famous star in the constellation Cassiopeia." Biography, p. 10.

बफून, लैपलेस अथवा गेमो आदि भूतों तथा महाभूतों को नहीं जान पाए। उनको प्रोटान तथा इलैक्ट्रानों में आपः और अग्निः का रूप समझ नहीं आया। उन्हें दिव्य आपः का भी अभी ध्यान नहीं आया। अतः उन्हें आदि में व्यापक गैस[1] अथवा व्यापक आपः के कार्य कारण रूप का अस्तित्व ज्ञात नहीं हुआ।

इसी प्रकार पृथिवी-जन्म और ग्रहों आदि की उत्पत्ति का भी स्पष्ट ज्ञान उन्हें नहीं हुआ। पृथिवी सूर्य से नहीं, प्रत्युत हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुई है। चन्द्र पृथिवी से नहीं, प्रत्युत आदित्य से उत्पन्न हुआ। ग्रह सूर्य से उत्पन्न हुए। इन घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन अगले अध्यायों में होगा।

अब अगले अध्याय में पृथिवी का इतिहास लिखा जाता है।

---

१. **तुलना करो,** the hot primordial gas that previously filled all the universe. Bio. p. 2.

अष्टम अध्याय

पृथिवी का इतिहास

भूत—पृथिवी रूपी पञ्चम भूत का उल्लेख पृ० ४६-४६ तक हो चुका है। यह भूत प्रजापति के पैरों की ओर अधिक संहत था। अग्नि और मारुत के योग और आपः के स्नेह से इसमें घनत्व आ रहा था। वही पृथिवी का मूल था।

भूमि की प्राथमिकता—पहले लिखा जा चुका है कि मानव धर्म शा० १।१३ के अनुसार हिरण्याण्ड के दो शकलों से दिव और भूमि का निर्माण हुआ। तदनुसार भूमि पहले बनी और दिव के सूर्य, ग्रह आदि अनेक अंग पश्चात् अस्तित्व में आए।

क्रम-विषयक गम्भीरता—ऋग्वेद में एक मन्त्र है—

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना विभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥

ऋ० १।१८५॥

अर्थात्—कौन पूर्वा, कौन अपरा है, इन द्यावा पृथिवी दोनों में से, किस प्रकार दोनों उत्पन्न हुए। हे कवि लोगो, कौन स्पष्ट जानता है।

इस मन्त्र में क्रम की गम्भीरता का प्रदर्शन किया गया है।

इस गम्भीरता के स्पष्टीकरणार्थ—

(क) **भूतस्य प्रथमजा**—यजु ३७।४॥

अर्थात्—भूत=भुवनमात्र[1] में प्रथम उत्पन्ना।

---

१. **यास्क मुनि वेद के भूत शब्द का सर्वत्र भुवन अर्थ करता है।**

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १४।१।२।१० में इस याजुषमन्त्र के व्याख्यान में लिखा है—

इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा ।

अर्थात्—यह ही पृथिवी भुवनों में प्रथम उत्पन्ना·····।

यही सत्य शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र भी प्रकट किया गया है—

(ख) इयमु [भूमिः] वा एषां लोकानां प्रथमा ऽसृज्यत । ६।५।३।१॥

अर्थात्—यह भूमि ही इन लोकों में प्रथम उत्पन्न हुई ।

भूमि-सृजन समय भूः व्याहृति—दैवी सृष्टि में भूः व्याहृति की उत्पत्ति के समय ही भूमि बनी थी। ब्राह्मणों में प्रवचन है—

(क) स भूरिति व्याहरत । स भूमिमसृजत् । तै० ब्रा० २।२। ४।२ ॥

अर्थात्—उस [प्रजापति] ने भूः शब्द उच्चारा। उसने भूमि उत्पन्न की ।[१]

(ख) प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् असृजत् । जै० ब्रा० १।१०१॥

अर्थात्—प्रजापति जो पहले बोला, वह भूः यही बोला । उसने इस [पृथिवी] को उत्पन्न किया ।

प्रजापति अथवा ईश्वर के व्याहरण से भूमि आदि सृष्टियाँ बनीं, यह भाव बाईबिल में है, जो पूर्व उद्धृत पृ० ८५ पर दिया गया है। इस विज्ञान के समझने के लिए देखो हमारा भाषा का इतिहास ।

ऋचा में अन्य शब्दों द्वारा यही भाव—ऋग्वेद में अदिति-देवता-परक ऋचा है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त । १०।७२।४॥

अर्थात्—भूमि अथवा भूः व्याहृति उत्पन्न हुई ऊपर-उठे पाँव

---

१. तुलना करो, पूर्व पृ० ८५ पर बाईबिल का वचन ।

वाले [प्रजापति रूपी वृक्ष] से। भुवः [व्याहृति] से आशाएँ [अथवा अन्तरिक्ष] उत्पन्न हुईं।

बृहदारण्यक उपनिषद् २।२।३ में प्राचीन श्लोक **अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः**[1] पाठ इसी भाव का द्योतक है। कठ उपनिषद् २।३।१ का पाठ—**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषो ऽश्वत्थः सनातनः**, भी द्रष्टव्य है। इस उपनिषद् वाक्य का अनुवाद भगवद्गीता १४।१ में—**ऊर्ध्व-मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्** में दिखाई देता है।

प्रजापति-पुरुष के पाओं से भूमि उत्पन्न हुई, यह मन्त्रों में लिखा है—

पद्भ्यां भूमिः । ऋ० १०।६०।१४॥

पुराण में प्रतिध्वनि—मन्त्र और ब्राह्मण की प्रतिध्वनिमात्र पुराण में है। यथा—

भूरिति व्याहृते पूर्वं भूर्लोकश्च ततो ऽभवत्। वायु १०१। १८॥

अर्थात्—भूः यह शब्द बोले जाने पर पहले भूमिलोक उस से बना।

वस्तुतः सूर्य और चन्द्र आदि के बनने से पूर्व भूलोक अस्तित्व में आया।

प्रश्न—विधाता के संकल्प और वायु के धक्के से प्रजापति हिरण्य-गर्भ से भूमि पृथक् हुई। प्रश्न होता है, जिस प्रकार वेग से ऊपर फेंका गया लोष्ठ पृथिवी का विकार होने से पुनः पृथिवी पर आ गिरता है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ का विकार होने से भूमि, हिरण्यगर्भ में पुनः क्यों न मिल गई।

उत्तर—उस समय ऊपर-नीचे का वर्तमान प्रकार का भाव नहीं था। फिर भी भूमि नीचे की ओर पृथक् हुई। उसी में पार्थिव परमाणु अधिक थे। ऊपर के भाग में वे परमाणु नहीं थे। अतः उन में आकर्षण

---

१. नीचे की ओर छिद्र अर्थात् मुख वाला चमस, ऊपर मूल वा जड़ वाला है।

नहीं हुआ। वह अधिक नीचे क्यों न गई तथा कौन सी शक्तियाँ (forces) इसे पृथक् रख रही थीं यह हम नहीं जान पाए।

सहस्रशीर्ष पुरुष भूमि से दस अंगुल ऊपर था, यह विज्ञान भी अन्वेषण-योग्य है।

भूमि के विषय में गेमो लिखता है—

The Earth, from the very beginning of its existence as a gaseous, and later molten, piece of matter torn away from the young Sun by some passing star, down to the very end, when it will be melted again.[1]

गैस की अवस्था से उत्तरवर्ती (molten) दशा कैसे आई, यह हमारी समझ में नहीं आया।

भारतीय ग्रन्थों के अनुसार भूमि, पहले आर्द्रा, शिथिला अथवा पिलिप्पिला थी। पिघली हुई दशा में नहीं थी। पश्चिम के विचारकों ने भूमि को सूर्य से उत्पन्न मानकर सम्भवतः ऐसा माना है। भूमि आग्नेयी कैसे बनी, इसका उल्लेख आगे होगा।

आपः प्रधान पृथिवी

पहले यह पृथिवी जलमयी थी, आर्द्रा और शिथिला थी। काठक संहिता में लिखा है—

(क) आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिः पुष्कर-पर्णो वातो भूतो ऽलेलीयत (अलेलायत–तै० सं०)। स प्रतिष्ठां नाविन्दत। स एतमपां कुलायमपश्यत्। स एतं प्रजापतिरपां मध्ये ऽग्निमचिनुत। सेयमभवत्। ततः प्रत्यतिठष्त्। इयं वाव अग्निः। काठक सं० २२।६॥

अर्थात्—आप: ही ये थे सलिल [जिन में सब लीन था] ही। वह प्रजापति पुरुष कमलपत्र में वात हुआ-हुआ लहलहाता था। उसे ठहरने

1. Biography of the Earth, by George Gamow, Third Impression, New York, 1946, pp. 237, 238.

का स्थान न मिला। उस ने इस आपों के कुलायम्=जाल को देखा। उस प्रजापति ने आपों के मध्य में इस अग्नि को चिना। वह यह [पृथिवी] हुई। तब ठहर गया। यह [पृथिवी] ही अग्नि है।[1]

ए० बी० कीथ तै० सं० के अनुवाद में सलिल का अर्थ moving ocean करता है। कीथ कृत अर्थ का कोई आधार नहीं है।

आपों का जाल क्या था। आपः परमाणु किस प्रकार स्थित थे। उनमें ताना-बाना कैसा था, ये गम्भीर भाव अभी हमारी समझ में नहीं आए।

आपों में मध्य में अग्नि कैसे चिना गया, यह भी ज्ञातव्य है।

तैत्तिरीय संहिता में इस विषय का पाठ है—

(ख) आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। स एतां प्रजापतिः प्रथमां चितिम् अपश्यत्। तामुपाधत्त। तद् इयमभवत्। तै० सं० ५।७।५॥

अर्थात्—आपः ही पहले इस [सब कुछ को] लीन किए थे। उस प्रजापति ने इस प्रथम चिति=तैह को देखा। उसे स्थापित किया। वह यह [पृथिवी] हुई।

(ग) आपो वरुणस्य पत्नय आसन्। ता अग्निरभ्यध्यायत्। ताः समभवत्। तस्य रेतः पराऽपतत्। तद् इयम् अभवत्। तै० सं० ५।५।४॥

अर्थात्—आपः वरुण की पत्नियाँ थीं। उन की अग्नि कामना करता था। [उस का] उन से मेल हुआ। उस का रेत परे गिरा। वह यह [पृथिवी] हुई।

आर्द्रा=शिथिला पृथिवी

(क) शतपथ ब्राह्मण में एक आश्चर्योत्पादक संदर्भ है—

अथ शर्कराः सम्भरति। देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजा-

---

१. तुलना करो, कपिष्ठल सं० ३५।३॥ तै० सं० ५।६।४॥

पत्याः पस्पृधिरे। सा हेयं पृथिवी अलेलायद्-यथा पुष्करपर्ण-मेवम्। तां ह स्म वातः संवहति।[1] सोपैव देवान् जगाम। उपा-सुरान्। स यत्र देवान् उपाजगाम॥८॥ तद्धोचुः। हन्तेमां प्रतिष्ठां दृंहामहै। तस्यां ध्रुवायाम् अशिथिलायाम् अग्नी आदधामहै। ततोऽस्य सपत्नान् निर्भदयाम इति॥९॥ तद् यथा शंकुभिः चर्म विहन्यात्। एवमिमां प्रतिष्ठां शर्कराभिः पर्यबृंहन्त।

अर्थात्—तब कंकरों को एकत्र करता है। देव तथा असुर दोनों प्रजापति [हिरण्यगर्भ] के पुत्र स्पर्धा करने लगे। वह निश्चय यह पृथिवी लहलहाती थी जैसे कमलपत्र ऐसे। उस [पृथिवी] को वात ले जाती थी। वह [कभी] देवों के समीप जाती थी [कभी] असुरों के समीप। वहाँ जहाँ देवों के समीप आई। तब निश्चय [देव] बोले। आओ इस ठहरने के स्थान को दृढ़ करते हैं। उस में, स्थिर हुई में, ठोस हुई में, दो अग्नियाँ आधान करते हैं। तब इस के शत्रुओं को भाग-रहित करेंगे॥ तो जिस प्रकार कीलों से चमड़े को ठोक देवे, उसी प्रकार इस प्रतिष्ठा [=ठहराने के स्थान] को कंकरों से चारों ओर बृंहण किया।

उस समय पृथिवी अति शिथिला होगी। तभी उसे वात कभी ऊपर कभी नीचे ले जाती थी। देवों ने उसे कंकरों से दृढ़ किया। शिथिला पृथिवी में कंकर कैसे उत्पन्न हो गए, यह आगे लिखेंगे।

परि अबृंहन्त—शब्द से प्रतीत होता है कि पहले बाह्य घेरे में बृंहण हुआ।

पृथिवी उत्तरी ध्रुव की ओर क्यों स्थिर है।

उत्तरी ध्रुव देव-दिशा है।

दक्षिणी ध्रुव असुर-दिशा है।

जब उत्तर ध्रुव की ओर पृथिवी आई तो देवों ने इसे दृढ़ किया। इसी लिए पृथिवी का अधिक भाग उत्तर-ध्रुवों में है। दक्षिण में जल अधिक है।

---

1. तां दिशो ऽनु वातः समवहत्॥ तै० ब्रा० १।१।३॥ पृ० १७।

(ख)इसी भाव को अन्यत्र कहा है—

प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत् पर्वताः। ते पक्षिण आसन्।[1] ते परापातमासत यत्र यत्र-अकामयन्त। अथ वा इयं तर्हि शिथिरासीत् (काठक-शिथिला)। तेषाम् इन्द्रः पक्षान् अच्छिनत्। तैरिमाम् अदृंहत। ये पक्षा आसंस्ते जीमूता अभवन्। तस्मादेते सदद्दि पर्वतमुपप्लवन्ते। योनिर्ह्येषामेष। मै० सं० १। १०। १३॥ काठक सं० ३६। ७॥

अर्थात्—प्रजापति के ज्येष्ठ अपत्य हैं जो पर्वत थे। वे पक्षों वाले थे। वे दूर तक फुदकने वाले थे, जहाँ जहाँ चाहते थे। निश्चय ही यह [पृथिवि] शिथिला थी। उनके इन्द्र ने पक्षों को काट दिया। उनसे इस [पृथिवि] को दृढ़ किया। जो पक्ष थे वे जीमूत [मेघ] बने। इसलिए ये [मेघ] आश्रय के लिए पर्वत की ओर कूदते हैं। कारण अथवा मूल है, इन [जीमूतों] का यह [पर्वत]।

विशेष टिप्पण—जीमूत-रूपी मेघ कैसे बने, इसका उल्लेख आगे होगा। चेतन और अचेतन पदार्थ अपने कारण की ओर जाते हैं, इस सत्य का वर्णन पूर्व पृष्ठ ५३-५५ पर सादृश्य-सिद्धान्त शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

जीमूत मेघों का विस्तृत उल्लेख वायुपुराण ५१। ३६-३६ तक है।

(ग) शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्।......इन्द्रो वै वृत्राय वज्रं प्राहरत। तस्य या विप्रुषा आसन् ताः शर्करा अभवन्। मै० सं० १। ६। ३॥

---

१. 'पक्षिणः' का अर्थ है—उड़ने की शक्ति वाले। ताण्ड्य ब्रा० १४। १। १३ का पाठ इस भाव के स्पष्टीकरण में सहायक है—"ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणः। ये ऽविद्वांसस्ते ऽपक्षाः॥" पहले पर्वत अध्रुव थे, इसका संकेत मन्त्र में है—पर्वता ध्रुवयो भवन्तु। तुलना करो, अद्भुत सागर पृ० ३८४ पर पराशर वचन।

अर्थात्—शिथिला निश्चय यह (पृथिवि) पहले थी। उसे प्रजापति ने कंकरों से दृढ़ किया। ......इन्द्र ने निश्चय वृत्र के लिए वज्र फेंका। उसकी जो बूँदें थीं, कंकर हुईं।

(घ) अलेलेद् वा इयं पृथिवी। सा-अबिभेद् अग्निर्मा अति धक्ष्यतीति। अबिभेद् अग्निः इरो मे विनेक्ष्यतीति। आर्द्रेव हीयमासीत्। तां देवाः शर्कराभिः अदृंहन्। तेजोऽग्नावदधुः। यच्छर्करा भवन्ति, इमामेव दृंहति। तेजोऽग्नौ दधाति। कपि० सं० ६।७।। काठक सं० ८। २।।

अर्थात्—लहलहाती (थी) निश्चय यह पृथिवी। वह डरती थी, अग्नि मुझे अति जला देगा। डरता था अग्नि, सत्त्व मेरा नष्ट कर देगी। गीली हुई के समान ही यह (पृथिवी) थी। उसे देवों ने कंकरों से दृढ़ किया। तेज को अग्नि में धारण कराया।

शर्करा की उत्पत्ति वृत्रवध के पश्चात्

पूर्व उद्धृत 'ग' प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथिवी में शर्करा की उत्पत्ति वृत्र-वध के पश्चात् हुई। उस से पूर्व पृथिवी शिथिला थी।

आर्द्रा पृथिवी पर क्रमशः नौ सृष्टियां

इन नौ सृष्टियों का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—

स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत। ...... स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूष सिकतं शर्कराम् अश्मानम् अयो हिरण्यम् -ओषधि-वनस्पति-असृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत।। १३।। ता वा एता नव सृष्टयः।। १४।। शत० ब्रा० ६। १। १।

अर्थात्—उस श्रान्त और तप करते हुए (प्रजापति) ने (१) फेन को उत्पन्न किया।........उस श्रान्त और तप करते हुए ने (२) मृत् (३) शुष्कापम् (४) ऊष (५) सिकता (६) शर्करा (७) अश्मा (८) अयः और हिरण्य और (९) ओषधि-वनस्पति को उत्पन्न किया। उससे इस

पृथिवी को ढक दिया। वे ही ये नौ सृष्टियां हैं।

I. फेन

अग्नि और आपों के मेल का फल—इस मेल से फेन उत्पन्न हुआ। यथा—

ता ऽतप्यन्त। ताः फेनमसृजन्त। श० ब्रा० ६। १। ३। २॥

अर्थात्—वे आपः तपे (श्रमयुक्त हुए)। उन्होंने फेन को उत्पन्न किया। शतपथ में पुनरपि ऐसा उल्लेख है—

तस्माद् अपां तप्तानां फेनो जायते।

quoted Vedic grammar, p. 328.

फेन का स्वरूप—ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका स्पष्टीकरण है—

न वा एष शुष्को नार्द्रो व्युष्टासीत्। तै० ब्रा० १। ७। १।६-७॥
श० ब्रा० १०। ७। ३। १-३॥

अर्थात्—नहीं निश्चय से यह शुष्क था न गीला।

ऋग्वेद के ८। १४। ३ मन्त्र में भी इसी फेन का निर्देश है—

अपां फेनेन——नमुचेः शिरः।

अर्थात्—आपों के फेन से·······नमुचि के शिर को काटा।

फेन का अपर नाम—फेन का दूसरा नाम अपां अर्कः है। शतपथ में ही इसका स्पष्ट उल्लेख है—

आपो वा अर्कः। तद् यद् अपां शर आसीत् तत् समहन्यत् सा पृथिवी अभवत्। १०। ६। ५। २॥

अर्थात्—आपः निश्चय ही अर्क (थे)। तो जो आपों का शर= मलाई रूपी झाग था, वह घना हुआ। वह पृथिवी हुई।

एगलिंग का अर्थ—

शरः—the upper part of cream, or slightly of curdled milk (scum).

The Arka, doubtless, is the waters, and the cream (froth) which was on the waters was compacted, and became this earth.

घनत्व—शतपथ के १० । ६ । ५ । २ के पूर्व उद्धरण में फेन के घने हो जाने का वर्णन किया है। वह घनत्व कैसे उत्पन्न होता है, इसका सुन्दर वर्णन महाभारत, शान्तिपर्व १८०।१६ तथा १८१।१५, १६ में मिलता है—

आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात्ततः सम्भवन्मही ॥१६॥

अर्थात्—आकाश से वारि उत्पन्न हुए, सलिल (=वारि) से अग्नि और मारुत। अग्नि और मारुत के संयोग से तब पृथिवी हुई।

पुनः पर्व १८१ में लिखा है—

अग्निः पवनसंयुक्तः खात् समुत्क्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥१५॥
तस्याकाशान्निपततः स्नेहस्तिष्ठति यो ऽपरः।
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥

अर्थात्—पवन से युक्त होकर अग्नि आकाश से जल को उत्पन्न करता है। वह जल अग्नि और मारुत के संयोग से घनत्व को प्राप्त होता है। उस आकाश से गिरते हुए जल में जो स्नेह-रूपी गुण होता है वह संघात को प्राप्त होकर पृथिवि भाव को प्राप्त होता है।

पुराणों में भी इसी तथ्य का संकेत मिलता है।

शैत्याद् एकार्णवे तस्मिन् वायुना आपस्तु संहताः।
वायु ८ । १० ॥ ब्रह्माण्ड पूर्व भाग २ । ७ । १०॥

अर्थात्—शीत के कारण उस एकार्णवावस्था में वायु द्वारा आपः घने=संहत हो गए।

पश्चिम के विज्ञान में शीत अथवा absolute temperature का मान—273 डिगरी सैण्टिग्रेड है। ब्राह्मणकार इस विषय में क्या जानते थे, यह जानना चाहिए।

दूध का उदाहरण—अब भी दूध के उबल जाने के पश्चात्

वायु के स्पर्श से दूध पर मलाई आती है। यदि उबला हुआ दूध तत्काल ढाँप दिया जाए, और उसका वायु से स्पर्श सर्वथा न हो, तो मलाई नहीं आती। इसी प्रकार आपों के तप्त होने पर वायु-स्पर्श से उन पर फेन बना। दूध को जमाते समय भी ढांप देने पर दही पर मलाई नहीं होती।

यदेव तत् फेनो द्वितीयं रूपम् असृज्यत। शा० ६।५।१।३॥

अर्थात्—वह फेन रूप जो दूसरा रूप उत्पन्न हुआ।

आपः एक रूप था, और फेन उसका दूसरा रूप।

२. मृत्

स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति। शत० ६ । १ । ३ । ३ ॥

अर्थात्—वह फेन जब घना (कठोर) हो जाता है, (तब) मृत् ही हो जाता है।

दो प्रधान रूप—इस पृथिवी पर दो रूप प्रधान हैं। शतपथ में लिखा है—

अथो द्वयं ह्येव एतद् रूपं मृच्च आपश्च। ६।४।१।३॥

अर्थात्—मृत् और आपः दो ही रूप हैं।

अथ यत्तत् कपालमासीद् एषा सा मृत्। शतपथ ६।३।१।२८॥

अर्थात्—फिर वह जो कपाल था, यही वह मिट्टी है। इससे प्रतीत होता है कि अण्ड के अधो भाग की त्वक् मृत् बन चुकी थी।

यन्मृद् इयं तत् [पृथवी]। शत० १४।१।२।६॥

अर्थात्—जो मृत् रूप है, वही पृथिवी है।

जब भूमि हिरण्यगर्भ से पृथक् हुई तब वह सलिल-रूपा थी। उसमें पार्थिव परमाणु जल-लीन थे। उस सलिलमयी भूमि में शर अथवा फेन उत्पन्न हुआ। कपाल के बाह्य भाग से और फेन के कारण मृत्तिका का प्रादुर्भाव हुआ। इससे स्पष्ट है कि मृत्तिका पृथिवी रूपी मूल तत्त्व नहीं है। आरम्भ में पार्थिव परमाणु क्या रूप रखते थे, इसका

अध्ययन अभीष्ट है।

उस सलिलमयी भूमि के सलिल को कौन-सी शक्तियाँ अन्तरिक्ष में शीर्ण होने से बचाती थीं, इसके प्रमाण गवेषणा योग्य हैं।

अल्पा पृथिवी

पार्थिव परमाणुओं से आरम्भ में जो मृत्तिका रूप बना, वह विस्तार में अल्प था। विज्ञान के ग्रन्थों में लिखा है—

(क) अथ वै तर्हि अल्पा पृथिव्यासीद्, अजाता ओषधयः।
तै० सं० २।१।२॥

(ख) यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्।
मै० सं० १।६।३॥

(ग) एतावती वा इयं पृथिव्यासीद् यावती उत्तरवेदिः।
का० सं० २५।६॥

(घ) इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री, तामेमूष इति वराह उज्जघान। शत० १४।१।२।११॥

इन सब का भाव यह है कि आरम्भ में पृथिवी का परिमाण वराह-चषाल, उत्तरवेदि, अथवा प्रादेशमात्र था। तब पृथिवी अति अल्पा थी।

ऋग्वेद के मन्त्र में कहा है—

स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च। १।१०३।२॥

अर्थात्—उसने पृथिवी को विस्तीर्ण किया।

इस पृथिवी का विस्तार अथवा प्रथन किस प्रकार हुआ, सहस्रों योजन वह कैसे विस्तृत हुई, यह तथ्य मन्त्र और ब्राह्मण में ढूँढना चाहिए।

वायु पुराण (ब्र० पु० पू० १।५।१३४) में भी इसका आभास है—

तदम्भस्तनुते यस्मात् सर्वां पृथ्वीं समन्ततः।
धातुस्तनोति विस्तारे तेनाम्भस्तनवः स्मृतः॥ ७।५६॥

टिप्पणी—पृथिवी की उत्पत्ति का यह वर्णन सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न पृथिवी का है। मन्वन्तर के अन्त में जब पृथिवी दग्ध हो जाती है, अथवा जलप्लावन हो जाता है, उसके अनन्तर पृथिवी के पुनः प्रकट होने की प्रक्रिया कुछ अन्य प्रकार की प्रतीत होती है।

३. शुष्काप

तृतीय अवस्था शुष्काप है। शुष्काप शब्द[1] का अर्थ है सूख गए हैं आपः जिसके। इससे स्पष्ट है कि इससे पूर्व सूर्य उत्पन्न हो चुका था और उसकी उष्णता से पृथिवीस्थ आपः सूखने लगे थे। तब समुद्रों की उदकरहित अवस्थाएँ उत्पन्न हुईं। तब पृथिवी का रूप बड़ा विचित्र था। उस समय यह पृथिवी **कूर्मपृष्ठ-निभा** थी।

४. ऊष (SALINE EARTH)

पृथिवी तल के जलों के सूखने के पश्चात् ऊष अथवा ऊसर पृथिवी प्रकट हुई। ऊष शब्द अकारान्त है। धात्वर्थानुसार इसका अर्थ है 'जलाने वाला'। ऊष से 'र' प्रत्यय होकर 'ऊषर' बनता है, जैसे मधु से मधुर। ऊसर शब्द स्पष्ट ही ऊषर का अपभ्रंश है। हिन्दी और पञ्जाबी में प्रयुक्त 'शोरवाली भूमि' का शोरा शब्द भी ऊषर का ही विभ्रष्ट रूप है। सुश्रुत सूत्र स्थान ३७।३७,३८ में 'ऊषक' पद का प्रयोग मिलता है।[2]

पृथिवी पर ऊष की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका उल्लेख अगले प्रमाणों में है—

---

१. तुलना करो—एता वै शुष्का आपः। मै० सं० ३।६।३॥ अर्थात्—ये दर्भ ही शुष्क आप हैं और ये ओषधियों का तेज हैं।

२. ऊषकादिकफं हन्ति'''। इस पर डल्हण लिखता है—'ऊषकः क्षारमृत्तिका। वाराणसीसमीपे वडतरदेशे बाहुल्येन भवति।

(क) ऊषान् निवपति····द्यावापृथिवी सहाऽऽस्ताम् । ते वियती अब्रूताम् । अस्त्वेव नौ सह यज्ञियमिति । यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदस्यामदधात् । त ऊषा अभवन् । यदस्या यज्ञियमासीत् तदमुष्यामदधात् । तददश्चन्द्रमसि कृष्णम् । ऊषान् निवपन्नदो ध्यायेत्·· । तै० सं० ५।२।३॥

अर्थात्—[अग्नि का चयन करते हुए पहले] ऊष [=ऊसर मिट्टी] रखे।···द्यु लोक और पृथिवी [पहले] साथ-साथ थे। वे पृथक् होते हुए बोले। हो हमारा साथ यज्ञिय भाग। जो द्यु का यज्ञिय भाग था, वह इस पृथिवी में रखा, वे ऊष हुए। जो पृथिवी का यज्ञिय भाग था, वह द्यु लोक में रखा, जो वह चन्द्रमा में कृष्ण है। ऊष को रखते हुए उस (द्य लोक का) ध्यान करे।

पृथिवी का कितना अंश चन्द्रमा में गया। यह कैसे गया। चन्द्रमा में उस अंश के जाने से चन्द्रमा का भार कितना बढ़ा तथा पृथिवी का भार कितना घटा। इस कारण पृथिवी और चन्द्र की गतियों में क्या अन्तर उत्पन्न हुआ, इन गम्भीर विषयों में से कुछ एक का वर्णन आगे होगा।

चन्द्रमा में पार्थिव अंश का अस्तित्व सन्देह से परे है।

अन्यत्र भी लिखा है—

यद्वा इमे व्यैतां यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदिमामभ्युत्सृज्यतोषा, यदूषा भवन्त्यनयोरेवैनं यज्ञियमाधत्ते। प्राजापत्या वा ऊषाः, अश्श्वो भूयांसो भवन्ति। का० ८।२॥

यद्वा इमे व्यैतां यदमुष्या यज्ञियं तदिमामभ्यसृजतोषाः[1]। यदूषा भवन्ति, अनयोरेवैनं यज्ञिय आधत्ते। प्राजापत्या वा एते।

१. कपिष्ठल के हस्तलेख में 'असृजत' पाठ है, वह शुद्ध है। डा० रघुवीर ने मूलपाठ की उपेक्षा करके काठक-पाठ के अनुसार 'असृज्यत' पाठ बना दिया है। यह अनुचित है। इस सम्पादन में अन्यत्र भी बहुसंख्या में हस्तलेख के मूल शुद्ध पाठों को अशुद्ध समझकर बदला गया है।

श्वःश्वो भूयांसो भवन्ति। कपि० ६।७॥

अर्थात्—जब ये [द्यु और पृथिवी लोक] दूर-दूर हुए [तब] द्यु का जो यज्ञिय भाग था वह इस पृथिवी के प्रति छोड़ा (=पृथिवी में रखा) [वह है] ऊष। जो ऊष होते हैं इन दोनों के ही यज्ञिय भाग का आधान करते हैं। प्रजापति देवता वाला है निश्चय से ऊष। [इसलिए] ये प्रति अगले दिन अधिक होते हैं।

ऊसर भूमि साथ की उपजाऊ भूमि को भी ऊसर बनाती रहती है, यह सार्वजनीन है।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

(ख) असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्या एतान् पशून् प्रददौ। तस्मान् पशव्यमूषरमाहुः।...त ऽमुत आगता अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः। तमनयोर्द्यावापृथिव्यो रसं मन्यन्ते।

अर्थात्—निश्चय ही उस द्यौ ने इस पृथिवी के लिए इन पशुओं को दिया। इसलिए ऊषर भाग पशव्य (=पशुओं के लिए हितकारी) कहाता है।.......वे पशु वहाँ (द्यौ) से आए हुए इस पृथिवी में ठहरे हैं। उस (ऊषर) को द्युलोक और पृथिवी लोक का रस मानते हैं।

ऊष अथवा ऊषर का पशुओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए अन्यत्र कहा है—

पशव ऊषाः। शत० ७।१।१।६॥

अर्थात्—पशु ही ऊष हैं।

टिप्पणी—ख-वचन से स्पष्ट है कि उक्त वचन में पठित पशु पार्थिव पशु नहीं हैं, क्योंकि इन पशुओं को द्युलोक से आया हुआ कहा है, तथा ऊषर भूमि इन पार्थिव पशुओं के लिए हितकारी नहीं है। पार्थिव अथवा मानुष पशु तो हरितभूमि को चाहते हैं।

पशु

ऊषर भूमि के तत्त्व को समझने के लिए 'पशु' पद का आधिदैविक

अर्थ जानना अत्यावश्यक है। पशु का अर्थ है, जो नेत्रेन्द्रिय से देखा जाए अथवा जो चतुष्पाद[1] हो। द्यु लोक और अन्तरिक्ष लोक से उत्पन्न वे कण अथवा रेणु अथवा पांसु[2] जो अँधेरी रातों के समय अथवा अन्य किसी प्रकार से देखे जाएं, पशु हैं। ब्राह्मण कहता है—

(क) [प्रजापतिः] तेषु [पशुषु] एतम् [अग्निम्] अपश्यत, तस्माद्वैते पशवः। शत० ६।२।१।४॥

अर्थात्—प्रजापति ने इन पशुओं में अग्नि को देखा, इसलिए ही ये पशु हैं।

सम्भवतः इनमें भौतिक अग्नि और सौर अग्नि दोनों का योग है। अग्नियोग से ही ये दृष्टि का विषय बने।

अन्यत्र भी लिखा है—

(ख) आग्नेयो वाव सर्वः पशुः। ऐ० ब्रा० २।६॥

(ग) आग्नेयाः पशवः। तै० ब्रा० १।१।४।३॥

अर्थात्—पशुओं में अग्नि का योग है।

इसलिए शतपथ ६।४।१।२ में कहा है—

(घ) पृथिव्या उपस्थाद् अग्निं पशव्यम्।

अर्थात्—पृथिवी के उपस्थ से पशुओं के लिए हितकारी अग्नि को...।

(ङ) पशुर्वा अग्निः। अग्निमुखान् प्रजापतिः पशूनसृजत्।
कपिष्ठल ३१।१६॥

अर्थात्—पशु ही अग्नि है। प्रजापति ने अग्निमुख (=अग्नि प्रधान) पशुओं को उत्पन्न किया।

(च) सर्वे पशवो यदग्निः। तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते।
शत० ६।१।४।१२।

अर्थात्—सब पशु [हैं] जो अग्नि। इसलिए अग्नि में पशु रमण

---

१. वायु पुराण २३।८८, ६४॥

२. द्र० समूढमस्य पांसुरे। ऋ० १।२२।१७।

करते हैं।

(छ) वायुप्रणेत्रा वै पशवः। शत० ४।४।१।१५॥

(ज) अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। तै० ब्रा० ३।२।१।३॥

(झ) तस्मादन्तरिक्षायतना वै पशवः। शत० ८।३।२।६॥

(ञ) पशवो वै मरुतः। ऐ० ब्रा० ३।१६॥

(ट) पशवो वै वयांसि। शत० ६।३।३।७॥

इन सब का भाव यह है कि अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, मरुत्, तथा वयांसि (पार्थिव पक्षी नहीं) आदि का पशुओं के साथ सम्बन्ध है।

रुद्र भी अन्तरिक्ष स्थानीय है। रुद्र का विद्युत् के साथ सम्बन्ध है। अन्तरिक्षस्थ पशु रुद्र से आग्नेय योग प्राप्त करते हैं। इसलिए रुद्र पशुपति कहाता है। रुद्र का वाहन आखु भी अन्तरिक्षस्थ पशु है।[1]

(ठ) दैव्या वा एता विशो यत् पशवः। शत० ३।७।३।६॥

अर्थात्—द्यु लोक की प्रजाएं हैं जो पशु [हैं]।

अतः स्पष्ट है कि पृथिवी के ऊषर भाग केवल पार्थिव-परिणाम नहीं हैं, प्रत्युत द्यु और अन्तरिक्षस्थ पशुओं का इनमें योग है।

वर्तमान विज्ञान वाले इस ऊषर को सोडियम नाईट्रेट (Sodium Nitrate) अथवा पोटेशियम नाईट्रेट (Potasium Nitrate) का नाम देते हैं। लवण में भी सोडियम का प्रधान भाग होता है। आयुर्वेद की सुश्रुत आदि संहिताओं में षड्रस के व्याख्यान में लवण को आग्नेय कहा है।[2] क्या समुद्री जलों में लवण का अत्यधिक भाग इन पशुओं से सम्बन्ध रखता है।

पृथिवी का विस्तार—ऊषरों के बनने से पूर्व ही पृथिवी का विस्तार पर्याप्त हो चुका था। यद्यपि पृथिवीस्थ उपलब्ध ऊष-स्थान

१. आखुस्ते [रुद्रस्य] पशुः। श० २।६।२।१०॥

२. सुश्रुत का पाठ है—'कटु-अम्ल-लवणा आग्नेयाः'। सूत्र स्थान ४२।७॥ चरक में भी लिखा है—'सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः।' सूत्र० २६।४०॥

वर्तमान मन्वन्तर की कई घटनाओं का फल हैं तथापि उनका मूल पृथिवी की प्रथमोत्पत्ति के समय से विद्यमान था।

५. सिकता

ऊष अथवा ऊषर के अनन्तर सिकता की उत्पत्ति हुई। वैदिक ग्रन्थों में सिकता की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—

(क) स [मृत्] अतप्यत् सा सिकता असृज्यत।

शत० ६।१।३।४॥

अर्थात्—मृत् तप्त हुई, वह सिकता बनी।

(ख) एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसा आदित्यः। स यद् इह आसीत् तस्यैतद् भस्म यत् सिकता। मै० सं० १।६।३॥

अग्नेर्वा एतद्वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः। कपिष्ठल ३१।८॥

अर्थात्—यह निश्चय से अग्नि वैश्वानर है जो यह आदित्य है वह [आदित्य] जो यहाँ था उसकी यह भस्म है जो सिकता है।

आदित्य कभी पृथिवी के अति समीप था, इसका उल्लेख आगे करेंगे।

पृथिवी की त्वचा पर ही नहीं, अपितु इसके बहुत नीचे के स्तरों में भी सिकता मिलती है। सिकता का उस स्तर में अस्तित्व पृथिवी की प्राथमिक दशा में भी था वा नहीं, अथवा वर्तमान मन्वन्तर में ही हो गया, ये बातें भविष्य के अध्ययन का विषय हैं। यदि निम्न स्तरों में सिकता की उपस्थिति आदि में भी थी, तो यह जानना आवश्यक है कि वहाँ पर आदित्य का प्रभाव कैसे हुआ और वैश्वानर अग्नि ने कैसे अपना कार्य किया।

(ग) भ्राजन्त इव हि सिकता। अग्नेर्वा एतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकता। शत० ३।५।१।३६॥

अर्थात्—प्रकाशमान के समान है [यह] सिकता। निश्चय से वैश्वानर अग्नि की यह भस्म है जो सिकता।

रेत के कणों में चमक है, यह कौन नहीं जानता।

(घ) अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता।

शत० ७।१।१।१०, ४१॥

निश्चय से अग्नि वैश्वानर का यह रेत है, जो सिकता है।

शतपथ ब्राह्मण ७।५।२।५६ में सिकता को आपों का पुरीष कहा है—

सिकता वा अपां पुरीषम्।

दो प्रकार की सिकता—शत० ७।३।१।४३ में दो प्रकार की सिकता का उल्लेख मिलता है—

द्वे हि सिकते, शुक्ला च कृष्णा च।

अर्थात्—दो ही प्रकार की सिकता हैं, शुक्ला और कृष्णा।

शुक्ला में आग्नेय भाग अधिक है और कृष्णा में आपः का।

पार्टिङ्गटन लिखता है—

The purest form of sand are white ("Calais sand"); yellow sand is coloured by Ferric oxide much of which may be dissolved by boiling with HCL. पृ० ७२५

अर्थात्—रेत का विशुद्धतम रूप श्वेत है।

सिकता को अंग्रेजी में silica कहते हैं। इसमें सिलिकोन तथा आक्सीजन होती है (SiO_2)। सिलीकोन कभी स्वतन्त्र नहीं मिलती। उसकी आक्सीजन (वैश्वानर अग्नि ?) से घनिष्ठ मैत्री है।

पृथिवी के आरम्भिक दिनों में सिलीकोन का स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य था। पर आदित्य के समीप होने से किस प्रकार उसने आक्सीजन से मेल कर लिया, यह जानने योग्य है।

ग्रहों में सिकता—एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में लिखा है—

It (silica) has also been found as a constituent of various parts of planets and has been recognized in stars.

(भाग २०, पृ० ६५५)

अर्थात्—ग्रहों के विभिन्न भागों में रेत का अंश पाया जाता है। तारों में भी यह है।

६. शर्करा

सिकता के अनन्तर शर्करा की उत्पत्ति हुई। शतपथ ६।१।३।५ में लिखा है—

सिकताभ्यः शर्कराम्।

अर्थात्—सिकता से शर्करा उत्पन्न हुए।

शर्करा का अर्थ है, कंकर। शर्करा का वर्णन वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है—

(क) इन्द्रो वै वृत्राय वज्रं प्राहरत। तस्य या विप्रुषा आसंस्ताः शर्करा अभवन्। मै० सं० १।६।३॥

अर्थात्—इन्द्र ने निश्चय से वृत्र के लिए वज्र[1] का प्रहार किया, उसके जो छींटे थे वे शर्करा हो गए।

(ख) इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्। स त्रेधा व्यभवत्, स्फ्यस्तृतीयँ रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्, ये ऽन्तः शरा अशीर्यन्त ताः शर्करा अभवन्। तै० सं० ५।२।६॥

अर्थात्—इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र का प्रहार किया, वह [वज्र] तीन प्रकार से हो गया। स्फ्य, रथ और यूप। जो उस [वज्र] के भीतर के शर बिखरे वे शर्करा हो गए।

(ग) तेजो वा अग्ना अदधुर्यच्छर्करा। काठक ८।२॥

अर्थात्—तेज ही अग्नि में रखा जो शर्करा है।

---

१. ओले अथवा हिमपात के समय गिरने वाले हिमकणों को आज भी शिमला प्रदेश में जनसाधारण की भाषा में वज्र अथवा बजरी कहते हैं।

शतपथ में लिखा है—वज्रो वा आपः। १।७।१।२०॥

कौषीतकि में इस की व्याख्या है—आपः इति। तत् प्रथमं वज्ररूपम्। १२।२॥

इन्हीं आपः के हिमभूत कंकर वज्र है। यही इन्द्र का आयुध है।

पूर्व पृष्ठ ६५ पर कपिष्ठल संहिता से ऐसा ही प्रमाण दिया गया है। अग्नि में तेज कैसे धारण कराया गया यह समझने योग्य है।

शर्करा से पृथिवी का दृंहण—पहले पृथिवी दलदल के समान अकठोर थी। उसके ऊपर के तह पर ऊषर और सिकता के उत्पन्न हो जाने पर भी आन्तरिक भाग अभी कठोर नहीं हुआ था। पृथिवी के आन्तरिक भाग में शर्करा की उत्पत्ति होने पर उसका आन्तरिक भाग भी दृढ़=कठोर हुआ। विज्ञान के ग्रन्थों में लिखा है—

(क) **शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्।** मै० सं० १।६।३॥

(ख) **आर्द्रेव ह्रीयमासीत्। तां देवाः शर्कराभिरदृंहत्।** का० सं० २।१॥

(ग) **आर्द्रेव ह्रीयमासीत्। तां देवाः शर्कराभिरदृंहन्।** कपिष्ठल ६।६॥

(घ) **एवमिमां प्रतिष्ठां शर्कराभिः पर्यबृंहन्त।** शत०

इन सब का भाव यह है कि पहले पृथिवी ढीली अथवा आर्द्रा के समान थी। उस में शर्करा की उत्पत्ति हुई और शर्करा के द्वारा पृथिवी का दृंहण हुआ।

नदियों और पर्वतों से भी पृथिवी का दृंहण हुआ, यह आगे लिखेंगे।

आज भी भवन आदि के निर्माण के लिए नींव में शर्करा=कंकर=बजरी कूटकर नींव स्थल की भूमि का दृंहण किया जाता है।

७. अश्मा

शर्करा के अनन्तर अश्मा (=पाषाण) की उत्पत्ति हुई। शतपथ ६।१।३।३ में लिखा है—

शर्करायाः अश्मानम् [असृजत]। तस्मात् शर्कराश्मैव अन्ततो भवति।

अर्थात्—शर्करा से अश्मा को उत्पन्न किया। इसलिए शर्करा अश्मा ही अन्त में बन जाती है।

तस्य [वृत्रस्य] एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः।

शत० ३।४।३।१३॥

अर्थात्—उस वृत्र का ही यह शरीर है जो गिरि और अश्मा हैं।

वृत्र का व्याख्यान आगे होगा।

अश्मा और गिरि आदि का भेद भी आगे लिखा जायगा।

शर्करा के छोटे-छोटे कण एकत्र हुए, और संपीडन द्वारा संहत होकर अश्मा बने, इस का विवेचन पुनः करेंगे।

८. अयः और हिरण्यम्।

अश्मा के अनन्तर अयः=लोह की उत्पत्ति हुई। तै० सं० ४।७।५ में अयः और लोह दो पद हैं। महाभारत में लिखा है—

अश्मनो लोहमुत्थितम्। उद्योग पर्व

अर्थात्—अश्म से लोह उत्पन्न हुआ।

धातुओं में अयः=लोह प्रथम धातु है। लोह के अनन्तर रांगा सीसा आदि अन्य धातुएं उत्पन्न हुईं। हिरण्य अर्थात् सुवर्ण अन्तिम धातु है। सुवर्ण के विषय में रसार्णव तन्त्र ७।६६ में लिखा है—

रसजं[1] क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा।
त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते॥

अर्थात्—हेम की उत्पत्ति रस=पारद के [कृत्रिम] योग से, क्षेत्र=आकर=खान से अथवा नदियों से तथा लोह के सांकर्य से होती है। चौथे प्रकार का सुवर्ण नहीं होता।

लोह किन परिस्थितियों में बना, यह जानना चाहिए।

---

१. विष्णुगुप्त कौटल्य ने आठ प्रकार के सुवर्णों का उल्लेख करते हुए रसविद्धम् शब्द से इसका संकेत किया है। आदि से प्र० ३४।

६. ओषधि-वनस्पति के प्रादुर्भाव से पूर्व की पृथिवी की अवस्था

ओषधि वनस्पतियों के प्रादुर्भाव से पूर्व पृथिवी की अवस्था कैसी थी, इसके निदर्शक कतिपय वचन आगे उद्धृत किए जाते हैं—

(१) काल्वाली कृता हेयं तर्हि पृथिव्यास ।

मा० शत० २।२।४।३॥ का० शत० १।२।४॥

अर्थात्—गञ्जी थी निश्चय से यह पृथिवी ।

(२) अथ वै तर्हि अल्पा पृथिव्यासीद् अजाता ओषधयः ।

अर्थात्—निश्चय से अल्पा पृथिवी थी, नहीं उगी थीं ओषधियां ।

(३) ऋत्ता ह वा इयमग्र आसीत् । तस्यां देवा रोहिण्यां वीरुधोऽरोहयन् । मै० सं० १।६।६।२॥

अर्थात्—लोम रहित[1] निश्चय से यह पृथिवी पहले थी । उसमें देवों ने रोहिणी में वीरुत्=लताओं को लगाया ।

रोहिणी नक्षत्र ने पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों के प्रादुर्भाव में साहाय्य किया, यह जानने योग्य है ।

(४) अथ वा इयं तर्हि ऋत्तासीद् अलोमिका । तेऽब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै यथास्यामोषधयश्च वनस्पतयश्च जायन्ता इति ।

मै० सं० २।५।२॥[2]

अर्थात्—निश्चय से यह ऋत्ता थी लोम-रहिता । वे देव बोले—उस काम के लिए आलंभन करते हैं जैसे इसमें ओषधियां और वनस्पतियां उत्पन्न हों ।

(५) त इमे लोका अभवन् ऋत्ता अनुपजीवनीयाः ।
कथमिमे लोका लोम गृह्णीयुः । जै० ब्रा० २।२४४

---

१. ऋक्ष का अर्थ लोम रहित है, यह अगले उद्धरणों से स्पष्ट है ।

२. तै० सं० ७।४।३१॥ ता० ब्रा० २०।१४।५॥

अर्थात्—वे ये लोक थे ऋक्ष अनुपजीवनीय, प्राण धारण करने के अयोग्य।......किस प्रकार ये लोक लोम ग्रहण करें।

(६) इयं वा अलोमिकेवाग्र आसीत्। ऐ० ब्रा० २४।२२॥

(७) ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि। जै० ब्रा० २।५४॥

अर्थात्—यह निश्चय से लोम रहित के समान आरम्भ में थी। ओषधि वनस्पतियां ही निश्चय से लोम हैं।

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति से पूर्व यह पृथिवी गञ्जी-सी थी। अत एव इसे 'कूर्मपृष्ठनिभा' (कछुए की पीठ के समान कठोर, लोम रहित) भी कहा जाता है।

ओषधि वनस्पति की उत्पत्ति

अयः हिरण्य की उत्पत्ति के पश्चात् पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति में सोम का प्रधान हाथ था। इसीलिए वैदिक ग्रन्थों में लिखा है—

सोम ओषधीनामधिपतिः। अथर्व

अर्थात्—सोम ओषधियों का अधिपति है।

सोम का स्थान द्युलोक है। द्युलोक से पृथिवी पर सोम के अवतरण में वृत्र और आदित्यरश्मियां सहायक होती हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है—

सोमं वै राजानं यत् सुपर्ण आहरत् समभिनत् तस्य वा विप्रुषो अपतंस्ता एवेमा ओषधयोऽभवन्। सर्वा उ ह वै सौम्या ओषधयः। १।३५५॥

अर्थात्—निश्चय से सोम राजा का सुपर्ण ने जो आहरण किया था, भेदन किया था, उसके जो छींटे गिरे, वे ही ओषधियां हुईं। सब ही ओषधियां निश्चय से सौम्य हैं।

बीजोत्पत्ति

सोम और पृथिवी के संयोग से पहले बीच की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् ओषधि वनस्पतियों की। महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है—

बीजमात्रं पुरा सृष्टम्। १८४।१५॥

अर्थात्—बीज-मात्र की उत्पत्ति पहले की।

नाबीजाज्जायते किञ्चित्।२९६।१२॥

अर्थात्—बिना बीज के उत्पन्न नहीं होता कुछ।

ओषधि-विषयक असाधारण तथ्य

ओषधियों की आरम्भ की अवस्था कैसी थी। इस विषय पर मैत्रायणी संहिता से एक आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ता है। उसमें लिखा है—

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् तं वीरुधोऽभ्यरोहन्। असुर्यो वा एता यदोषधयः। ता अतितिष्टिघिषन्. अतिष्टिघं नाशक्नोत्। सोऽशोचत्। सोऽतप्यत्। ततोऽग्निरसृज्यत। तमग्निं सृष्टं वीरुधां तेजोऽगच्छत्। ता अशुष्यन्। न ततः पुरा अशुष्यन।

अर्थात्—प्रजापति ही पहले था। उसके अनन्तर वीरुत् ऊगे। देवत्व रहित (=अग्नित्व से रहित) निश्चय से ये [थीं] जो ओषधियाँ। [प्रजापति ने] उनको हिंसित करना चाहा, [परन्तु] हिंसित (नष्ट) न कर सका। उसने विचार किया, उसने तप किया। तत्पश्चात् अग्नि उत्पन्न हुआ। उस उत्पन्न हुए अग्नि को वीरुधों का तेज प्राप्त हुआ। [तेजोहीन] वे सूख गईं। नहीं उससे पूर्व सूखती थीं।

पृथिवी पर यह अवस्था कब तक रही, यह अनुसन्धेय है। पृथिवी पर अभी भी अनेक ऐसे तृण हैं, जिनकी जड़ें भूमि में सुरक्षित रहती हैं और अनुकूल जलवायु पाकर पुनः फूट जाती हैं।

ऐसा अभिप्राय तै० सं० ५।१।१० में भी है—

न ह स्म वै पुराऽग्निरपरशुवृक्णं दहति।

अर्थात्—पहले अग्नि परशु से वना कटे को नहीं जलाता था।

उस समय वृक्ष केवल जल ऊपर खींचते थे। अग्नि था नहीं। देखो मै० सं० ३ । १ । ६ ॥

मैत्रायणी संहिता में एक और सत्य भी स्पष्ट किया गया है। यथा—

प्राचीनं वै सौमीरोषधयः। प्रतीचीनं रौद्रीः। न हि प्राचीनं शुष्यन्ति। शुष्यन्ति प्रतीचीनम्। मै० सं० २ । १ । ५ ॥

अर्थात्—ओषधियों का मूल भाग सोम-प्रधान रहता है। ऊपर का अन्तिम भाग अग्नि-प्रधान होता है। मूल सूखते नहीं। सूखते हैं ऊपर के भाग।

तुलना करो, शत १।३।६।४॥

प्रतीत होता है, आग्नेय परमाणु ऊपर-ऊपर चलते जाते हैं। जल जितना मूल में रहता है, उतना ऊपर नहीं चढ़ता। यह बात प्रत्यक्षानुकूल है।

आग्नेयी पृथिवी

विज्ञान के ग्रन्थों में पृथिवी को बहुधा आग्नेयी अर्थात् आग्नेय परमाणुओं से ओत-प्रोत कहा है। यथा—

(१) आग्नेयी पृथिवी। तां० ब्रा० १५ । ४ । ८ ॥

अर्थात्—अग्नि से युक्त है यह पृथिवी।

(२) आग्नेयोऽयं लोकः। जै० उ० १ । ३७ । २ ॥

अर्थात्—अग्नि से युक्त है यह [पृथिवी] लोक।

इस लोक को ही प्रधानता से आग्नेय कहा है, और दूसरे लोकों को नहीं, इसका कारण भी जानने योग्य है। अनेक पार्थिव पदार्थों में आग्नेय योग अधिक है और अनेक में न्यून। यथा गन्धक अथवा शुल्बारि (=sulphur) में यह अधिक है। इसी प्रकार शमी, अश्वत्थ और वेणु में अधिक और दूसरे काष्ठों में न्यून। जो धातु अधिकाधिक ताप से पिघलती है, उसमें आग्नेय योग न्यून प्रतीत होता है।

गन्ध युक्त पदार्थ आग्नेय योग के कारण ऐसे हैं। शतपथ ब्रा० ३ । ५ । २ । १७ में कहा है—

गन्धो हैवास्य [अग्नेः] सुगन्धितेजनम् ।

गुग्गुल आदि वृक्ष भी ऐसे हैं। गन्धक में गन्ध का कारण भी यही है। सुवर्ण भी आग्नेय है। (देखो, कपि० ३६।४॥)

अग्निगर्भा पृथिवी

पृथिवी त्वक् पर अधिक अग्नि नहीं है। अतः पृथिवी में अग्नि का सर्वाधिक योग कहाँ है, यह विचारणीय है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

(३) अग्निगर्भा पृथिवी। शत० १४।६।४।२१॥

अर्थात्—अग्नि गर्भ में है पृथिवी के।

याजुष मन्त्र और उसका ब्राह्मण अति स्पष्ट रूप में कहते हैं—

(४) माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं[1] बिभर्तु गर्भ आ (यजुः ११।५७) इति। यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभृयादेवमग्निं गर्भे बिभर्त्विति। शत० ६।५।१।११॥

अर्थात्—माता पुत्र को जैसे उपस्थ (=गोद अथवा गर्भ) में धारण करती है [उसी प्रकार] वह [पृथिवी] अग्नि को[1] धारण करे गर्भ में।

यही तथ्य अन्य प्रकार से—पृथिवी के गर्भ में अग्नि का वास है, यह भाव अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है—

त्रिवृद् हि-इयम् [पृथिवी]। ६।५।५।२॥

अर्थात्—तीन वृतों वाली यह पृथिवी है। इस की विषद व्याख्या ताण्ड्य ब्राह्मण में मिलती है—

---

१. कपिष्ठल कठ ३४।१ में इस मन्त्र के पाठ में अग्नि का विशेषण 'पुरीष्य' है। पुरीष्य अग्नि विषयक एक वचन हम आगे पृ० १२१ पर उद्धृत करेंगे। तथा देखो मै० सं० २।७ ११ का पाठ।

अग्निना पृथिव्या—ओषधिभिः—तेनायं [पृथिवी] लोकः त्रिवृत् । १० । १ । १ ॥

अर्थात्—अग्नि से, पृथिवी से, ओषधियों से यह लोक त्रिवृत् है ।

अग्नि सबसे अन्दर, उसके चारों ओर पृथिवी, और पृथिवी पर ओषधियाँ । सब से अन्दर आग्नेय परमाणु हैं । पृथिवी के अन्दर नदियाँ आदि हैं ।

निस्सन्देह महाभूत अग्नि आदि के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना जगत्-चक्र समझ में नहीं आ सकता ।

एतद्विषयक वर्तमान-विचार—वर्तमान पाश्चात्य वैज्ञानिकों के एतद्विषयक विचारों का संग्रह गेमो के निम्नलिखित वचनों में मिलता है ।

1. It isn't, however, difficult to see that there must have been a time when no such solid crust existed at all, and when our Earth was a glowing globe of melted rocks. In fact, the study of the Earth's interior indicates that most of its body is still in a molten state, and that the "solid ground" of which we speak so casually is actually only a comparatively thin sheet floating on the surface of the molten magma. The simplest way to arrive at this conclusion is to remember that the temperature measured at different depths under the surface of the Earth increases at the rate of about 30°C per kilometer of depth (or 16°F per thousand feet) so that, for example, in the world's deepest mine (a gold mine in Robinson Deep, South Africa) the walls are so hot that an air-conditioning plant had to be installed to prevant the miners from being roasted alive.

At such a rate of increase, the temperature of the Earth must reach the melting point of rocks (between 1200° C and 1800° C) at a depth of only 50 km beneath the surface, that is, at less than 1 per cent of the total distance from the

center. All the material farther below, forming more than 97 per cent of the Earth's body, must be in a completely molten state."[1]

अर्थात्— यह देखना कठिन नहीं, कि कभी पृथिवी-त्वक् ठोस सिक्कड़ रूप में न थी, प्रत्युत पिघली चट्टानों का एक जलता गोला था। पृथिवी के अन्दर का अध्ययन प्रकट करता है कि पृथिवी का अधिकांश अब भी पिघली दशा में है। और "ठोस भूमि" तो तुलना की दृष्टि से एक पतली चादर सी है। यह चादर पिघले द्रव्यों पर तैरती है। पृथिवी के अन्दर का ताप प्रति सहस्र-फुट नीचे की ओर १६ डिगरी फारेनहाईट बढ़ता है। दक्षिण अफ्रीका की सोने की रोबिनसन कान में, जो संसार की सबसे गहरी कान है, दीवारें इतनी गरम हैं कि मनुष्य उसमें भूना जाए, पर उसे ठण्डा रखने का प्रबन्ध है।

पृथिवी का ६७ प्रतिशत अंश पिघली दशा में है।

फिर वही लिखता है—

2. the temperature of the rocks steadily increases as we dig deeper and deeper beneath the surface.[2]

अर्थात्—चट्टानों का ताप जितना हम गहरा पहुँचते जाएँ क्रमशः बढ़ता जाता है।

पुनः वह लिखता है—

3. during the last two billion years the temperature of most of the Earth has remained practically unchanged, and that the cooling effect has been confined to the outer parts of its body.[3]

अर्थात्—गत २०००, ०००, ०००, ००० वर्षों में पृथिवी का ताप लगभग समान रहा है। ठण्डे प्रभाव पृथिवी-त्वक् तक ही सीमित हैं।

इस पर प्रश्न होता है कि क्या यह पृथिवी आरम्भ से ही आग्नेयी थी अथवा उत्तर काल में इस में अग्नि का प्रवेश हुआ। हमारा अध्य-

---

1. Biography of the Earth, p. 27,28. 2. p. 71. 3. p. 99.

यन बताता है कि आरम्भ में पृथिवी आग्नेयी न थी। यदि वह आरम्भ में आग्नेयी होती तो वह आद्यन्त आर्द्रा न होता।[1] निम्नलिखित विवेचन भी इसी तत्व की पुष्टि करते हैं।

अतिदाह से रक्षा–तै० सं० में अग्निचयन के प्रकरण में लिखा है—

क—प्रजापतिरग्निमचिकीषत। तं पृथिव्यब्रवीत्–न मय्यग्निं चेष्यसेऽति मा धक्ष्यति। सा त्वाति दह्यमाना विधविष्ये, स पापीयान् भविष्यसीति। सोऽब्रवीत्–तथा वा अहं करिष्यामि यथा त्वा नाति धक्ष्यतीति। स इमामभ्यमृशत्-प्रजापतिस्त्वा सादयतु तया-देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद, इतीमामेवेष्टकां कृत्वोपाधत्तानति दाहाय। तै० सं० ५।५।२॥

अर्थात् —प्रजापति ने [पृथ्वी पर] अग्नि के चयन की इच्छा की। उस [प्रजापति] से पृथिवी बोली—नहीं मुझ पर अग्नि का तुम चयन करो, मुझे अग्नि अधिक जलाएगा। वह [मैं] तुम्हारे द्वारा जलाई गई काँपूँगी, हिलूँगी।[2] [इसलिए] वह [तुम] पापी होवोगे।

वह [प्रजापति] बोला—वैसा मैं निश्चय से यत्न करूँगा, जैसे [अग्नि] तुम्हें अधिक नहीं जलाएगा। प्रजापति ने इसे छूआ—"प्रजातिस्त्वा सीद" [मन्त्र] से इसी इष्टका को रखकर अग्नि का आधान किया, अधिक जलाने से बचाने के लिए।

तै० सं० में किस सुन्दर प्रकार से अतिदाह से कम्पन का उल्लेख है।

---

१. द्रष्टव्य–पूर्व पृष्ठ ९२-९५ के प्रमाण।

२. पाश्चात्य वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि प्रत्येक द्रव्य के अणु ताप के अधिकाधिक होने पर अधिकाधिक कम्पन अथवा गति करते हैं। गेमो लिखता है—

The molecules of every material body at normal temperature are in a state of permanent motion; and the faster they move, the hotter the body seems. (the Birth and Death of the Sun, p. 19)

इसी संहिता में पुनः लिखा है—

ख—इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेत्, सैता अपस्या अपश्यत्। ता उपाधत्त। ततो वा इमां नात्यदहद्, यदपस्या उपदधाति। तै० सं० ५।२।१०॥ (तु० कपि० ३१।११)

अर्थात्— यह [पृथिवी] निश्चय से अग्नि के अतिदाह से डरी, उसने इन अपस्या [नाम की इष्टकाओं] को देखा, उनको रखा। इस-लिए इस [पृथिवी] को अधिक नहीं जलाया, जो अपस्याओं को रखता है।

ग—इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेत् सैतद् द्विगुणमपश्यत्, कृष्टं चाकृष्टं च। ततो वा इमां नात्यदहद्, यत्कृष्टं चाकृष्टं च भवत्यस्या अनतिदाहाय। तै० सं० ५।२।५॥ (तु० कपि० ३१।५)

अर्थात्—यह [पृथिवी] निश्चय से अग्नि के अति दाह से डरी। उसने इस द्विगुण को देखा, कृष्ट और अकृष्ट को। इसलिए उसने इसे नहीं जलाया। जो कृष्ट और अकृष्ट होता है, वह दाह के अभाव के लिए है।

टिप्पणी—अग्निचयन यज्ञ में पहले वेदि में इष्टकाओं का चयन होता है, तत्पश्चात् अग्नि का आधान किया जाता है। इष्टकाओं का चयन करने से कुण्डस्थ अग्नि का प्रभाव पृथिवी-त्वक् पर अधिक नहीं होता। प्रजापति ने पृथिवी में अग्नि का चयन करते हुए उसे अतिदाह से बचाने के लिए इष्टकास्थानी किन तत्वों की स्थापना की, यह विवे-चनीय है।

तृतीय उद्धरण में पृथिवी की अतिदाह से रक्षा का साधन कृष्ट और अकृष्ट को कहा है। अकृष्ट भूमि प्रायः वह होती है जिस पर बाढ़ के द्वारा लाई गई मिट्टी की तह जम जाती है। वह मिट्टी शीत गुण प्रधान होती है। उस से पृथिवी की अतिदाह से उसी प्रकार रक्षा होती है, जैसे अति प्रकुपित पित्त के रोगी को दाह से बचाने के लिए चन्दन अथवा गाचनी मिट्टी का लेप किया जाता है। इसी प्रकार कृष्ट भूमि में हल आदि के कर्षण से पृथिवी की ऊपरी-त्वक् के विदीर्ण होने से अन्दर की गरमी बाहर निकल

जाती है।

कृष्ट और अकृष्ट भूमि में उत्पन्न ओषधियों द्वारा भूमिस्थ अग्नि के ग्रहण किए जाने से भी पृथिवी की अतिदाह से रक्षा होती रहती है। कृष्ट और अकृष्ट से ओषधियाँ आदि जन्मती हैं। इस क्रिया से पार्थिव अग्नि कैसे अत्यधिक दाह नहीं करता, इसका कुछ ज्ञान अगले प्रमाणों से होगा।

(क) दारुगत अग्निः—महा० शान्तिपर्व अ० ११२ में श्लोक है—

अग्निर्दारुगतो यद्वद् भिन्ने दारौ न दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थ ऋते योगान्न दृश्यते ॥५६॥

अर्थात्—अग्निः दारु में गया हुआ, जिस प्रकार भेदन होने पर दारु के नहीं दिखाई देता।

इस दारुगत पद से स्पष्ट है कि वृक्षों में अग्नि का प्रवेश होता है।

मन्त्रमें—इसका मूल मन्त्र में है—

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥ मै० सं० २।७।१०॥

अर्थात्—गर्भ हो ओषधियों का, गर्भ वनस्पतियों का, हे अग्ने।

(ख) ओषधि—शतपथ २।२।४।५ के अनुसार ओषधि पद का अर्थ है, ओषं धय इति, अर्थात्—दाह शक्ति को धारण कर।

इस से प्रतीत होता है कि ओषधियाँ आदि पृथिवी-गत आग्नेय परमाणुओं को ग्रहण करती रहती हैं। इन में आग्नेय परमाणुओं का प्रवेश जल के साथ होता है, अथवा किसी अन्य प्रकार से, यह विवेचनीय है। यही कारण है कि अत्यधिक आग्नेय परमाणु पृथिवी के अन्दर समाविष्ट नहीं रहते। इस विषय में अगला कपिष्ठल-वचन है—

तस्मादग्निर्मध्यत ओषधीः प्रविष्टः। ४१।७॥

वृक्षों में से कुछ एक में आग्नेय-परमाणु बहुत अधिक होते हैं, इस के प्रमाण भी मिलते हैं। यथा—

(ग) शमी—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।११ में पाठ है—

प्रजापतिः अग्निमसृजत। साऽबिभेत। प्र मा धक्ष्यतीति। तं शम्या अशमयत्।

अर्थात्—प्रजापति ने अग्नि को उत्पन्न किया। वह डरा। यह मुझे अधिक जला देगा। उस [अग्नि को] शमी से शान्त किया।

(घ) अश्वत्थ—पुनः तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।६ में लिखा है—

अग्निर्देवेभ्यो निलायत। अश्वो रूपं कृत्वा। सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्।

अर्थात्—अग्नि देवों से छिपा। [परमाणुओं का] अश्व रूप कर के। वह अश्वत्थ में संवत्सर पर्यन्त ठहरा। यही अश्व-त्थ का अश्वत्थपन है।

वैदिक शब्द किस प्रकार से अपना अर्थ देते हैं, इस सत्य का ओषधि और अश्वत्थ शब्द उज्ज्वल उदाहरण हैं।

स्मरण रहे कि यज्ञीय अग्नि उत्पन्न करने के लिए अश्वत्थ और शमी ही अरणी रूप में रखे जाते हैं।

(ङ) वेणु—शतपथ ब्राह्मण ६।३।१।३१ में कहा है—

अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्। स वेणुं प्राविशत्। स सुषिरः।

अर्थात्—अग्नि देवों से ऊपर भागा। वह बांस में प्रविष्ट हुआ। वह [वेणु] अच्छे सिरः वाला [अर्थात् नाली वाला, खोखला है]।

(च) मुञ्ज—शतपथ ब्राह्मण ६।३।१।२६ का वचन है—

सैषा योनिरग्नेर्यन् मुञ्जः।

अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्स मुञ्जं प्राविशत्। तस्मात् स सुषिरः।

अग्नि-कणों का पृथिवी-प्रवेश—अग्नि किस प्रकार पृथिवी में प्रविष्ट हुआ, इस विषय का कपिष्ठल कठ संहिता में एक मन्त्र है—

ये अग्नयः पुरीषिण आविष्टा पृथिवीमनु।३५।३॥

अर्थात्—जो अग्नियां पुरीषी[1] [अन्दर] प्रविष्ट हुईं पृथिवी में

१. (क) तुलना करो—त्रयोदशाग्नेः चितिपुरीषाणि। शत० ६।२।३।६॥
(ख) अग्नि पुरीष्यम् अङ्गिरस्वदाभरा। मै० सं० २।७।२॥

पीछे से।

ये पुरीषी अग्नियां क्या है, यह अनुसन्धेय हैं। यास्कीय निघण्टु में पुरीष पद जल-नामों में पढ़ा गया है।

हम पूर्व पृष्ठ ११४ पर माध्यन्दिन संहिता का एक मन्त्र और उसका माध्यन्दिन का प्रवचन उद्धृत कर चुके हैं। कपिष्ठल कठ संहिता ३४।१ में उस मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है—

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावुभारुखा।

इस पाठ में अग्नि का विशेषण पुरीष्य है। पुरीषिन् अथवा पुरीष्य, इन दोनों पदों का एक ही अभिप्राय है। (पुरीष्याः=सिकता संमिश्राः। सायण, ऋ० ३।२२।४।।)

पार्थिव-अग्नि सम्बन्धी निम्न ब्राह्मण-वचन देखने योग्य हैं—

अग्निरसि पृथिव्यां श्रितः। तै० ब्रा० ३।११।१।७।।

अर्थात्—तू अग्नि है, पृथिवी में रखा हुआ।

पृथिवी में अग्नि के प्रवेश का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में अधिक स्पष्ट शब्दों में किया गया है। यथा—

अग्निर्देवेभ्यो निलायत। आखूरूपं कृत्वा। स पृथिवीं प्राविशत्।१।१।३।३।। (तु० कपि० ४०।४।।)

अर्थात्—अग्नि देवों से छिपा। आखू रूप करके वह पृथिवी में प्रविष्ट हुआ।

टिप्पणी—यह आखू पार्थिव चूहा नहीं है। अन्तरिक्ष-स्थानीय पशु (=अग्निः और आपः आदि की) अवस्था विशेष है।

आखु रुद्र का पशु—शतपथ और तै० ब्राह्मणों में लिखा है—

आखुस्ते रुद्रस्य पशुः। श० २।६।२।१०।। तै० ब्रा० १।६।१०।२।।

अर्थात्—आखु रुद्र का पशु है।

रुद्र—रुद्र अन्तरिक्षस्थ अग्नि का रूप है। आखु अन्तरिक्षस्थ आग्नेय पशु अथवा विशेष प्रकार के परमाणु हैं। ये आखुवत् लम्बे हैं और जिस प्रकार जंगली चूहा पृथिवी के अन्दर-अन्दर घुसता जाता है

उसी प्रकार ये लम्बे पशु पृथिवी के अन्दर-अन्दर धंसते जाते हैं। वे ही परमाणु देवों से छिपकर पृथिवी में प्रविष्ट हो गए। इस घटना के समय अन्तरिक्ष और पृथिवी में क्या-क्या माया घटी, इसका भी विचित्र प्रकार होगा।

यद्यपि यह गम्भीर विवेचन अभी पूर्णतया हमारी समझ में नहीं आ रहा है, तथापि हमें इतना विश्वास हो गया है कि आधुनिक विज्ञान की अपेक्षा यह अति सूक्ष्म विज्ञान सहस्रों गुणा गम्भीर है।

तीन पुरा कालीन अग्नियाँ—पूर्व पृष्ठ ६६ पर जैमिनीय ब्राह्मण २।४१ के अनुसार तीन अग्नियों का संकेत कर चुके हैं। इस ब्राह्मण का पूरा पाठ इस प्रकार है—

अथ ह वै त्रयः पूर्वे ऽग्नय आसुः, भूपतिः, भुवनपतिः, भूतानां पतिः। अयं वै लोको भूपतिः, अन्तरिक्षं भुवनपतिः, असावेव लोको भूतानां पतिः।[1] अथ ह्ययं भूतिर्नाम।[2] तेषां ह वषट्कारः शीर्षाणि चिच्छेद। त इमास्तिस्रः पृथिवीः प्रविविशुः।

अर्थात्—निश्चय ही तीन अग्नियाँ पहले थीं। भूपतिः, भुवनपतिः, [और] भूतानांपतिः। यही [पृथिवी] लोक भूपतिः है। अन्तरिक्ष भुवनपतिः [और] वही [द्यु] लोक भूतानां पतिः। निश्चय से यह भूति नाम वाला है। उन [तीनों अग्नियों] के निश्चय से वषट्कार ने शिर काट दिए। वे इन तीन पृथिवियों में प्रविष्ट हुए।

टिप्पणी—पहले तीन अग्नियाँ थीं। उनके शिर क्या थे। वे कैसे काटे गए। तीन पृथिवियाँ क्या हैं। उनमें क्या प्रविष्ट हुआ। ये गम्भीर प्रश्न बहुत अधिक विचार योग्य हैं।

पार्थिव अग्निः का स्वरूप—पूर्व पृष्ठ ६५ पर पुराण के प्रमाण

---

१. तुलना, शत० १।३।३।१७।। कपि० ३६।५।। वायुपुराण १०१।२१-२२ में भूतपति, भुवस्पति, और दिवस्पति का वर्णन द्रष्टव्य है।
२. जै० उ० ब्रा० २।४।७ के अनुसार भूतिः का अभिप्राय प्राण है।

से लिख चुके हैं कि अग्नि तीन प्रकार का है। दिव्य अथवा भौतिक, अब्योनि तथा पार्थिव। दिव्य अग्नि का अधिकांश भाग द्युलोक में है। अब्योनिः अग्निः विद्युत-रूप में मिलता है। इसे अबिन्धनः भी कहते हैं। आपः में आक्सीजन रूपी आग्नेय भाग इसका इंधन होता है। पृथिवी-त्वक् पर जो अग्निः काष्ठेन्धन आदि है, वह भी आक्सीजन के प्रभाव से जलता प्रतीत होता है।

प्रश्न होता है पृथिवी-गर्भ का अग्निः ज्वलन-रूप में है अथवा नहीं। यदि ज्वलन-रूप में है तो उसका इन्धन क्या है। पृथिवी-गर्भ में आक्सीजन अधिक नहीं है। वहाँ आपः भी अपने मूल रूप में नहीं ठहर सकते। फिर पार्थिव-अग्नि का स्वरूप क्या है। ये आग्नेय परमाणु किस रूप के हैं। पृथिवी के गर्भ में इनका ताप इतना अधिक क्यों हो गया है। ये समस्याएँ विचारणीय हैं। पुराण ने पार्थिव-अग्नि की पृथक्-संज्ञा करके किसी ऐसे तथ्य का निर्देश किया है जो हमारी समझ में अभी नहीं आया।

यदि ज्वलन रूप में नहीं तो क्या संपीडन के कारण आग्नेय परमाणु अधिक संहत हो रहे हैं।

परिमण्डला पृथिवी

इस काल तक पृथिवी प्रायः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस पृथिवी का स्वरूप (आकार) कैसा है। इसका विवेचन वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है—

स एष प्रजापतिः अग्निष्टोमः परिमण्डलो भूत्वा अनन्तो भूत्वा शये। तदनुकृतीदम् अपि अन्या देवताः परिमण्डलाः। परिमण्डल आदित्यः, परिमण्डलः चन्द्रमाः, परिमण्डला द्यौः, परिमण्डलमन्तरिक्षम्, परिमण्डला इयं पृथिवी। १।२५७॥

अर्थात्—वह यह प्रजापति अग्निष्टोम परिमण्डल रूप हो कर

अनन्त (गोल ?) होकर ठहरा। उसी का अनुकरणरूप अन्य देवता भी परिमण्डल हैं। आदित्य, चन्द्रमा, द्यौ, अन्तरिक्ष और यह पृथिवी परिमण्डल रूप हैं।

परिमण्डल का अर्थ—जिसके सब ओर मण्डल अथवा घेरा (atmosphere) है। दूसरा अर्थ है, जो गोल घेरे में अथवा गोल आवृत हो।

सारा द्यु-लोक परिमण्डल है, यह विशेष ध्यान देने योग्य है।

यही अभिप्राय शतपथ ब्राह्मण में भी व्यक्त किया गया है—

परिमण्डल उ वा अयं [पृथिवी] लोकः।[1] शत० ७।१।१।३७॥

अर्थात्—परिमण्डल रूप है निश्चय से यह [पृथिवी] लोक।

काठक ब्राह्मण में भी ऐसा ही संकेत है—

मण्डलो ह्ययं लोकः। संकलन, पृष्ठ १६।

परिमण्डल का अन्य अर्थ—वैशेषिक दर्शन में परिमण्डल परिमाण का वर्णन मिलता है। वहाँ परिमण्डल परिमाण का अर्थ परम महत् अथवा सर्वव्यापक परिमाण है। सम्भवतः इस भाव से मिलता-जुलता जैमिनीय ब्राह्मण का अनन्तो भूत्वा पाठ है।

पृथिवी को पुराणों में पद्माकारा, अण्डाकारा, छत्राकारा और कटाहाकारा लिखा है। ये सब शब्द गोलाकार रूप के द्योतक हैं।

आईन-स्टाईन—पृथिवी परिमण्डला है। संसार भी परिमण्डल है। इस विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। आईन स्टाईन संसार को परिमण्डल और सान्त मानता है। यथा—

Einstein's finite, spherical universe,...it is possible to compute the **size** of the universe. In order to determine it's radius, however, it is first necessary to ascertain its curvature.[2]

---

१. **एग्लिङ्ग का अनुवाद**—and this world doubtless is circular.

2. The Universe and Dr. Einstein, p. 105.

अर्थात्—आईनस्टाईन के अनुसार यह संसार सीमित और गोलाकार है।..............। इसका गोल घेरा जाना जा सकता है।

प्रकाश-रश्मियां गोल रेखाओं में—इसी विचार के अनुसार आईन स्टाईन ने परिणाम निकाला कि—

Light rays do not travel in straight lines when passing through a gravitational field, for the geometry of the field is such that within it there are no straight lines; the shortest course that the light can describe is a curve or great circle.[1]

अर्थात्—प्रकाश-रश्मियां सीधी रेखाओं में नहीं चलतीं। इसका कारण गुरुत्व शक्ति है।

तिरश्चीन रश्मियां—ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एक मन्त्र है—

तिरश्चीनो विततो रश्मिः। १०।१२६।५॥

अर्थात्—टेढ़ी विस्तृत हुई रश्मियां।

सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम में यह अति पूर्वावस्था का वृत्त है। उस समय अभी सूर्य-जन्म नहीं हुआ था। रश्मियों के प्रसार में वायु का सहयोग प्रतीत होता है। वायु तिरश्चीन बहता है। अतः रश्मियों का टेढ़ापन इससे भी सम्बन्ध रख सकता है।

इसका पूरा अभिप्राय समझने के लिए अधिक गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है।

पाश्चात्य अपर मत—आईन स्टाईन आदि संसार को सान्त मानते हैं। पर अन्य विचारक अनन्त भी मानते हैं और अनेक वैज्ञानिक इन बातों को अभी बुद्धि-सिद्ध नहीं मानते। पाल कौश्कं लिखता है—

The overall figure of the Universe is still far from certainly decided: the exploration of every new field necessarily involves uncertainties and surprises. But the possibility is not excluded that space has a positive curvature

---

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 103.

which entails its closure. There is a better than 50/50 chance, I think, that it is in fact closed and finite.[1]

अर्थात्—संसार का रूप अभी निश्चित नहीं ....। यह सम्भव है कि अवकाश[2] निःसन्देह गोल अथवा टेढ़ापन लिए है। ५० प्रतिशत से अधिक अवसर इस बात का है कि संसार और अवकाश घिरा हुआ और सान्त हैं।

भारतीय ग्रन्थों में सब एक मत हैं कि सम्पूर्ण संसार भूतों के घेरों से घिरा है।[3] उनके परे महान् आत्मा अथवा महत्तत्व का घेरा है। उसके बाहर प्रकृति का घेरा है। उसके परे त्रिपाद् अमृत पर ब्रह्म है। वहाँ न देश है न काल। देश और काल इन्द्रियों के विषय हैं। इन्द्रियाँ उत्पन्न भी देश और काल में हुई थीं। वे अपने मूल से परे नहीं जा सकतीं। पर-ब्रह्म पुरुष सब से परे है। वही अनन्त है। सम्पूर्ण संसार सान्त और प्रकृति के घेरे में बन्द है। (it is finite and closed)

यह विषय स्वतन्त्र विवेचन चाहता है। हम ने यहाँ प्रसंगवश इसका संकेतमात्र किया है।

अयस्मयी पृथिवी

यह पृथिवी लोह-धातु से परिपूर्ण है, इसका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है—

(क) महिदास ऐतरेय का प्रवचन है—

ते [असुरा] वा अयस्मयीम् एवेमां [पृथिवीम्] अकुर्वत्।

ऐ० ब्रा० १।२३॥

अर्थात्—उन असुर-शक्तियों ने लोह-युक्ता ही इस पृथिवी को बनाया।

(ख) कौषीतकि ब्राह्मण में भी इसी भाव की प्रतिध्वनि है—

1. The Expansion of the Universe, p. 143.

२. हम अवकाश नहीं मानते। ३. वायु पु० १०१।१५२-७४॥

[असुराः] अयस्मयीं [पुरीम्] अस्मिन् [अकुर्वत]।

कौ० ८।८ ॥

अर्थात्—असुरों ने लोहमयी पुरी इस पृथिवी लोक में बनाई।

अयस्मयी सूचियां

न केवल पृथिवी लोहमयी है, प्रत्युत इसका लोह सूचियों का रूप भी धारण करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का वचन है—

अस्य वै [भू-] लोकस्य रूपम् अयस्मय्यः [सूच्यः]।

३।६।६।५॥

अर्थात्—इस भू-लोक का रूप लोहमयी सूचियाँ हैं।

ये लोहमयी सूचियाँ कैसे बनी हैं। इसका विस्तार मरुतों और दिशाओं के अध्याय में होगा। दिशाएँ भी इसी प्रभाव से बनी हैं।

इसी का मूल तैत्तिरीय संहिता में इस प्रकार मिलता है—

तेषामसुराणां तिस्रः पुरः आसन्, अयस्मय्यवमा, ऽथ रजता, ऽथ हरिणी। ६।२।३॥

अर्थात्—उन असुरों की तीन नगरियाँ थीं। अयस्मयी छोटी, रजता (रजतमयी) और हरिणी (सुवर्णमयी)।

रजत श्वेत, शुभ्र होता है। आपः और आग्नेय योग से मरुत, वयांसि, पशु और दिव्य आपः रजतवत् रूप उत्पन्न करते हैं। द्यु-लोक में आदित्य रश्मियों का प्रभाव सुवर्ण रूप उत्पन्न करता है।

इसका संकेत ऋग्वेद ७।१६।१४ मन्त्र में भी है। उसमें मही (=पृथिवी) को आयसी अर्थात् लोह युक्ता कहा है।

गेमो का आक्षेप—पृथिवी के चुम्बक-क्षेत्र के कारण पर सन्देह करते हुए गेमो लिखता है—

However, up to the present time, we still do not know what causes this magnetic field, and according to our best knowledge of the properties of the Earth's interior it

should not be there at all! In fact, investigation of the magnetic properties of different substances, such as iron and nickel, proves quite definitely that any trace of magnetization must completely disappear as soon as these substances are heated above the so-called Curie point. Since the temperature inside the Earth reaches values much above the Curie point, one can hardly expect that the observed phenomena can be explained as the result of permanent magnetization. In particular, the most natural hypothesis, according to which the source of terrestrial magnetism is situated in the central iron core, can hardly stand up because seismological evidence seems to show that this iron is completely molten.[1]

अर्थात्—आज तक के अनुसन्धान से यह पता नहीं चला कि पार्थिव चुम्बक[२] क्षेत्र का कारण क्या है। पृथिवी-गर्भ के गुणों का हमारा जितना ज्ञान है तदनुसार पृथिवी-गर्भ में चुम्बक क्षेत्र नहीं होना चाहिए। लोह और निक्कल विषयक चुम्बक शक्ति का गम्भीर अध्ययन बताता है कि इन धातुओं में चुम्बक गुण उस समय लुप्त हो जाना चाहिए जब उनका ताप 'क्यूरी मात्रा' से बढ़ जाता है। क्योंकि भूगर्भ का ताप क्यूरी मात्रा से बहुत अधिक है। अतः किसी स्थिर चुम्बक क्षेत्र का भूगर्भ में होना विश्वास योग्य नहीं, इति।

1. Biography, p. 94.
२. सुश्रुत संहिता की डल्हणकृत टीका में अयस्कान्त के चार भेद कहे हैं। यथा—'अयस्कान्तः पाषाणविशेषः। आकर्षक-द्रावक-चुम्बक-भ्रामकभेदाच्चतुर्विधः।' सूत्रस्थान अ० ८।१६॥ हम पहले पृष्ठ १०६ पर लिख चुके हैं कि अश्मा से लोह की उत्पत्ति हुई। निस्सन्देह अयस्कान्त वह पाषाण अथवा अश्मा है जिसमें लोह-मात्रा अत्यधिक है। देखो महा० शान्तिपर्वस्थ वचन—
अभिद्रवत्ययस्कान्तमयो निश्चेतनं यथा। २१३।४॥

इसमें सन्देह नहीं कि पृथिवी एक बड़ा चुम्बक है। लिंकन वार्नेट लिखता है—

The earth, moreover, is a big magnet—a peculiar fact which is apparent to anyone who has ever used a compass.[1]

अर्थात्—पृथिवी एक बड़ा चुम्बक है। जिस किसी ने भ्रामक सूची का प्रयोग किया है, वह यह तथ्य जानता है।

टिप्पणी—इस विषय पर अभी अधिक प्रमाण हमने एकत्र नहीं किए। सम्भव है, पृथिवी-गर्भ का तापमान अनुमानित से थोड़ा हो, और पृथिवी-गर्भ के आग्नेय परिमाणु किन्हीं विशेष नियमों में काम करते हों।

भूरेखा—पृथिवी के विषय में एक बात लिखनी आवश्यक है। विष्णु पुराण में भूरेखा और उस के चलन का उल्लेख है। यथा—

यदा विजृम्भते ऽनन्तो मुदा घूर्णितलोचनः।
तदा चलति भूरेखा[2] साद्रिद्वीपाब्धिकानना ॥[3]

अर्थात्—जब अंगड़ाई लेता है अनन्त, प्रसन्नता से घूरते हुए नेत्रों वाला [शेष], तब चल पड़ती है भूरेखा, साथ पर्वतों, द्वीपों, समुद्रों और वनों के।

यह भूरेखा क्या है, इसे जानना चाहिए।

वे नियम जानने चाहिएं। अथवा यह भी सम्भव है कि पृथिवीगत लोह अन्तरिक्षस्थ मरुतों के वैद्युत-प्रभाव के कारण सूचियों के रूप में बद्ध हो गया हो, और वही चुम्बक-प्रभाव प्रकट करता हो। निस्सन्देह भविष्य का अध्ययन इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेगा।

सर्पराज्ञी

वैदिक ग्रन्थों में पृथिवी को कई वार सर्पराज्ञी कहा है। यह विशेषण

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 15.
२. गोरखपुर संस्करण का पाठ है—भूरेवा।
३. २।५।२३॥ अद्भुतसागर, पृ० ३८३।

बड़ा विचित्र है। इस नाम का कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में बताया है। यथा—

(क) इयं [पृथिवी] वै सर्पराज्ञी। इयं हि सर्पतो राज्ञी।[1]
ऐ० ब्रा० ५।२३॥

अर्थात्—यह पृथिवी निश्चय सर्पराज्ञी है। यह पृथिवी निश्चय सर्पण करने वालों अथवा रींगने वालों की राणी है।

प्रश्न होता है कि ये सर्पण करने वाले कौन हैं। इसका उत्तर भी प्रवचनकार स्वयं देते हैं। यथा—

(ख) देवा वै सर्पाः। तेषामियं [पृथिवी] राज्ञी। तै० ब्रा० २।२।६।२॥

अर्थात्—[इन्द्र, मित्र, बृहस्पति, सूर्य आदि] देव ही सर्प हैं। उन की यह पृथिवी राणी है।

देवों में इन्द्र, मित्र आदि प्राण हैं।[2] तथा बृहस्पति आदि ग्रह अथवा लोक हैं। ये सब रींगते हैं। इन की गतियों में रींगने के अनेक रूप हैं।

ब्रह्मिष्ठ महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

(ग) इमे वै लोकाः सर्पाः। ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च। श० ७।४।१।२५॥

अर्थात्—ये ही लोक सर्प हैं। वे इस सब के साथ सर्पण करते हैं, जो यह [पृथिवी पर प्राण आदि और अन्तरिक्ष में पशु, वयांसि आदि] कुछ है।

इमे वै लोकाः सर्पा यद्धि किं च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति। श० ७।४।१।२७॥

इन वचनों में अनेन सर्वेण पद ध्यान देने योग्य हैं। पृथिवी के साथ उसका सारा मण्डल भी सर्पण करता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष और

१. तुलना करो, जै० ब्रा० ३।३०४॥

२. देखो, शतपथ ६।१।१।२—स यो ऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रः।

द्युलोक भी वायुसूत्र में बँधे अपने पूरे मण्डलों के साथ सर्पण करते हैं।

सर्पण के प्रकारों के लिए प्रमाण अन्वेष्टव्य हैं।

देवायतन—पृथिवी और आदित्य लगभग समान रूप से सब देवों के आयतन हैं। शतपथ के वचन हैं—

पृथिवी वै सर्वेषां देवानाम् आयतनम्। १४।३।२।४॥
अन्तरिक्षं वै सर्वेषां देवानाम् आयतनम्। ६॥
द्यौर्वै सर्वेषां देवानाम् आयतनम्। ८॥
सूर्यो वै सर्वेषां देवानाम् आत्मा। ६॥

अर्थात्—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सब देवों के आयतन हैं। सूर्य सब देवों का आत्मा है।

भूत चतुष्टय और सारे प्राण (gases) देव हैं। ये पृथिवी पर हैं और सूर्य से भी इनका सम्बन्ध है।

सर्प-स्थान—मन्त्रों में सर्पों के स्थानों का वर्णन-विशेष मिलता है। उससे पता लगता है कि इन सर्पों का स्वरूप क्या हो सकता है।

नमो अस्त सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥
य इषवो यातुधानानां ये वनस्पतीनाम्।
ये ऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।
ये अमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
ये अप्सु षदांसि चक्रिरे तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥[1]

मै० सं० २।७।२०१-२०३॥

अर्थात्—ये सर्प पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्युलोक में हैं। ये यातुधानों और वनस्पतियों के इषु हैं। ये अवटों में हैं। ये द्यु-लोक से परे रोचन-दिव में हैं। ये सूर्य की रश्मियों में हैं।

अङ्गिरसोमुख सर्प जै० ब्रा० ३।३८१ में वर्णित हैं। अङ्गिरा नामक आदित्य रश्मियाँ हैं, ऐसा आगे लिखेंगे।

---

१. **दिव्य सर्पों का उल्लेख आगे भी पृ० १४० पर किया है।**

इन सब सर्पों की राज्ञी पृथिवी है। ऋग्वेद का आयं गौः पृश्निः १०।१८६ सूक्त सर्पराज्ञी का है। यह विषय कठिन है और अभी हमारे लिए पूरा स्पष्ट नहीं हुआ।

बिस और दधि-रूपा पृथिवी

यह पृथिवी बिस-रूपा है। बिसों में छिद्र और खोखलापन रहता है। यही पृथिवी की अवस्था है। इसके अन्दर की मृत्तिका और रेत आदि के बीच-बीच में छिद्र हैं। शतपथ का लेख है—

यानि बिसानि तान्यस्यै पृथिव्यै रूपम्। ५।४।५।१४॥

पुनश्च याज्ञवल्क्य-शिष्य माध्यन्दिन लिखता है—

दधि हैवास्य [भू-] लोकस्य रूपम् ।७।५।१।३॥

अर्थात्—दधि ठीक इस भूलोक के रूप के समान है। दही के ऊपर मलाई रहती है। यह शुष्क और सिक्कड़ के समान अधिक संहत होती है। पृथिवी के ऊपर भी एक संहत भाग (crust) रहता है। इस संहत भाग के नीचे अल्प-संहत और आर्द्र भाग रहता है। इस भाग में कुछ-कुछ जल भी रहता है।

पृथिवी अन्तर्गत महीधर—विष्णु धर्मोत्तर ३।३०६ में निम्न-लिखित वचन है—

अपाम् अधस्ताल् लोको वै तस्योपरि महीधराः।
नागानामुपरिष्टाद् भूः पृथिव्युपरि मानवाः ॥४४॥

अर्थात्—आपों का नीचे लोक है। उसके ऊपर महीधर हैं। इन महीधरों अथवा नागों के ऊपर भूः है और पृथिवी पर मानव हैं।

इन महीधरों और नागों का स्वरूप जानने योग्य है।

वातवलय—जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की सुखबोध टीका में लिखा है, पृथिवी से ऊपर घनवात, अम्बुवात, और तनुवात रूपी तीन वलय हैं।[1]

---

१. अ० ३, पृष्ठ ४६, ४७।

ब्रह्माण्ड पुराण में पृथिवी-विषय में लिखा है—

पृथिव्या मण्डलं कृत्स्नं घनतोयेन धार्यते।
घनोदधिः परेणाथ धार्यते घनतेजसा॥२५॥
बाह्यतो घनतेजश्च तिर्यगूर्ध्वं तु मण्डलम्।
समन्ताद् घनवातेन धार्यमाणं प्रतिष्ठितम्॥२६॥
घनवातं तथाकाशम् आकाशं च महात्मना।

अर्थात्—पृथिवी मण्डल के गिर्द घनतोय, उससे परे घनतेज, उसके बाहर तिर्यग् और ऊर्ध्व घनवात है। उससे परे आकाश अथवा अन्तरिक्ष है।

नवम अध्याय

अन्तरिक्ष

वाजसनेय याज्ञवल्क्य का विशद वर्णन--मानव धर्मशास्त्र और पुराणों आदि में हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति आदि एक ही महद् अण्ड से सारे जगत् की उत्पत्ति वर्णित है। पर पुराणों में कोटिशः अण्डों का उल्लेख भी है। याज्ञवल्क्य के शिष्य माध्यन्दिन ने तीन लोकों का रचन महद् अण्ड से उत्पन्न पृथक्-पृथक् आण्डों से कहा है। तदनुसार सृष्टि-रचन-क्रम में अन्तरिक्ष का दूसरा स्थान है। उसका व्याख्यान निम्न-लिखित है—

सोऽकामयत प्रजापतिः। भूय एव स्यात् प्रजायेत इति। सोऽग्निना पृथिवीं मिथुनं समभवत्। ततः आण्डं समवर्तत। तदभ्य-मृशत्। पुष्यतु इति पुष्यतु। भूयो ऽस्तु इत्येव तदब्रवीत्॥१॥ स यो गर्भो ऽन्तरासीत् स वायुरसृज्यत। अथ यदश्रुसंक्षरित-मासीत् तानि वयांसि-अभवन्। अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ता मरीचयोऽभवन्। अथ यत् कपालमासीत् तदन्तरिक्षम-भवत्॥२॥६।१।२।१,२॥

अर्थात्—उस [प्रजापति] ने कामना की। अधिक ही हो। प्रजा उत्पन्न करे। वह अग्नि के द्वारा पृथिवी के साथ मिथुन रूप हुआ। उससे आण्ड उत्पन्न हुआ। उस [आण्ड] को छुआ। पुष्ट होवे, पुष्ट होवे। अधिक होवे। यह ही वह बोला। वह जो गर्भ अन्दर था वह वायु उत्पन्न किया गया। फिर जो आँसु गिरे वे वयांसि हुए। फिर जो कपाल में रस

लिप्त था, वे मरीचि हुए। और जो कपाल था वह अन्तरिक्ष बना।

इस वचन में निम्नलिखिति तथ्य ध्यान-विशेष योग्य हैं—

१. अग्नि और पृथिवी का मिथुन।

२. अण्ड के पुत्र आण्ड की उत्पत्ति।

३. आण्ड के अन्दर गर्भ।

४. वायु-सृजन।

५. वयांसि-उत्पत्ति।

६. मरीचि-प्रादुर्भाव।

७. अन्तरिक्ष-अस्तित्व।

अन्तरिक्ष क्या है—पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अन्तरिक्ष और उस में होने वाली माया का पहले अणु-मात्र ज्ञान न था। यूनानी ग्रन्थों के आधार पर वे इसे (ether) अथवा किसी अनुमानित द्रव्य का स्थान मानते थे। फिर ईथर के स्थान में शून्य (space) का विचार प्रस्तुत किया गया। तत्पश्चात् इस शून्य में (cosmic rays) आदि का अस्तित्व माना गया। अब शून्य का विचार भी शिथिल पड़ रहा है, और इस शून्य में गैस आदि किसी सूक्ष्म द्रव्य का विचार सामने आ रहा है।

वस्तुतः यह सत्य है कि अन्तरिक्ष के यथार्थ ज्ञान के बिना पार्थिव माया तथा सौरी क्रियाएँ पूरी समझ में नहीं आ सकतीं। पृथिवीगत चुम्बकीय-प्रभाव इसका उदाहरण हैं। सूर्य से वर्षा का सम्बन्ध भी अन्तरिक्ष के कारण है।

अन्तरिक्ष का विशद वर्णन वैदिक-ग्रन्थों में मिलता है। अन्तरिक्ष की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अब लिखा जाता है।

व्यापक आपः में प्रजापति था। प्रजापति से भूलोक पृथक् हुआ। अब आपः में उपस्थित अग्निः का पृथिवी से मिथुन हुआ। यह मिथुन किन प्रभावों से हुआ, यह ब्राह्मण में स्पष्ट नहीं किया गया। प्रजापति की कामना कैसे हुई, यह भी विचारणीय है। प्रजापति की नाभि से

अन्तरिक्षोत्पत्ति का सम्बन्ध स्पष्ट है। ऋग्वेद १०।९०।१४ में मन्त्रभाग है—

नाभ्याः आसीद् अन्तरिक्षम्।

अर्थात्—नाभि से था यह अन्तरिक्ष।

अन्तरिक्ष में वायु का प्रधान स्थान हुआ।

१. **वायु-सृजन**—भूत वायु पहले विद्यमान था। यह वायु अपर-वायु अथवा अपर-काल में जन्मा वायु है। इसमें पवन अर्थात् बहने की विशिष्ट-शक्ति उत्पन्न हुई। इस वायु ने व्यापक आपः पर जो प्रभाव डाला, वह अज्ञात है।

अन्तरिक्ष दीप्ति—यह वायु अन्तरिक्ष में दीप्त रहता है। जै० ब्रा० का प्रवचन है—

वायुर् अन्तरिक्षे [दीप्यते]। १।१६२॥

अर्थात्—वायु अन्तरिक्ष में दीप्त होता (चमकता) है।

याजुष मन्त्र में भी ऐसा भाव है—

वायुरसि तिग्मतेजाः। माध्य० १।२४॥

अर्थात्—वायु हो तीक्ष्ण तेजयुक्त।

ऋषिष्ठ याज्ञवल्क्य ने इस भाव को अत्यधिक स्पष्ट किया है—

प्राणेन वाऽग्निर्दीप्यते। अग्निना वायुः। वायुना-आदित्यः। आदित्येन चन्द्रमाः। श० १०।६।२।११॥

अर्थात्—प्राण से अग्नि दीप्त होता है। अग्नि से वायु। वायु से आदित्य। आदित्य से चन्द्रमा।

वस्तुतः वयांसि, मरीचि और पशु आदि अन्तरिक्ष में अग्निजन्य हैं। उनमें आग्नेय-अंश है जो वायु की दीप्ति का कारण है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में भी वायु के तेज का उल्लेख है। यथा—

वायोष्ट्वा तेजसा। सूर्यस्य त्वा वर्चसा। १।७।३॥

अर्थात्—वायु के तुझे तेज से।

ब्रह्माण्ड पुराण में भी—**वायोर्भाभिः** प्रयोग इसी बात को बताता है।

तिर्यक् गति—अन्तरिक्ष में सूर्य-रश्मियों की ऊपर से नीचे की ओर गति के समान वायु की गति नहीं होती, प्रत्युत वायु तिरछी गति में चलता है। इस का कारण है। अन्तरिक्षस्थ मरुत सारे अन्तरिक्ष में और पृथिवी मण्डल के ऊपर और मध्य में एक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। उस से वैद्युत-वायु और अपर वायु की तिर्यक् गति हो जाती है।

जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है—

तस्माद् अयं वायुः अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते।
३। ३१०॥

नाड़ियाँ—वायु की नाड़ियों का उल्लेख विष्णु पुराण द्वितीय अंश, अध्याय ६ में है—

वायुनाडीमयैर्दिवि। ६।

ये नाड़ियाँ द्युलोक तक जाती हैं।

वात-बन्धन—वायु के बन्धन में ही बँधे तारे, नक्षत्र और सूर्य, चन्द्र अपनी गतियाँ कर रहे हैं। (विष्णु पुराण, २। ६। ३॥)

यही भाव शतपथ ब्रा० में है—

तदसावादित्य इमान् लोकान् सूत्रे समावयते तद् यत् तत् सूत्रं वायुः सः। ८। ७। ३। १०॥

अर्थात्—तो वह आदित्य इन लोकों को सूत्र में परोए है। वह सूत्र वायु है।

वयांसि—वयः का सामान्य अर्थ पक्षी है। पर ये वयांसि पार्थिव अथवा पृथिवी मण्डल में घूमने वाले पक्षियों से सर्वथा भिन्न हैं। इन का सम्बन्ध अग्नि से अवश्य है। तै० सं० ५। ७। ६ में वचन है—

वयो वा अग्निः। यदग्निचित् पक्षिणोऽश्नीयात् तमेवाग्निम् अद्यात्।

अर्थात्—वयः निश्चय अग्नि है। जो अग्निचित् पक्षियों को खाए, उस अग्नि ही को खाए।

इस वचन में पक्षी पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि वयः से मानुष

अथवा पार्थिव पक्षी अभिप्रेत नहीं।

वयः अग्नि का क्या रूप है, यह अध्ययन-योग्य है। अन्तरिक्ष का पिता अग्निः और माता पृथिवी है। अतः अन्तरिक्षस्थ वयः में पैतृक अग्नि का प्रभाव अवश्य है। ऋचा में भी ऐसा संकेत है—

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।

ऋ० १०।१४०।१॥

अर्थात्—हे अग्ने तेरा श्रवः, वयः बहुत चमकते हैं [जैसे] अर्चियां हे विभावसो। (तथा यजुः १२।१०६॥)

माध्यन्दिन शतपथ में इस मन्त्र के व्याख्यान में कहा है—

धूमो वा अस्य [अग्नेः] श्रवो वयः।७।३।१।२९॥

अर्थात्—धूम इस अग्नि का निश्चय श्रवः और वयः है।

इस से प्रतीत होता है, ये श्रवांसि और वयांसि [अन्तरिक्षस्थ पक्षी] अग्नि के धूम-कण हैं। इन में कुछ दीप्ति (चमक) रहती है।

वयः से अग्निः का अमृतत्व—वयांसि अग्नि से उत्पन्न हुए। उन्होंने अन्तरिक्ष को अपना आयतन बनाया। और उन के द्वारा अग्निः अमृत हो गया। ऋग्वेद कहता है—

अग्निः अमृतो ऽभवद् वयोभिः।१०।४५।८॥

अर्थात्—अग्नि अमृत हुआ वयांसि से।

मर्त्य अग्निः—वेद में पूर्व अग्निः को मरणधर्मा कहा है। अग्निः एक देव है। देव पहले मर्त्य थे। शतपथ में लिखा है—

मर्त्या ह वा ऽअग्रे देवा आसुः।११।१।२।१२॥

इन्द्र, अग्निः[1], आदित्य, वायु आदि देव पहले मर्त्य थे। ये उत्पन्न होते थे और मर जाते थे। तत्पश्चात् ये देव अमर हुए। इस कारण

१. अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्। ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त। तै० सं० २।६।६॥ चत्वारो वै देवानां होतार आसन्। भूपतिः, भुवनपतिः, भूतानां पतिः, भूतः। तेषां त्रयो होत्रेण प्रामीयन्त। कपिष्ठल सं० ३९।५॥

वेद कहता है, अग्निः अमृत हुआ, वयांसि से। यह अमृतत्व वयांसि ने कैसे दिया, इस का ज्ञान भी वेद और ब्राह्मण में मिल सकेगा।

पारस्परिक स्थैर्य सिद्धान्त—प्रकृति के विकार इस संसार में इन देवों आदि में अमृतत्व आया। सूर्य जो पहले रोचना-रहित था, रोचन करने लगा। चन्द्र पृथिवी पर प्रकाश नहीं डालता था, वह नियमबद्ध होकर प्रकाश डालने लगा। ग्रह पहले अपनी अथवा अपने ज्ञाति की राशि में ही चक्र काटते थे, फिर वे विविध राशियों में चक्र काटने लगे। तब से सूर्य-चन्द्र का उपराग हुआ। ये सब घटनाएँ जिस महान् नियम में हुईं, उसे हम पारस्परिक स्थैर्य-नियम (law of mutual stability) का नाम देते हैं। इस पर पृथक् अध्याय में लिखेंगे।

वयांसि-उत्पत्ति का स्पष्टीकरण—वायु के साथ वयांसि-उत्पत्ति का सामान्य उल्लेख करके एतद्विषयक एक अन्य वचन आगे उद्धृत किया जाता है—

प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः। तानीमानि वयांसि। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। द्विपाद् वा अयं पुरुषः। तस्माद् द्विपादो वयांसि। श० २।५।१।१॥

अर्थात्—प्रजापति की प्रजाएँ वयांसि हैं। ये द्विपाद हैं।

अन्तरिक्षस्थ वयांसि द्विपाद हैं, इस गम्भीरता का रहस्य भी खुलने योग्य है।

(ख) जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है—

तस्य ह वज्रेण शीर्षाणि प्रचिच्छेद। तान्येव वयांसि-अभवन्। तद् यत् सोमपानम् आसीत् स कपिञ्जलोऽभवत्। तस्मात्स बभ्रुरिव। बभ्रुरिव हि सोमः। अथ यत् सुरापानम् आसीत् स कलविङ्कोऽभवत्। तस्मात्स मत्त इवाक्रन्दति। अथ यद् अन्नादनम् आसीत् स तित्तिरिः-अभवत्। तस्मात्स बहुरूप इव। २।१५४॥

अर्थात्—उस [त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र] के निश्चय वज्र से सिर काट दिए। वे ही वयांसि हुए। तो जो सोमपान [शीर्ष] था, वह कपिञ्जल हुआ। अतः वह [कपिञ्जल] भूरे के समान [है]। भूरे के समान ही सोम [है]। फिर जो सुरापान [शीर्ष अथवा मुख] था, वह कलविङ्क हुआ। अतः वह मत्त के समान शब्द करता है। फिर जो अन्न खाने वाला [मुख] था, वह तित्तिरि हुआ। अतः वह बहुरूप के समान [होता है।]

टिप्पण—यह त्रिशीर्षा विश्वरूप है। इस का व्याख्यान आगे होगा। वह त्रिशीर्षा इस पृथिवी से लेकर परम दूर लोकों तक फैला हुआ था। इन्द्र ने उस का वध किया। उस और उसके पश्चात् वृत्र रूप महामेघ (nebula[1]) से आपः-परमाणु आग्नेय प्रभाव से वयांसि बने।

पहले वयांसि अन्तरिक्ष बनते समय बने। उस समय वृत्र का अस्तित्व नहीं था। उस समय अभी आदित्य-जन्म भी नहीं हुआ था। वृत्र अंशों से बनने वाले वयांसि उत्तरकालिक थे। विज्ञान को यह बताना पड़ेगा, कि ये अन्तरिक्षस्थ कपिञ्जल, कलविङ्क और तित्तिरि कैसे परमाणु अथवा परमाणु-समूह से उत्पन्न पदार्थ हैं। ये पार्थिव पक्षी नहीं हैं।

ये वयांसि श्रेणियों में चलते हैं। ऋ० ५।५६।७ में कहा है—

वयो न ये श्रेणीः पप्तुः।

अर्थात्—ये मरुतः जो वयः के समान श्रेणियों में गिरते हैं।

वेद ने इस बात को अधिक स्पष्ट किया है—

दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम्। यजुः १८।५१॥

अर्थात्—दिव्य सुपर्ण को वयः से बड़े को।

दिव्य सुपर्ण क्या है, वह वयः से महान् कैसे है, यह जानना चाहिए।

तृतीय सृजन—तै० सं० ३।१।१ के अनुसार प्रजापति की एक सृष्टि में प्रथम सर्प[2] और द्वितीय वार वयांसि उत्पन्न हुए। तथा जै० ब्रा०

---

१. **नेबूला शब्द का पहला अर्थ मेघ ही था।**

२. **इन दिव्य सर्पों का उल्लेख भगवद्गीता अध्याय ११ में मिलता है—**
उरगांश्च दिव्यान् ।१५। ये उरग पार्थिव नहीं हैं।

२।२२८ के अनुसार प्रथम सरीसृप, द्वितीय मत्स्य और तृतीय वयांसि उत्पन्न हुए। ये दोनों क्रम अभी हम समझ नहीं सके।

आश्चर्यकरी माया—तै० सं० ५।६।४ तथा कपिष्ठल संहिता ३५।३ में एक विलक्षण घटना उल्लिखित है। यथा—

सर्वा ह वाइयं वयोभ्यो नक्तं दृशे दीप्यते। तस्मादिमां वयांसि नक्तं नाध्यासते। अपां वा एष [अग्निः] कुलायः। तस्मादेन-माप: प्रहारुकाः। अपां ह्येष कुलायः।

अर्थात्—सारी निश्चय यह पृथिवी वयांसि के लिए रात्रि समय रूप में (दिखने में) चमकती है। अतः इस [पृथिवी पर] वयांसि (दिव्य और मानुष=पार्थिव पक्षी) रात्रि समय नहीं बैठते। आपः का निश्चय यह अग्निजाल[1] है। अतः इस अग्नि को आपः लिए चलते हैं।

टिप्पण—(क) यह सारी पृथिवी रात्रि समय चमकती है। एक ऋचा भी यही भाव प्रकट करती है—

ज्योतिष्मतीम् अदितिं धारयत् क्षितिम्। ऋ० १।३६।३॥

अर्थात्—तेजो युक्त चमकने वाली, अदीना को धारण करती है क्षिति अर्थात् अग्नि की निवास-योग्या को।

इससे स्पष्ट है कि पृथिवी ज्योतिष्मती है।

(ख) दिन समय सूर्य तेज के कारण पृथिवी का तेज मन्द अथवा दृष्टि से ओझल रहता है। रात्रि समय वह तेज पक्षियों को दिखाई पड़ता है।

(ग) पर मनुष्यों को वह तेज दिखाई नहीं पड़ता। वयांसि और पार्थिव पक्षियों की आँख अवश्यमेव अधिक तीक्ष्ण है। इसलिए उन्हें यह पृथिवी तेजो युक्ता दिखाई पड़ जाती है।

(घ) अतः पक्षी रात्रि समय पृथिवी पर नहीं बैठते। वे इसके तेज से डरते हैं। कबूतर, चिड़िया, चील, घुग्घी, काक, तोता आदि सब पक्षी

---

१. तुलना करो, सूर्यः किरणजालेन, ब्रह्माण्ड पु० २।२२।१३॥

रात्रि समय वृक्षों पर बैठते हैं। अन्य पक्षियों के विषय में यह तथ्य देखने योग्य है।

(ङ) यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य है, और वैदिक ऋषियों की असाधारण सूझ का द्योतक है। गम्भीर निरीक्षण (observation) का यह मुंह-बोलता उदाहरण है।

(च) आपः में आग्नेय परमाणुओं का जाल बना है। जिस प्रकार जाल बाँध लेता है, उसी प्रकार आपः के परमाणुओं को अग्नि ने अपने जाल में बाँध रखा है। इसी कारण उदक सामान्यतया संहत रहते हैं।

३. मरीचयः (मरुतों में एक)

जन्म—वायु के साथ मरीचियों का भी जन्म हुआ। इनका पिता भी अग्नि है। इसलिए इनमें आग्नेय अंश विद्यमान है। जैमिनीय ब्राह्मण में इनकी चिंगारियों से उपमा दी है—

मरीचयो विस्फुलिङ्गाः । १।४५।।

मरुतों में एक—भगवद्गीता के दशम अध्याय में भगवान् कृष्ण ने विभिन्न वस्तु-जातियों में से श्रेष्ठतम के साथ अपना सम्बन्ध प्रकट किया है। इस प्रसङ्ग में वे कहते हैं—

मरीचिः मरुताम् अस्मि ।१०।२१।।

अर्थात्—मरीचि मरुतों में हूँ।

इससे स्पष्ट है कि उनचास (४९) मरुतों में मरीचि सर्वश्रेष्ठ है।

मरुतः स्वरूप—अन्तरिक्ष-विज्ञान समझने के लिए आपः, अपां नपात्, वायु, वयांसि, मरीचयः, (तथा मरुद् गणों) पशुः, सर्प, रजः और दिशाओं आदि का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है। इन सबका अन्तरिक्ष में वास है। अन्तरिक्ष शून्य नहीं।

इनमें से मरुतों के विषय में निम्न बातें अति स्पष्ट हैं—

१. **गण**—मरुतों के गण हैं। ऋ० ५।५३।१० में **गणं मारुतं**, पद

हैं। यजुः ३३।४५ में **मारुतं गणं**, तथा यजुः ७।३७ में **सगणो मरुद्भिः** पाठ हैं। ताण्ड्य ब्रा० १९।१४।२ का वचन है— **गणशो हि मरुतः**, गण-गण में मरुतः हैं। शतपथ ब्रा० ९।३।१।२५ में **सप्त-सप्त हि मारुता गणाः**, सात-सात का मरुतों का एक गण है। यजुः २४।१६ में **सान्तपन, गृहमेधी,** और **क्रीडी** तीन प्रकार के मरुतः हैं। इनमें से क्रीड़ी विचित्र खेल खेलते हैं।

२. **रश्मियाँ**—मरुत आपः कणों की विद्यु त्-युक्त रश्मियां हैं। ऋ० ५।५७।४ में उन्हें **वातत्विषः**, वात की दीप्ति वाले कहा है। उनकी दीप्ति सूर्य-रश्मियों के समान है। अतः ऋ० ५।५५।३ में उनकी तुलना **सूर्यस्येव रश्मयः** कहकर की है। ताण्ड्य ब्रा० १४।१२। ९ के अनुसार **मरुतो रश्मयः**, मरुत् रश्मि रूप हैं। हमने इन्हें विद्यु द्-युक्त रश्मियां इसलिए कहा है कि ऋ० ५।५।४२ में मरुतों के विषय में **सं विद्युता दधति**, विद्यु त् के साथ जुड़ते हैं, पाठ है। पुनः ऋ० ५।५४ में **विद्युन्महसः**, विद्यु द्युक्त कहा है।

यास्क अपने निरुक्त अध्याय ११ में मध्यमस्थानी देवगणों में मरुतों को प्रथमागामी लिखता है। उसने जो ऋचा (ऋ० १।८८।१) उद्धृत की है, उस में मरुतों का विशेषण, विद्यु न्मद्भिर्मरुतः है। वहाँ दूसरा विशेषण, स्वर्कैः है, अर्थात् अच्छी अर्चियों के साथ। मरुत् कण जब तक विद्यु त्-युक्त न हों तब तक ऐसा रूप धारण नहीं कर सकते। यह उन का शाश्वत रूप है, केवल मेघों के समय का नहीं।

मैकडानल और मरुतों का विद्युत्-स्वरूप—अपने महान् अज्ञान के कारण वेदों को बर्बर (primitive) ज्ञान समझ कर, और उन में विद्युत् (electricity) के ज्ञान का अभाव मानकर मैकडानल ने मरुतों का सम्बन्ध तडित् (lightning) से जोड़ा है। इस प्रकार मतान्ध लोगों ने वेद के महान् ज्ञान का स्थूल रूप भी नहीं जाना। मैकडानल लिखता है—

They are very often associated with lightning: all the

five compounds of **vidyut** in the R. V. are almost exclusively descriptive of them. (Vedic Reader, p. 21)

जिन मन्त्रों में **दिव्य आपः** का वर्णन है, जिन मन्त्रों में अग्नि के हृदय के आछिन्दन का कथन है, जिन मन्त्रों में वात-रश्मियों का उल्लेख है, उन में विद्युत् का ज्ञान नहीं, यह किसी अबोध बालक का कथन है। अस्तु।

वस्तुतः मरीचि आदि मरुत् स्पष्ट ही रश्मियों का बोधन कराते हैं।

३. **आपः-वासी**—अन्तरिक्ष आपः से व्याप्त है। ये मरुत् उसी आपः में रहते हैं। कौषीतकि ब्रा० ५।४ के अनुसार **अप्सु वै मरुतः श्रिता**, आपों में निश्चय मरुत् आश्रित हैं। तथा ऐतरेय ब्रा० ६।३० के अनुसार **आपो वै मरुतः**, आप ही मरुत् हैं।

इन वचनों से परिणाम निकलता है कि मरुतः अन्तरिक्षस्थ आपः में निवास रखते हैं और आपः तथा अग्नि और पृथिवी के योग से इन का जन्म है।

मरुत्-पिता—ऋग्वेद २।३३।१ में **पितर्मरुतां**, हे पितः मरुतों के, पद रुद्र के लिए हैं। रुद्र भी अग्नि का रूप और बहुधा विद्युत् के रूप में वर्णित है। ऋ० १।८५।१ में **रुद्रस्य सूनवः** पद भी इसी अर्थ को प्रकट करते हैं।

विशेषण—मरुतों को **रिशादसः** (यजुः ३।४४) हिंसकाद, **भ्राजत्-ऋष्टयः** (ऋ० १।३१।१) दीप्त हैं जिन की ऋष्टियां, **रुक्म-वक्षसः** (ऋ० २।३४।२) पीली अथवा सुवर्ण-सदृश छाती वाले, **हिरण्य-शिप्राः** (ऋ० २।३४।३) सुवर्णमय शिरस्त्राण वाले; और **ऋष्टि-विद्युत्** (ऋ०) विद्युत्-ऋष्टि वाले आदि कहा है।

विद्युत् और अशनि आदि से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। तै० ब्रा० में मरुतों की एक आन्तरिक्षी-माया का रहस्य-उद्घाटित किया गया है। यथा—

मरुतो ऽद्भिरग्निमतमयन्। तस्य तान्तस्य हृदयम्-आच्छिन्दन्। सा अशनिरभवत्।१।१।३।१२॥

अर्थात्—मरुतों ने आपः से अग्नि-ज्वाला को शान्त किया। उस शान्त-ज्वाल[1] अग्नि के हृदय को [उन मरुतों] ने तोड़ा अथवा काटा। वह अशनिः हुई।

इसी प्रकार कपिष्ठल संहिता में लिखा है—

अग्निर्वै मनुष्यैर्देवेभ्यो ऽपक्रामत्। तं देवा अमन्यन्त। अयं वावेदं भविष्यतीति। तस्य मरुत स्तनयित्नुना हृदयमाच्छिन्दन्। सा दिव्याशनिरभवत्।६।७॥

अर्थात्—उस अग्नि का मरुतों ने स्तनयित्नु से हृदय काट दिया। वह दिव्य अशनि हुई।

अशनि और दिव्य अशनि में भेद है। अशनि मरणधर्मा है और दिव्य अशनि अमर। इसमें यह अमरत्व कैसे आता है, साधारण अग्नि कैसे दिव्य अशनि बनती है। इसका विधिः जानना चाहिए।

अग्निः हृदय—अग्नि का हृदय क्या है। अग्नि के प्रत्येक कण के मध्य में जो अन्तरतम परमाणु रूप अंश है, वही उस का हृदय है। उस हृदय (electron) के टूटने से अशनिः उत्पन्न होती है। अग्नि-हृदय पद का दूसरा अर्थ असम्भव है। विद्वान् यत्न करके देख सकते हैं।

अन्यत्र, **पृथिव्याः हृदयम्** (मन्त्र ब्रा० १।५।१३), **प्रजापतेरेव हृदयेऽग्नौ** (जै० ब्रा० २।२६२) आदि प्रयोग हैं।

जैमिनीय ब्राह्मण १।४५ में **स्तनयित्नु, विद्युत् और अशनिः** तीन पृथक् पद मिलते हैं। इन का भेद प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में लिखा है।

बार्हस्पत्य संहिता आदि में—बृहस्पति और कश्यप की संहिताओं में उल्काओं के नाना रूप कहे हैं। बार्हस्पत्य वचन है—

तारा धिष्ण्यास् तथोल्काश्च विद्युतो ऽशनयस्तथा।
विकल्पाः पञ्चधा चैषां परस्परबलोत्तराः॥[2]

---

१. शान्तज्वालस्य, भट्ट भास्कर।

२. अद्भुतसागर, पृ० ३२२ पर उद्धृत।

अर्थात्—तारा, धिष्णया, उल्का, विद्युत्, और अशनि नामक पाँच भेद हैं। इन में तारा से धिष्णा, धिष्णा से उल्का, अगला-अगला प्रकार अधिक बलशाली है।

अशनि सबसे बलवती है। विद्युत् उस से न्यून है। इनमें से प्रत्येक के लक्षण भी शास्त्र में हैं। विद्युत् में तटतटा शब्द होता है और वह जीवित वन-राशियों, (प्राणियों और इन्धनों) पर गिरती है। अशनिः के विषय में बार्हस्पत्य में कहा है—

तत्र शब्देन महता विवरेण विकर्षिणा।
महा चक्रमिवागच्छेद् आयताङ्गा नभस्तलात् ॥[1]
मनुष्य-मृग-हस्ति-अश्व-वृक्ष-अश्मपथि वेश्मसु।
पतन्त्यशनयो दीप्ताः स्फोटयन्त्यो धरातलम् ॥[1]

अर्थात्—यह अशनि है जो धरातल को फाड़ देती है और महा चक्र के समान नभस्तल से आती है।

धिष्णया—कपिष्ठल संहिता के अनुसार—

अग्नेर्वा एता वैश्वानरस्य प्रियास्तन्वो यद् धिष्णयाः। ४०।४॥

अर्थात्—वैश्वानर अग्नि का प्रिय शरीर हैं, जो धिष्णया [हैं]।

विद्युत् भेद—पराशर के अनुसार विद्युत् पूर्व दिशा में **सूर्यकान्ता**, दक्षिण में शतह्रदा, पश्चिम में **तड़ित्** और उत्तर दिशा में **सौदामिनी** होती है।[2]

ये सब भेद और इन के अवान्तर भेद मरुतों के कारण बनते हैं। इस विषय का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है, पर पाश्चात्य ग्रन्थों में मिलता नहीं। पराशर[3] ने एतद्विषयक अनेक सूक्ष्म बातें लिखी हैं, जो अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आईं।

विद्युत्-चक्र और चुम्बक—विद्युत् और चुम्बक दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। वे दोनों एक ही हैं। बार्नेट लिखता है—

---

१. अद्भुतसागर, पृ० ३२४ पर उद्धृत।

२. अद्भुतसागर, पृ० ३५०। ३. अद्भुतसागर, पृ० ३५१।

A current of electricity is always surrounded by a magnetic field, and conversely that under certain conditions magnetic forces can induce electrical currents. From these experiments came the discovery of the electromagnetic field through which light waves, radio waves, and all other electromagnetic disturbances are propagated in space. Thus electricity and magnetism may be considered as a single force.[1]

अर्थात्—विद्युत्-धारा के साथ चुम्बकीय शक्ति वर्तमान रहती है। विद्युत्-धारा और चुम्बकीय शक्ति द्वारा वैद्युत्-चुम्बक-क्षेत्र बना रहता है। इसी में से शून्य में प्रकाश-रश्मियां अपना काम करती हैं। इस प्रकार विद्युत् और चुम्बक प्रभाव एक ही शक्ति समझे जा सकते हैं।

टिप्पणि—बार्नेट के लेख में शून्य (space) का भाव भूलमात्र है। वस्तुतः अन्तरिक्ष में अग्निषोम के अनेक रूप काम करते हैं।

ऋग्वेद १।८८।५ में मरुतों को **अयो दंष्ट्र और हिरण्य चक्र** कहा है। अयो दष्ट्रों और वैद्युत-शक्तियों से ये चुम्बकीय-क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। ये मरुतः हैं, जो अन्तरिक्ष में वैद्युत-चुम्बक-क्षेत्र उत्पन्न करते हैं।

इन्हीं के कारण दिशाएँ स्थिर हैं। और इन्हीं के प्रभाव से पृथिवी में विद्यमान अयः अंश अयस्मयी-सूचियों का रूप धारण कर रहे हैं।

मरुतों के छन्द (waves)—जैसे तरंगों में उतार-चढ़ाव होता है, उसी प्रकार अग्निः, सूर्य-रश्मियों और मरुतों आदि की गतियाँ भी छन्दों में ही होती हैं। कई वस्तुओं के छन्द लम्बे और कइयों के क्षुद्र होते हैं। मरुतों के छन्दों के विषय में लिखा है—

मरुत्स्तोमा वा एषः। यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम्। तां० ब्रा० १७।१।३॥

मरुत गति की दिशा—वैदिक ग्रन्थों में न केवल मरुत-छन्दों का

---

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 15.

वर्णन है, प्रत्युत उन की गति की दिशा का भी कथन है। जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है—

ततो मरुतोऽसृजत—ईशानमुखान्।३।३८१॥

अर्थात्—तब मरुतों को उत्पन्न किया, ईशानमुखों को।

ईशानमुख—ईशान का क्या अर्थ है। ऋ० १।६४।५ में मरुतों को ईशान कृत कहा है। ऋ० १।८७।४ में मरुतों को ईशानः कहा है। इससे यह निश्चत है कि मरुतों का ईशान से सम्बन्ध है। अब रहा ईशानमुख। इस पद के दो अर्थ हैं। एक है उत्तर-पूर्व (north-eastern) दिशा की ओर मुख किए, और दूसरा अर्थ है, जिनके उपरि भाग शिर अथवा मुख में ईशान (रुद्र=विद्युत् के किसी प्रकार) का रूप-विशेष है। यहाँ क्या अर्थ है, यह अन्वेषणीय है।

प्रश्न होता है, क्या सारे मरुद्गण ईशान मुख हैं, अथवा उन का कोई गणविशेष ऐसा है। इस प्रश्न का उत्तर अभी नहीं दे सकते।

ईशान अवान्तर दिशा है। यह रुद्र (=विद्युत्) का स्थान है। मरुत: और रुद्र साथ-साथ रहते हैं। शतपथ १३।२।१०।३ के अनुसार अवान्तर-दिशाएँ रजत सूचियां हैं। इन दिशाओं का ऐसा स्वरूप मरुत्-आदिकों के कारण है। इसका कुछ आभास जै० ब्रा० के निम्नलिखित वचन में है—

तमस्याम् ऊर्ध्वायां दिशि मरुतोऽन्वैच्छन्न् ईशानमुखाः। तेऽन्वविन्दन् यत् श्वेतं रूपं तत्।३।३८२॥

अर्थात्—उसको इस ऊर्ध्व दिशा में मरुतों ने चाहा, [जो] ईशान-मुख [हैं]। उन्होंने प्राप्त किया जो श्वेत रूप वह।

निस्सन्देह अन्तरिक्ष में श्वेतरूप मरुतों का है।

श्वेत रूप—अन्तरिक्ष में असुरों ने रजत-पुरी बनाई। ऐतरेय ब्रा० १।२३ का वचन है—

[असुराः] रजतां [पुरीं] अन्तरिक्षम् [अकुर्वत]।

रजत (चान्दी) श्वेत-वर्ण का होता है। यही श्वेत-रूप मरुतों ने

प्राप्त किया। अन्तरिक्ष में श्वेत-पुरी मरुतों के कारण बनी है। इन मरुतों में विद्युत्-प्रभाव है, यह पूर्व लिख चुके हैं। इस विद्युत् के कारण भी मरुतों में श्वेत-रूप आया।

अग्नि-जिह्वा—मरुत अग्निजिह्व (ऋ० १।४५।१४) भी हैं। इस कारण भी उन में श्वेत-वर्ण है। भूमि पर भी श्वेत-पुरी बनती है। वस्तुतः मरुतः भूमि तक क्रीड़ा करते हैं।

दिशाओं तक—मरुतों का प्रभाव दिशाओं तक पहुँचता है और विशेष बलशाली रूप में पहुँचता है। दिशाएँ मरुतों की गति और इन के चक्र को ठीक रखती हैं।

सूर्योदय का आभास—ऋग्वेद के सूर्य-देवता परक एक सूक्त में इस बात का संकेत है कि अन्तरिक्ष में सूर्योदय का आभास मरुतों के कारण होता है—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।१।५०।५।।

अर्थात्—[हे सूर्य] सामने जाते हुए देवविशों=मरुतों के [और] सामने जाते हुए, उदय को प्राप्त होते हो, मानुषों के।

अन्तरिक्ष में सूर्य-रश्मियों का मरुतों के साथ सम्पर्क इस उदयाभास की माया का हेतु है। अन्तरिक्ष में मरुतों का कितना क्षेत्र है। क्या उसी में सूर्य-रश्मियों का प्रकाश होता है, शेष में नहीं। यदि ऐसा है, तो अन्तरिक्ष में मरुत-विहीन क्षेत्र क्या सूर्य-आलोक से वञ्चित अन्धकार-मय होंगे, ये प्रश्न विचारणीय हैं।

अब रहा मानुष शब्द का अर्थ। इसका अभिप्राय विचारणीय है। ऋ० १।१४६।४ कहता है—

आविरेभ्यो अभवत् सूर्यो नॄन्।

अर्थात्—प्रकट इनके लिए हुआ, सूर्य नरों के लिए।

अन्तरिक्षस्थ नर—पृथिवी-पृष्ठ पर मानुष अथवा नर रहते हैं, और अन्तरिक्ष में भी नरों का वास है। ऋग्वेद में कहा है—

अन्तरिक्षस्य नृभ्यः । १।११०।६।।

अर्थात्—अन्तरिक्ष के नरों [ऋभुओं] के लिए।

स्कन्द स्वामी (संवत् ६८७ से पूर्व) नरः का अर्थ करता है—**मनुष्याकारा मरुतः**। ऋ० १।८६।८॥ ये नर अथवा मानुष अन्तरिक्ष-स्थानी मरुतः और ऋभुओं के भेद हैं।

मैकडानल—वैदिक विज्ञान को सर्वथा न समझ कर मैकडानल ने ऋ० १।८५।८ में **नरः** का अर्थ the men किया है। यह अति भ्रष्ट अर्थ है। स्कन्द स्वामी यहाँ भी **मनुष्याकाराः** अर्थ करता है। ये तो अन्तरिक्षस्थ पदार्थ हैं।

मैकडानल की भूल का कारण सायण है (ऋ०१।१६७।१०)। पर अंग्रेजी में तो men का दूसरा अर्थ बनता ही नहीं।

मरुतों के साथ इन नरों के सम्पर्क में भी सूर्य प्रकाशित होता है।

पृथिवी लोक पर आभास—जिस प्रकार अन्तरिक्ष में मरुतों और मानुषों=नरः के योग से प्रकाश का उदय होता है, उसी प्रकार पार्थिव-लोक में वैश्वानर अग्नि और सूर्य-रश्मियों के परस्पर अनुप्रवेश (ब्रह्माण्ड, पू० २४।१६) अथवा योग से प्रकाश की प्रतीति होती है। ऋग्वेद का मन्त्र कहता है—

इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।
१।९८।१॥

अर्थात्—इस [पृथिवी] से उत्पन्न, सारे इस विश्व को देखता है [दिखाता है] वैश्वानर, युक्त होता है सूर्य से।

निरुक्त ७।२३ में यास्क इसका गम्भीर अर्थ प्रकाशित करता है। उसका अर्थ निम्नलिखित है—

उस लोक से वे रश्मियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। यहाँ इस लोक से इस वैश्वानर की अर्चियां। इन दोनों के मेल से प्रकाश का भास होता है।

अर्चियों और रश्मियों के योग से प्रकाश उत्पन्न होता है। इनका व्यवस्थापन बड़ा अद्भुत है। अर्चियों और रश्मियों का भेद भी द्रष्टव्य है।

यही वैश्वानर अन्तरिक्ष के **विश्वान् नरान् नयति**। निरुक्त ७।२१॥

वृष्टि नेता—वृष्टि-माया के साथ मरुतों का सम्बन्ध-विशेष है। कपिष्ठल सं० में लिखा है—

मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति ।४६।७॥

अर्थात्—मरुतः सृष्ट-वृष्टि को ले जाते हैं।

तै० सं० में भी ऐसा ही भाव है—

अग्निर्वा इतो वृष्टिम् उदीरयति । मरुतः सृष्टां नयन्ति । यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते ।२।४।१०॥

अर्थात्—अग्नि निश्चय ही यहाँ [पृथिवी] से वृष्टि को ऊपर ले जाता है। मरुत उत्पन्ना [वृष्टि] को ले जाते हैं।

देखो निरुक्तस्थ (७।२४) ब्राह्मण पाठ।

सूर्य से प्रत्यागमन—ऋग्वेद ५।५५ भी द्रष्टव्य है—

उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः ।५।

अर्थात्—ऊपर ले जाओ, हे मरुतः, समुद्र [=अन्तरिक्ष] से तुम वृष्टि को, वर्षा करो, हे पुरीषिणः।

पुरीषी अग्नियों का उल्लेख पूर्व पृ० १२०-१२१ पर हो चुका है। यहाँ मरुतों को पुरीषिणः कहा है। अन्तरिक्ष से वृष्टि ऊपर अर्थात् सूर्य तक जाती है। वहाँ से पुनः नीचे उतरती है।

वर्तमान वैज्ञानिक सन्देह करेंगे कि पृथिवी का जल सूर्य तक कैसे जा सकता है। अतः इस विषय का एक और मन्त्र आगे दिया जाता है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन् सदनादृ ऋतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

ऋ० १।१६४।४७॥

अर्थात्—कृष्ण अयन [दक्षिणायन] में [आदित्य] रश्मियां उड़ती हुई आपः के वस्त्र ओढ़े द्यु की ओर उड़ती हैं। वे लौटती हैं स्थान से ऋत [=उदक, आदित्य] के, स्नेह से पृथिवी गीली होती है।

निश्चय ही सुपर्णा हरयः, उड़ती हुई किरणें, द्युलोक तक ऊपर जाती हैं। उन किरणों ने आपः के वस्त्र ओढ़े होते हैं। ये सब गूढ़ रहस्य हैं और विज्ञान की पराकाष्ठा हैं। किरणों में क्या शक्ति हो जाती है कि वे आपः के वसन पहनती हैं। तब आदित्य से वृष्टि लौटती है।

इस विषय पर संकेत मात्र किया है। सुपर्ण और न्यङ् रश्मियों पर ध्यान देना चाहिए। वस्तुतः वर्षा-विज्ञान पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

इसी भाव का द्योतक मनु का श्लोक है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते।

अर्थात्—पृथिवीस्थ अग्निः में डाली आहुती ठीक प्रकार से आदित्य के समीप पहुँचती है।

वृष्टि के व्यवस्थापन में मरुतों का योग पर्याप्त है।

मरुतः जन्म--प्रश्न होता है कि क्या मरुतः मरीचियों के साथ जन्मे, अथवा उनके पश्चात्। मरीचि-जन्म विषयक शतपथ का जो वचन पूर्व पृ० १३४ पर दिया गया है, तदनुसार आण्ड से मरीचि ही जन्मे। फिर शेष मरुतः कैसे उत्पन्न हुए, इस समस्या पर ऋग्वेद से प्रकाश पड़ता है। यथा—

(क) हस्कराद् विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः।
मरुतो मृलयन्तु नः।१।२३।१२॥

अर्थात्—दीप्ति युक्त विद्यत् से अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए, मरुतः, सुख दें हमें।

यहाँ हस्कर का अर्थ अधिक विचारणीय है। मन्त्र यह भी कहता है कि अतः अर्थात् अन्तरिक्ष से मरुत जन्मे। अन्तरिक्ष शनैः शनैः बना। अतः निश्चय है कि मरीचियों के ठीक साथ मरुत नहीं जन्मे। उत्तर-काल में उन का और मरीचियों का पारस्परिक व्यवस्थापन हुआ।

फिर ऋग्वेद में कहा है—

(ख) त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसो ऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥१।३१।१॥

अर्थात्—तुम हे अग्ने प्रथम अङ्गिरा ऋषि, देव, देवों के हुए कल्याणकारी सखा, तेरे व्रत में कवि, ज्ञातकर्मा उत्पन्न हुए, मरुतः चमकने वाली ऋष्टियों वाले।

इस मन्त्रानुसार अङ्गिरा नामक अग्नि के साथ मरुतों का सम्बन्ध है।

(ग) सप्रयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः। ऋ० १।८५।१॥

अर्थात्—सर्पणशील गमन में, रुद्र (=विद्युत्) के पुत्र, शोभन कर्म वाले!

(घ) पृश्नियै पयसो मरुतो जाताः। तै० सं० २।२।११॥

अर्थात्—चितकबरी गौओं के दूध से मरुतः उत्पन्न हुए।

ये पृश्नियां भी अन्तरिक्ष में हैं। इन का दूध क्या है।

(ङ) ते जज्ञिरे दिवः। ऋ० ।१६४।२॥

अर्थात्—वे उत्पन्न हुए द्युलोक से।

इन सब प्रमाणों का अभिप्राय यह है कि मरुतों के जन्म में अग्निः तथा विद्युत् का भाग-विशेष है। पृश्नि का पूरा विज्ञान अभी हम नहीं समझे।

जगत् की माया में इन्द्र और अग्नि के साथ मरुतों का विशेष योग है।

४. पशु

अन्तरिक्षस्थ पशु—जिस प्रकार अन्तरिक्ष में नर हैं, उसी प्रकार अन्तरिक्ष में पशु भी हैं। पशुओं का संकेतमात्र पूर्व पृष्ठ १०२-१०४ तक हो चुका है। अब इस विषय में कुछ विस्तार से लिखा जाता है।

पशुओं का जन्म प्राण[1], आपः[2] और अग्निः[3] के परमाणुओं के योग से हुआ है। ऋग्वेद में इन पशुओं को वायव्य पशु कहा है—

पशून्तांश्चक्रे वायव्यान् ।१०।६०॥

अर्थात्—[उस यज्ञ प्रजापति ने] पशु, उन को बनाया वायु के।

इसी तथ्य का प्रतिपादन मैत्रायणी संहिता में अति स्पष्ट रूप से किया गया है—

वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः। अन्तरिक्षदेवत्याः पशवः। वायुरेवैनान् अन्तरिक्षाय परिददाति ।४।१।१॥ कपिष्ठल सं० ४६।८॥

अर्थात्—वायु निश्चय ही अन्तरिक्ष का अध्यक्ष है। अन्तरिक्ष देवता वाले पशु हैं। वायु ही इन को अन्तरिक्ष के लिए देता है।

पुनः जै० ब्रा० में कहा है—

पशवो वा अन्तरिक्षम् ।३।१८६॥

पशु रूप—पशु प्रायः चतुष्पाद हैं। जै० ब्रा० २।२६७ आदि में ऐसा उल्लेख है। शतपथ १।८।१।१२ में पशु पांक्त अथवा पञ्चावयव कहे गए हैं। कहीं-कहीं द्विपाद वयांसि भी पशु हैं। पशवो वै वयांसि (शत० ६।३।३।७)। मरुतः भी पशु होते हैं। (ऐ० ब्रा० ३।१६)। पशुओं को द्युतान मारुत (कपिष्ठल सं० ४८।१४) भी कहा है। पशु ग्रावाण भी होते हैं (कपि० सं० ४८।१४)। ग्रावाण और वज्र का भेद

---

१. **प्राणाः पशवः। तै० ब्रा० ३।२।८।६॥ स [प्रजापतिः] प्राणेभ्यः एवाधि पशून् निरमिमीत। श० ७।५।२।६॥**

२. **आपो वा एते यत् पशव इति। जै० ब्रा० ३।१४६॥ पशवो वै सलिलम्। मै० सं० १।४।६॥**

३. **आग्नेया वै पशवः। कपि० सं० ३८।१॥ आग्नेयाः पशवः। तै० ब्रा० १।१।४।३॥ पशुरेष यदग्निः। श० ६।४।१।२॥ आग्नेयो वाव सर्वः पशुः। ऐ० ब्रा० २।६॥**

आग्नेयश्च मारुतश्च पशू। जै० ब्रा० २।२३१॥

जानने योग्य है। कपिष्ठल संहिता ३११६ में पशुओं को अग्निमुख कहा है। मैत्रायणी सं० में भी यही भाव है, **अग्निमुखान् वै प्रजापतिः पशून् असृजत। पशवो मारुताः।३।३।१०॥**

जै० ब्रा० में आठ प्रकार के पशु कहे हैं—

अष्टातयान् पशून्।३।३१८॥

चमक वाले पशु—जै० ब्रा० १।१४० में लिखा है—ततो **रेवतयः पशवोऽसृज्यन्त।** अर्थात्—तब दीप्तिमय पशु उत्पन्न हुए। यह बात सर्वथा युक्त है, क्योंकि जै० ब्रा० में ही कहा है—

आग्नेयश्च मारुतश्च पशू।२।२३१॥

अग्नि और मरुतों से पशु उत्पन्न हुए। अतः वे चमकते हैं।

रुद्र के अंश—कपिष्ठल सं० के अनुसार—

रुद्रो वा अग्निः। पशवो अंशवः।४०।४॥

अर्थात्—रुद्र ही अग्नि [है], पशु अंशु=तारें, तागे, किरणें [हैं]।

रूप प्रदाता—पशुओं को रूप देने वाला त्वष्टा है—

त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत, रूपपतिः।

तै० ब्रा० २।५।७।५॥

अर्थात्—त्वष्टा निश्चय पशुओं के मिथुनों का रूप बनाने वाला, रूपपति [है]।

ये पशु अन्तरिक्ष की माया हैं और पृथिवी से द्युलोक तक पहुँचते हैं। अश्व इन में प्रमुख हैं। ये आन्तरिक्ष अश्व हैं। संस्कृत वाङ्मय में इन्हें अप्सुजा कहा है।[1] इन पशुओं की संख्या पर्याप्त है। रुद्र के वर्णन में वृषभ का भी उल्लेख है। ऋग्वेद में कहा है—

---

१. **आकाशसम्भवैरश्वैः। विष्णु पुराण २।१२।२०॥**

वर्तमान विज्ञान का अभिमानी जो पुरुष पृथिवी पर होने वाले घोड़े को ही अश्व समझता है, और वेद में अश्व पद से कोई दूसरा अभिप्राय नहीं लेता, वह यहाँ क्या करेगा। "आकाश में उत्पन्न" घोड़े का वह क्या अभिप्राय लेगा।

वृषभो मरुत्वान् ।। प्रबभ्रवे वृषभाय श्वितीचे ।२।३३।६,८।।

अर्थात्—बैल मरुतों वाला । भूरे बैल के लिए, श्वेत के लिए ।

अन्तरिक्ष का बैल मरुतों वाला तथा भूरा और श्वेत है । मरुतों के कारण यह श्वेत है ।

पशु भेद का कारण—पशुओं के इतने भेद कैसे बन गए । इस प्रश्न का उत्तर जैमिनीय ब्राह्मण २।६६[1] में अति सुन्दर और गम्भीर प्रकार से दिया गया है । यथा—

ऊनातिरिक्तो मिथुनौ प्रजननी । ऊनम् अन्यस्य, अतिरिक्तम् अन्यस्य । ऊनातिरिक्ताद् वै मिथुनात् प्रजा पशवः प्रजायन्ते ।

अर्थात्—न्यून और अधिक मिथुन से प्रजा, पशु उत्पन्न होते हैं ।

मिथुन में स्पर्श, संपीडन और रज-वीर्य का सिद्धान्त काम करता है । अन्तरिक्ष में वायु, आपः, अग्नि और पृथिवी के परमाणु अनेक संयोग उत्पन्न करते हैं । उनमें स्पर्श और संपीडन विविध प्रकार का होता है । उन परमाणुओं में दिव्यत्व भिन्न प्रकार का होता है । इन सब के संयोग और विभाग से अन्तरिक्ष के विभिन्न पशु जन्मते हैं ।

संज्ञान=ऐक्य—इन पशुओं में कुछ मत-ऐक्य अवश्य है । इन में से प्रत्येक अपने सजातीय को पहचानता है । मत-ऐक्य आपः के कारण है । कपिष्ठल सं० का वचन है—

संज्ञानं वा एतत्पशूनां यदापः । ३१।१२॥

अर्थात्—मत-ऐक्य ही यह पशुओं का, जो आपः [हैं] ।

आपः के कारण पशु एक मत रखते हैं । इस का पूरा भाव हम नहीं समझ सके, पर शतपथ का एक वचन इसके साथ ध्यान में रखना चाहिये । यथा—

तस्माद् हैतत् पशुः स्वाय रूपाय आविर्भवतीति । गौर्वा गवे । अश्वो वाश्वाय । पुरुषो वा पुरुषाय ।६।३।१।२२॥

---

१. **तुल—पशूनेवावरुंद्धे । ऊनातिरिक्ता मिथुनाः । कपि० ३१।६॥**

अर्थात्—इस लिए निश्चय यह पशु अपने रूप के लिए प्रकाशित होता है। गौ-गौ के लिए, अश्व-अश्व के लिए [और] पुरुष निश्चय पुरुष के लिए।

वायव्य पशुओं में यह नियम किस प्रकार चरितार्थ होता है, इस का अध्ययन होना चाहिए।

प्रिय धाम—पूर्व पृ० १०१, १०२ पर लिख चुके हैं कि वायव्य पशुओं का प्रिय धाम ऊषा=ऊसर भूमियाँ हैं।

रोहितरूप—अन्तरिक्ष के अधिकांश पशुओं का रूप रोहित है। इस विषय में ब्राह्मण में लिखा है—

एतद्वै पशूनां भूयिष्ठं रूपं यद् रोहितम्। तां० ब्रा० १६।६।२॥
तस्माद् रोहितरूपं पशवो भूयिष्ठाः। कपिष्ठल सं० ३७।३॥

असंश्लिष्ट—आग्नेय परमाणु संश्लिष्ट रहते हैं, आपः परमाणु संश्लिष्ट हैं। मरुत् गणों में और संश्लिष्ट रहते हैं।[1] ऋभुओं की भी यही दशा है। पर पशु अनियमित गति, स्वेच्छाचारी हैं। ये पृथक-पृथक् रहते हैं। इसलिए ताण्ड्य ब्रा० में लिखा है—

तस्माद् असंश्लिष्टाः पशवः। १३।४।६॥

पश्चिम में अन्तरिक्ष विज्ञान—पश्चिम में इस महान् विज्ञान का अभी आरम्भमात्र है। वहाँ के भौतिक विज्ञान (Physic) के विशेषज्ञ एक नई शाखा के अध्ययन में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसे वे Particle Physics कहते हैं। उन के अनुसार ये कण अथवा particles अनेक आकारों के हैं। वे proton और neutron के मध्यवर्ती होते हैं। अतः इन के लिए mesons नाम दिया गया है। ग्रीक भाषा में मेसोन का अर्थ मध्यस्थानी है। वस्तुतः ग्रीक शब्द मेसोन अथवा मेज़ोन संस्कृत शब्द मध्य का अपभ्रंश है। मेसोन किसी इलैक्ट्रोन से १५०-२२० गुणा तक

---

१. मरुत इन्द्र से भी सम्मिश्रित हो जाते हैं—संमिश्ला इन्द्रे। ऋ० १। १६६।११॥

बड़े होते हैं ।[1]

योरोप में आपः, अपां नपात, वायु, मरुतः, वयांसि और पशुओं के विज्ञान का अध्ययन अभी आरम्भ नहीं हुआ । मरुतों में से मरीचियों के विज्ञान की छाया cosmic ray के अध्ययन द्वारा प्राप्त हो रही है । particles के विषय में उन्होंने नाश (decay) की प्रवृत्ति का ज्ञान कर लिया है । देवों में यह प्रवृत्ति नहीं है, पर पशुओं में है वा नहीं, यह अभी स्पष्ट नहीं ।

पशु नाम—वैदिक विज्ञान में तत्तद् रूपानुसार पशुओं के अश्व, रासभ, अज, वृषभ,[2] नर और मृगी आदि नाम हैं । यथा—

अश्वः प्रथमो ऽथ रासभो ऽथाजः । शत० ६।३।१।२८॥

तथा यास्कीय निघण्टु १।१५ में जो दश पशु लिखे हैं, वे प्रायः अन्तरिक्ष के पशु हैं । इनमें से मरुतों के पशु पृशत्यः[3] (मृगियां) हैं ।

वरुण का पशु ग्रसन—देव-विद्या में वरुण क्या पदार्थ है, इस का अभी हमें ज्ञान नहीं है । पर वरुणका पशु-ग्रसन कार्य वैज्ञानिक की दृष्टि से ओझल न हो जाए, अतः वह आगे लिखा जाता है । मैत्रायणी संहिता में लिखा है—

अहर्वाव तर्हि-आसीन्न रात्रिः । ते देवा रात्रिमसृजन्त । ततः श्वस्तनमभवत् ।·········। सा वै रात्रिः सृष्टा पशून् अभिसममिलत् । ते देवाः छन्दोभिरेव पशून् अन्वपश्यन् । छन्दोभिरेनान् पुनः उपाह्वयन्त ।·······अथो आहुः । वरुणो वै स तद् रात्रिः-भूत्वा पशून् अग्रसत-इति । ते देवाः छन्दोभिरेव वरुणात् पशून् प्रामुञ्चन् । छन्दोभिरेनान् पुनः उपाह्वयन्त ।१।५।१२॥

1. Physical Chemistry, Text Book, London, p. 30, 1958.
2. त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धनः । ऋ० १।३१।५॥
3. मरुतां पृषतयः स्थेत्याह । मरुतो वै वृष्टयः ईषते । तै० ब्रा० ३।२।१।४॥ ऋ० १।३७।२ के भाष्य में सायण लिखता है—पृषत्यो बिन्दुयुक्ता मृग्यो मरुद् वाहनभूताः ।

अर्थात्—दिन निश्चय तब था, नहीं रात्रि। उन देवों ने रात्रि को उत्पन्न किया। तब कल-विषयक [भाव] हुआ।......। उस निश्चय रात्रि ने, उत्पन्न हुई ने पशुओं को चारों ओर से अपने में मिलाया। उन देवों ने छन्दों से ही पशुओं को पीछे देखा। छन्दों से इन को पुनः बुलाया।......अब [आचार्य] कहते हैं, वरुण ने निश्चय वह रात्रि होकर पशुओं को ग्रसा। उन देवों ने छन्दों से ही वरुण से पशुओं को छुड़ाया। छन्दों से इन को पुनः बुलाया।

वरुण क्या है। वह रात्रि कैसे हो गया। उसने पशुओं को ग्रसा। पुनः देवों ने छन्दों द्वारा उन्हें देखा। ये घटनाएँ किसी महान् ज्ञान की द्योतक हैं।

दिन ही था, रात्रि नहीं थी। यह तब की घटना है, जब सूर्य केवल निज की राशि में रहता था। पर उस समय देव विद्यमान थे और पशु तथा उनका अन्तरिक्ष अस्तित्व में आ चुका था।

कास्मिक रेज़ (cosmic rays) अथवा मारुत रश्मियाँ

अन्तरिक्ष और मरुतों का अध्ययन सर्वथा अधूरा रहेगा, यदि इस प्रसङ्ग में योरोप द्वारा प्रयोगों से विज्ञात कास्मिक रेज़ के विषय पर कुछ प्रकाश न डाला जाए। इस विषय में पश्चिम के वैज्ञानिकों का नवीनतम विचार आगे उद्धृत किया जाता है—

All the existing information leads naturally to the hypothesis that cosmic radiation originates in the expanding of supernovae and possibly also of novae. Coming out into the interstellar medium from the envelopes of these stars, (which lie in the region of the galactic plane) cosmic particles fill the whole quasi-spherical galaxy, and there they lose their energy, mainly as a result of nuclear collisions.[1]

1. J. G. Wilson and S. A. Wouthuysen, Progress in Elementary Particle and Cosmic Ray Physics, Vol IV, p. 390, 1958.

अर्थात्—प्रयोग-जनित सकल सम्प्राप्त सूचनाएँ स्वाभाविक रूप से इस परिणाम पर पहुँचाती हैं कि कास्मिक प्रकाश-विनिर्गमन का मूल सूपर नोवा और कदाचित् नोवा के भी विस्तृत होते जाने वाले आवरणों में से निकल कर अन्तरिक्ष (interstellar medium)[1] में आकर कास्मिक रेणु सारे अर्ध-मण्डलाकार तारा-समूहों के क्षेत्र को भर देते हैं। यहाँ आकर ये अपनी शक्ति को मुख्यतः-कणों की टक्करों के फलस्वरूप खो देते हैं।

मेरे अध्ययन का कारण—योग-विद्या-विहीन योरोप के वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोग बल से विज्ञान के स्वल्पांश को थोड़ा समझा है, पर उस सूझमें निर्मलता और यथार्थता का पर्याप्त अंश नहीं है। पाश्चात्य-विज्ञान की इस त्रुटि का मुझे सदा ध्यान रहा है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में जब मैंने बहुधा वायु-दीप्ति और वायु-रश्मियों का उल्लेख पढ़ा, तो वर्षों तक मैं इसे समझ नहीं पाया। पुनः क्रमबद्ध अध्ययन के अनन्तर मेरी समझ में आया कि वायु दीप्ति क्या है, और योरोप का पूर्वलिखित अनुमान कल्पना-मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अगला लेख हम पुराणों के एतद्विषयक उद्धरणों से आरम्भ करते हैं। ये पाठ वायु पुराण, अध्याय ५२, मत्स्य पुराण, अ० १२७, ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, अ० २३ में मिलते हैं। विष्णु पुराण २।१२।२६, २७ में भी थोड़ा से पाठ हैं। यहाँ वायुपुराण का संशोधित पाठ लिखा जाता है, और मत्स्य आदि के उपयोगी पाठान्तर नीचे दिए हैं—

एते वै भ्राम्यमाणास्तु यथायोगं भ्रमन्ति[2] वै।
वायव्याभिः अदृश्याभिः प्रबद्धा वातरश्मिभिः॥८३॥
परिभ्रमन्ति तद्बद्धाः चन्द्रसूर्यग्रहा दिवि।
भ्रमन्तमनुगच्छन्ति ध्रुवं ते ज्योतिषां गणाः॥८४॥

---

१. यह अंग्रेजी शब्द अधिक युक्त नहीं। अन्तरिक्ष पद यथार्थ अभिप्राय प्रकट करता है।

२. मत्स्य—वहन्ति।

यथा नद्युदके नौस्तु सलिलेन सहोह्यते।
तथा देवालया[1] ह्येते[1] ऊह्यन्ते वातरश्मिभिः॥
तस्मात्[2] सर्वेण दृश्यन्ते[2] व्योम्नि देवगणास्त ते।
यावत्यश्चैव तारास्तु तावन्तो वातरश्मयः[3]॥

इन पुराण-पाठों में **वातरश्मि** पद प्रयुक्त हुआ है। अन्तिम श्लोक में मत्स्य के पाठ में **वातरश्मयः** के स्थान में **ऽस्य मरीचयः** पाठ है। वस्तुतः वातरश्मियाँ अन्तरिक्षस्थ मरीचियाँ ही हैं। पूर्व लिखा गया है कि मरीचि मरुतों में से एक है। विज्ञानवेत्ता महर्षियों ने सूर्य-रश्मियों से भेद-प्रदर्शन के लिए वातरश्मि शब्द का प्रयोग किया है। आदित्य की रश्मियाँ मरीचि नहीं, प्रत्युत **मरीचिपाः** हैं। तै० सं० ६।४। ५ में लिखा है—**आदित्यस्य वै रश्मयो देवा मरीचिपाः**। आदित्य रश्मियाँ इन वातरश्मियों अथवा मरीचियों की रक्षक हैं। यास्कीय नघण्टु १।५ में भी रश्मि नामों में **मरीचिपाः** नाम पढ़ा है।

सूर्य और चन्द्र की रश्मियाँ होती हैं। मरुतों की मरीचियाँ और रश्मियाँ और अग्नि की (सप्त)[4] अर्चियाँ। इन सबका भेद-ज्ञान वेद पढ़ने वाले के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तुलना कीजिए—

सूर्यस्यऽइव रश्मयः। ऋ० ५।५५।३॥

महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः।
ऋ० १।३६।३॥

अग्नेः भ्राजन्ते अर्चयः। ऋ० १।४४।१२॥

नौका-समान गति ध्यान देने योग्य है

अन्तरिक्षस्थ अप्सरा—वैदिक वाङ्मय में इन मरीचियों को अन्तरिक्ष की अप्सराएँ कहा है। यजुर्वेद मन्त्र १८।३८ पर शतपथ ब्रा० में

---

१. मत्स्य—देवगृहाणि स्युः।
२. ब्रह्माण्ड—सर्पमाणा न दृश्यन्ते। श्रेष्ठ पाठ।
३. मत्स्य—ऽस्य मरीचयः। ४. शान्तिपर्व २३६।२॥

लिखा है—

**सूर्यो गन्धर्वः। तस्य मरीचयो[1] ऽप्सरस आयुवो नाम।····
आयुवान-इव हि मरीचयः प्लवन्ते।६।४।१।८॥**

अर्थात्—सूर्य गन्धर्व है। उस की मरीचियाँ अप्सराएँ हैं।········
आयुवः नाम वाली। एक दूसरे के साथ मिली हुई ही मरीचियाँ गति करती हैं, तैरती हैं।

उव्वट यजुर्वेद भाष्य में आयुवः का अर्थ त्रसरेणवः करता है। यह अर्थ पर्याप्त ठीक है।

ऋग्वेद ६।७८ के पवमान सोम देवतात्मक मन्त्र में कहा है—

समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन्।५॥

अर्थात्—समुद्र की अप्सराओं ने मनीषी को, ठहरी हुई ने अन्दर सोम को अभिक्षरण किया।

यास्कीय निरुक्त ५।१३ में अप्सरा पद के निम्नलिखित अर्थ-निर्वचन हैं—

अप्सरा अप्सारिणी। अपि वा-अप्स इति रूपनाम। अप्सातेः। अपसानीयं भवति। आदर्शनीयं व्यापनीयं वा। स्पष्टं दर्शनाय-इति शाकपूणिः। यद्प्स इत्यभक्षस्य। अप्सो नाम-इति व्यापिनः। तद्रा भवति रूपवती। तदनयात्तम् इति वा। तदस्यै दत्तम् इति वा।

अर्थात्—अपः में चलने वाली। अथवा अप्स यह रूप का नाम है।

ये दोनों निर्वचन इस प्रकरण के अर्थों को पूरा स्पष्ट करते हैं। अप्सराएँ अपः में चलती और दर्शन वाली होती हैं।

यास्कीय निरुक्त ११।३५-३६ में अन्तरिक्ष [मध्यम] स्थानी स्त्रियों

---

१. एगलिङ्ग ने Sun-motes अर्थ किया है। इस का अर्थ है, सूर्य के धूली-करण। यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। मरीचि अन्तरिक्ष के साथ जन्मे। तब तक आदित्य-जन्म नहीं हुआ था। अतः इन के प्रादुर्भाव में सूर्य का योग नहीं है।

में अप्सरा उर्वशी का उल्लेख है।

कृष्ण पक्ष की रात्रियों में—ये वातरश्मियाँ साधारणतया अदृश्या हैं। पुराण ने सत्य कहा है, **अदृश्याभिः**। किन्तु कृष्ण पक्ष की गहरी तमोभूत रात्रियों में ऊपर आकाश में इनका प्रकाश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं, **वायुः अन्तरिक्षे दीप्यते** (जै० ब्रा० १।२६२), तथा **वायोष्ट्वा तेजसा** (ताण्ड्य ब्रा० १।७।३) वायु के तुझे तेज से।[१] ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग २४।६२ में इसी भाव से कहा है, **वायोर्भाभिः**—वायु के प्रकाशों से। पुराण और ब्राह्मण ग्रन्थ का सिद्धान्त वेद से चला था। यजुर्वेद का मन्त्र-भाग है, **वायुरसि तिग्मतेजः** (१।२४), अर्थात्—वायु हो तीक्ष्ण तेज वाले। शतपथ ब्रा० इस का अर्थ करता है, **तेजिष्ठं तेजः**।

पाश्चात्य मत—कास्मिक रश्मियों के विषय में पूर्व पृ० १५६ पर एक मत उद्धृत किया गया है। अब इस विषय में उनके अन्य विचार देखिए—

(a) the night sky is faintly luminous.[2]

(b) Zodiacal light:—is responsible for an estimated 60 per cent of the total illumination of the night sky (on moonless nights).[3]

(c) Cosmic rays—which can be detected in various ways and differ from light only in wave length.[4]

(d) ......cosmic rays with wave lengths of only one trillionth of a centimeter.[5]

(e) At one time, for example, it was thought that the

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ १३६।

2. Life on other Worlds, p. 59.

3. Biography of the Earth, p. 17.

4. The Universe and Dr. Einstein, p. 22.

5. Ibid, p. 23.

mysterious cosmic rays which continually bombard the earth from outer space might be by-products of some process of atomic creation. But there is greater support for the opposite view that they are by-products of atomic annihilation.[1]

अर्थात्—रात्रि का आकाश मद्धम दीप्ति वाला होता है।

(चन्द्र-विहीना) रात्रि की पूर्ण दीप्ति का ६० प्रतिशत भाग इस सप्तर्षि-विनिर्गत प्रकाश का होता है।

कास्मिक-रश्मियों और प्रकाश का अन्तर स्वल्प है। कास्मिक-रश्मियों के छन्द (wave lengths) विभिन्न प्रकार के होते हैं।

कास्मिक-रश्मियों के छन्द एक सेण्टीमीटर के कई लाखवें भाग के होते हैं।

कभी समझा जाता था कि रहस्यमयी कास्मिक-रश्मियाँ ऐटमों की उत्पत्ति के कारण होती हैं। अब इसके सर्वथा विपरीत इस मत के लिए अधिक आधार है कि ये रश्मियाँ ऐटमों के विनाश के कारण होती हैं।

निष्कर्ष—अन्तरिक्ष का प्रकाश अथवा कास्मिक-रश्मियाँ नोवा (पुराने तारा से फटकर नये बनने वाले तारा) के कारण हैं, वा सूपर-नोवा (फटकर, अति प्रकाशयुक्त होकर नूतन तारा) के कारण हैं, अथवा सप्तर्षियों से निकलने वाले प्रकाश के कारण हैं, अथवा आणविक विघटन के कारण, इन प्रश्नों का निर्णय आवश्यक है।

आर्ष-ज्ञान—वैदिक विज्ञान से इतनी बात स्पष्ट है कि अंतरिक्ष में मरुतों के अन्तर्गत मरीचि आदि की रश्मियाँ (वात रश्मियाँ) होती हैं। ये रश्मियाँ क्षुद्र छन्दों में चलती हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि मरुतों की रश्मियाँ क्षुद्र छन्दों वाली हैं।[2] इन क्षुद्र छन्दों के अति-

---

1. Ibid, p. 113, 114.
२. पूर्व पृष्ठ १४७।

रिक्त ज्यायान् और कनीयान्[1] छन्द भी होते हैं। इनके विषय में जै० ब्रा० में लिखा है—

कनीयांसि छन्दांसि ज्यायस्सु छन्दस्सु-अध्यूहन्ति। जित-देवत्यानि वा एतानि यत् कनीयांसि। तस्मात् ज्यायस्सु छन्दस्सु अध्यूहन्ति।१।१६८॥

अर्थात्—कनीयान् छन्द ज्यायान् छन्दों के ऊपर स्तर बनाते हैं। जित-देवता वाले ये छन्द हैं, जो कनीयान्। इसलिए ज्यायान् छन्दों के ऊपर होते हैं।

जित-देवता वाला शब्द विचारने योग्य है। कनीयान् और ज्यायान् छन्दों के उतार-चढ़ाव का मेल कहाँ होता है, यह अन्तरिक्ष में व्यवस्थित हो चुका है। अन्तरिक्ष की इस माया का अध्ययन गम्भीर अन्वेषण योग्य है।

अन्तरिक्ष के छन्द—पृथिवी लोक का प्रधान छन्द गायत्री है। अन्तरिक्ष का प्रधान छन्द त्रिष्टुप् है।[2] इस त्रिष्टुप् छन्द का क्षुद्र छन्दों से सम्बन्ध जानने योग्य है।

छन्द waves क्यों—हमने यहाँ और पहले भी छन्द का wave अनुवाद किया है। इसका कारण है। विष्णु पुराण में लिखा है—

हयाश्च सप्तछन्दांसि ....।

....

अनुष्टुप् पंक्तिरित्युक्ता छन्दांसि हरयो रवेः॥२।८।५॥

अर्थात्—सूर्य के सप्त अश्व उसके गायत्री आदि सात छन्द हैं। ये ही रवि के हरयः कहाते हैं।

अश्वों में गति है। कैसी गति? छन्दों वाली। यह उतार-चढ़ाव की गति होती है। इस पर अधिक लेख अन्यत्र करने की इच्छा है।

---

१. क्षुद्र और कनीयान् छन्दों का भेद अभी अस्पष्ट है।

२. जै० ब्रा० १।२८६॥

देव-यज्ञ—वेद में देव-यज्ञों का विधान है। उनमें पितर, साध्य, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, पशु आदि भाग लेते रहते हैं। उन यज्ञों का मानव-यज्ञों से कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है। अनेक मानव-यज्ञ कुछ दैवी-यज्ञों की छाया-मात्र हैं। अतः मानव-यज्ञों में पशु-वध उत्तरकालीन कल्पना है।

पितरों का भोज्य—अन्तरिक्षस्थ अनेक पशु अन्तरिक्षस्थ प्राणों (पितरों) का भोज्य हैं। अतः इन्हीं की कल्पना पर उत्तर-काल में पितृ-यज्ञ में पशुओं के मांस से पितरों की तृप्ति समझी जाने लगी।

अन्तरिक्षस्थ रजः

जिस प्रकार पार्थिव पशु और वायव्य पशु पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं, उसी प्रकार पार्थिव रजः और अन्तरिक्षस्थ रजः भी विभिन्न वस्तु हैं। ऋग्वेद १।१५४ का मन्त्रांश है—

यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।१॥

अर्थात्—जिसने पार्थिव बनाए रजांसि।

यजुर्वेद ३४।३२ में **पार्थिवं रजः** पदों से यह बात और भी स्पष्ट है।

एक अन्य मन्त्र ऋग्वेद में है—

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः ॥१०।१२१।५॥

अर्थात्—जिसने अन्तरिक्ष में रजः को बनाया।

प्रतीत होता है पार्थिवरजः पृथिवी मण्डल के अन्तर्गत ही रहते हैं, और अन्तरिक्ष के रजः अन्तरिक्ष में ही रहते हैं। इसीलिए वेद में उनका भेद कथन किया गया है। वैदिक ज्ञान की स्पष्टता अतुलनीय है।

वेद में कृष्ण रजः—ऋ० १।३५।४ में **कृष्णा रजांसि**, और १।३५।९ में **कृष्णेन रजसा** पद प्रयुक्त हैं। मैकडानल इनका अर्थ करता है dark spaces. रजः का space अर्थ अधिक युक्त नहीं।

ऋग्वेद के ८।९६ सूक्त के इन्द्र देवता वाले मन्त्र में—

नभो न कृष्णम् अवतस्थिवांसम् ।१४।

अर्थात्—नभ के समान कृष्ण उपमा मिलती है।

पराशर संहिता में विभिन्न रजः—भगवान् पराशर अपनी ज्योतिष संहिता में लिखते हैं—

पांशुरजो ऽरुणप्रभेषु वृष्टिम् । श्वेते ब्राह्मणपीडाम् ।.... लोहिते शस्त्रकोपम्, नीले शस्त्रक्षयम् । (अद्भुत सागर में उद्धृत, पृ० ३२०)

अर्थात्—पांशुरज के अरुणप्रभ, श्वेत लोहित और नील वर्ण होते हैं।

अद्भुतसागर में उसी पृष्ठ पर हरिवंश और मत्स्य पुराण से जो श्लोक लिखे हैं, उनमें रक्त रेणुओं का उल्लेख है। इसी की वर्षा को जनसाधारण लहू-वर्षा कहते हैं।

मरुतः अरेणवः—ऋग्वेद १।१६८।४ में रेणु-रहित मरुतों का कथन है। क्या मरुतों में कभी भी रेणु नहीं होते, अथवा कहीं होते हैं और कहीं नहीं होते।

ऋग्वेद के वायु सूक्त (१०।१६८) में लिखा है—

दिविस्पृग् याति अरुणानि कृण्वन् उतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ।१॥

अर्थात्—दिवलोक को छूता हुआ जाता है, अरुण करता हुआ, पुनः आता है पृथ्वी के रेणु को फेंकता हुआ।

क्या वायु दिवलोक के रजः को अरुण करता है।

निरुक्त ४।१६ में ज्योति और उदक को रजः कहा है। अतः रजः कण अग्नि और उदक के परमाणु-विशेष हो सकते हैं।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय (१०।१२६) सूक्त के प्रथम मन्त्र में इसी रजः को **नासीद्रजः** लिखा है। अर्थात् उस समय ये रेणु नहीं थे। ऋग्वेद के १।१६०।१ में—**रजसो धारयत् कवि** का अर्थ मैकडानल करता है, supporting the sage of the air. अर्थात्—वायु के मुनि को धारण करते हुए। यह अर्थ उचित नहीं।

COSMIC DUST

वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान के ग्रन्थों में इस रजः को ही cosmic

dust का नाम दिया है। वेद में इसका सुस्पष्ट वर्णन है। इस विषय में आधुनिक वैज्ञानिक लिखते हैं—

(a) "the rarefied cosmic dust that floats in the inter-stellar spece," and "According to Whipple these tiny dust particles barely one fifty-thousandth of an inch in diameter," exist, in the space.[1]

(b) Further, it is now known that interstellar space is not quite empty, but is filled by a mixture of gas and fine dust with a mean density of about 1 mg matter in 1,000,000 cu miles space, and this diffuse, highly rarefied material apparently has the same chemical constitution as have the sun and the other stars.[2]

अर्थात्—अन्तरिक्ष आपः (gas) और रजः से भरा हुआ है।

इन उद्धरणों के साथ पूर्व पृष्ठ ५८ पर मक्रिय का लेख फिर देखिए। पाश्चात्य वैज्ञानिक अन्तरिक्ष का अभी थोड़ा-सा ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सके। वेद में इस ज्ञान का समुद्र विद्यमान है।

सत्ताईस दिन का चक्र—कास्मिक रश्मियों पर काम करने वाले वैज्ञानिकों ने इन रश्मियों का २७ दिन का एक चक्र अनुभव किया है। यथा—

Smaller storms, on the other hand, have a less well-defined pattern during a given disturbance period; but such disturbances have a tendency to recur with a 27-day periodicity, this being connected presumably with the rotation of the sun.[3]

27 Day recurrence of Cosmic rays.[3]

अर्थात्—अन्तरिक्ष के कुछ विघ्न सत्ताईस दिन के अन्तर पर आते

---

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 112
2. Biography of the Earth, p. 33.
३. पृ० ३१५। पुस्तक का नाम पृ० १५६ के टिप्पण में देखो।

हैं। कास्मिक रश्मियाँ प्रति २७ दिन के पश्चात् आती हैं।

नाक्षत्र मास—भारतीय काल-गणना के चार प्रकार के मासों में एक नाक्षत्र मास भी होता है। यह सत्ताईस दिन का होता है। क्या इसका पूर्वोक्त तथ्य से कोई सम्बन्ध है।

ऋभुगण—यास्क की प्रक्रिया के अनुसार मध्यम स्थानी देवगणों में मरुतों के पश्चात् रुद्रगण हैं। और उनके अनन्तर ऋभुओं का स्थान है। ऋभु क्या हैं। यास्क लिखता है—

ऋभव उरु भान्तीति वा। ऋतेन भान्तीति वा। ऋतेन भवन्तीति वा। ११।१५॥

अर्थात्—ऋभु बहुत चमकते हैं। ऋत से चमकते हैं। ऋत से होते हैं।

इन तीन अर्थ-निर्वचनों द्वारा यास्क ने ऋभुओं के सम्पूर्ण इतिहास पर प्रकाश डाला है। ऋत-संज्ञा किस पदार्थ को स्पष्ट करती है, यह हम पूरा नहीं समझ पाए।[1] आपः और अपां-नपात् आदि के साथ ऋत भी एक पदार्थ-विशेष है।

अन्तरिक्ष में भा-युक्त पदार्थ—ध्यान देना चाहिए कि मरुतः विद्युत् से चमकते हैं, वयांसि और पशु आदि आग्नेय-योग से चमकते हैं, रुद्र भी आग्नेय-योग से ऐसे हैं। पुनः ऋभु क्यों ऐसे हैं। ऋग्वेद कहता है—**ऋभवः सूरचक्षसः।** १।११०।४॥[2]

अर्थात्—ये ऋभु सूर्य की चमक वाले हैं।

ऋभु देव हुए—ऋभु पहले मरणधर्मा थे। तदनन्तर वे देव हो गए। ऋग्वेद १।११०।४ कहता है—

मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।

अर्थात्—मरणधर्मा होकर अमृतत्व को प्राप्त हुए।

---

१. देखो— **रुद्राः ऋतस्य सदनेषु ववृधुः। ऋ० २।३४।१३॥**
अर्थात्—रुद्र ऋत के घरों में वृद्धि को प्राप्त हुए।

२. **यजुः २५।२० के अनुसार मरुतः भी ऐसे हैं।**

अमृत-प्रदाता सविता—ऋग्वेद के ऋभु सूक्त १।११० के तीसरे मन्त्र में लिखा है—

तत् सविता वो ऽमृतत्वमासुवत् ।३।

अर्थात्—उस सविता ने तुम्हारा [हे ऋभुओ] अमृतत्व उत्पन्न किया।

ऋभुओं में यह अमृतत्त्व कैसे आया। यह वैसा ही भाव है, जैसा पूर्व पृष्ठ १३८ पर कहा है—अग्नि अमृत हुआ वयांसि से।

निरुक्त ११।१६ में यास्क कहता है कि सूर्य की रश्मियाँ भी ऋभु कहाती हैं। ये सहस्र रश्मियों में से विशेष प्रकार की रश्मियाँ हैं। ऋभु, विभ्वा और वाज, ये तीन अङ्गिरा के पुत्र हैं। अङ्गिरा भी सूर्य रश्मियाँ हैं। यास्क ने अन्तरिक्षस्थ **अंगिरो गण** का भी उल्लेख किया है।

ऋषियों का प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा साक्षात्कृत धर्म कितना सत्य था, यह विज्ञान के योगों अथवा परीक्षणों द्वारा सिद्ध होगा।

अस्त्र-विद्या—अस्त्र-विद्या का आधार पृथिवी मण्डल और अन्तरिक्ष मण्डल के त्रसरेणुओं आदि में विप्लव उत्पन्न करने पर है। वायव्यास्त्र से वायु-रश्मियाँ, आग्नेयास्त्र से अग्नि-त्रसरेणु, और वारुणास्त्र से अपः त्रसरेणु आदि विद्युत्-प्रभाव से युक्त हो जाते हैं।

अन्तरिक्ष समस्या—अन्तरिक्ष में प्रकाश की गति के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप एल्बर्ट आईनस्टाईन के कई मत वैज्ञानिक जगत् के सामने आए। उससे पहले एक गम्भीर समस्या खड़ी हो चुकी थी। उस समस्या के विषय में लिङ्कन बार्नेट लिखता है—

The Michelson-Morley experiment confronted scientists with an embarrasing alternative. On the one hand they could scrap ether theory which had explained so many things about electricity, magnetism and light. Or if they insisted on retaining the ether they had to abandon the still more venerable Copernican theory that the earth is in motion.[1]

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 48.

अन्तरिक्ष में आपः (ether अथवा gaseous matter) का अस्तित्व माने बिना विज्ञान पंगु रहेगा। आईनस्टाईन ने ईथर के विचार को अस्वीकार किया है—by rejecting the ether theory.[1] परन्तु वैदिक-विज्ञान के अनुसार आपः अवश्य व्यापक हैं।

अंतरिक्ष के सप्त वायु-मार्गों का उल्लेख आगे एक पृथक् अध्याय में होगा।

आशा दिशा

अन्तरिक्ष के साथ दिशाओं का अस्तित्व भी स्थिर हुआ। तीनों लोकों के व्यवस्थापन (adjustment) में दिशाओं का महान् भाग है। इनके बिना ये लोक स्थिर नहीं रह सकते।

आशा-दिशा भेद—यजुर्वेद २२।२७ के अनुसार आशा और दिशाओं में भेद है। वेद में तथा शाखाओं आदि में इन्हें पृथक्-पृथक् स्मरण किया गया है। यथा—

दिग्भ्यः स्वाहा। आशाभ्यः स्वाहा। उर्व्यै दिशे स्वाहा। अर्वाच्यै दिशे स्वाहा।

यास्कीय निघण्टु १।६ में दिङ् नामों में आठ पद पढ़े हैं।

दिशाएँ देवमाया में स्थिर हैं। आशाएँ सूर्योदय के स्थान से स्थिर की जाती हैं। सूर्योदय का स्थान थोड़ा-थोड़ा बदलता है। यह प्रत्यक्ष है। यह भेद हमने अनुमान से जाना है। वास्तविकता के लिए अभी प्रमाण अन्वेष्टव्य हैं।

परिधयः—दिशाएँ परिधयः हैं। तै० ब्रा० २।१।५।२, तथा ऐ० ब्रा० ५।२८ में स्पष्ट कहा है—**दिशः परिधयः**। अर्थात्—भूः, भुवः और स्वः लोक इन दिशाओं के घेरों से बँधे हुए हैं।

आईन स्टाईन ने कहा—

The universe is a restless place : stars, nebulae, galaxies,

---

1. ibid, p. 49.

and all the vast gravitational systems of outer space are incessantly in motion. But their movements can be described only with respect to each other, for in space there are no directions and no boundaries.[1]

अर्थात्—शून्य में कोई दिशाएँ और घेरे नहीं हैं।

यह बात सत्य सिद्ध नहीं होगी। शून्य कहीं भी नहीं। आपः परमाणु सम्पूर्ण जगत् को घेरे हुए हैं, और विभिन्न अन्तरिक्षों में व्याप्त हैं। और इन्हीं के कारण पारस्परिक व्यवस्थापन के फलस्वरूप अन्तरिक्ष की माया विभिन्न परिधियों में हो रही है। पर इतना सत्य प्रतीत होता है कि space एक fixed system or frame work[2] नहीं है। शून्य का मानना वृथा है। पर इस शून्य में व्यवस्थित रूप अवश्य हैं, पर हैं वे भी गतिशील।

चतुर्थ लोक—तीन लोक प्रसिद्ध हैं। इनके साथ दिशाओं का चतुर्थ लोक भी माना गया है। जै० ब्रा० २।१७६ का वचन है—

एष उ ह वै चतुर्थो लोको यद् दिशः।

अर्थात्—यह निश्चय चौथा लोक है, जो दिशाएँ हैं।

जिस प्रकार भूलोक अथवा अन्तरिक्ष लोक में अपनी-अपनी माया चल रही है, उसी प्रकार दिशाओं में भी एक माया-विशेष है। इस माया का प्रदर्शन दिग्दाह के समय प्रायः होता रहता है।

शिक्यम्—शतपथ ब्राह्मण में दिशाओं को शिक्य लिखा है—

दिशः शिक्यम्। दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुम्। यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यम्। ६।७।१।१६॥

अर्थात्—दिशाएँ शिक्य हैं। दिशाओं से ही ये लोक समर्थ होते हैं, ठहरने को। क्योंकि समर्थ होते हैं [=सकते हैं], इसलिए शिक्य [हैं]।

1. The Universe and Dr. Einstein, p. 50.
2. ibid, p. 49.

शिक्य का अर्थ—मोनिअर विलियम्स के कोष में अर्थ है, the string of a balance. ऐग्लिङ्ग का अर्थ है, netting. याज्ञवल्क्य स्मृति २।१०० की अपरार्क टीका में व्यास स्मृति के एक उद्धृत-वचन में शिक्यद्वयं पाठ है। ये शिक्य दो होते हैं। पुनः इससे आगे अपरार्क में नारद स्मृति के कक्षा पद का अर्थ कक्षा=शिक्यम् किया है। मिताक्षरा में कदर्यं=शिक्यतलम् माना है।

पञ्जाबी भाषा में छिक्का एक प्रसिद्ध शब्द है। यह शिक्य का विकार प्रतीत होता है। इसी अर्थ का शिक्य मूलवाला एक दूसरा अपभ्रंश सींका पद है। इसका प्रयोग सूर की हिन्दी कविता में है। इस तुलना से निश्चय होता है कि तुला के दोनों पलड़े शिक्य कहाते हैं।

दिशाएँ इसी प्रकार के पलड़े हैं। इन्हीं पलड़ों के अन्तर्गत इस सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले सारे ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र आदि घूमते हैं। इन्हीं दिशाओं ने इन सबको एक नियम में स्थिर कर रखा है।

शिक्याकृति—इन शिक्यों का मरुतों और आदित्य से सम्बन्ध है। अथर्ववेद १३।४।८ का मंत्र भाग है—

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतिः।

अर्थात्—वह प्राप्त होता है छिक्के के रूपवाला।

भारतीय ग्रन्थों में दिग्-विज्ञान का अच्छा विस्तार है। योरोप में Physics का यह भाग अभी अध्ययन का यथेष्ट-विषय नहीं बना। इस का कारण है। योरोप में अन्तरिक्ष-विज्ञान का प्रायः अभाव है। Interstellar Physics का श्रीगणेश जब होगा, तो वैदिक ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ेगी।

मरुतों के सम्बन्ध से चुम्बक प्रभाव—दिशाओं में चुम्बक-प्रभाव पूर्ण यौवन में वर्तमान रहता है। पूर्व पृ० १२६–२७ पर पृथिवी की लोहमयी सूचियों का उल्लेख किया गया है। इन सूचियों का दिक्-सूचियों से अवश्य सम्बन्ध होना चाहिए। दिक्-सूचियों के विषय में ब्राह्मण ग्रंथों में लिखा है—

दिशो वै लोहमय्यः [सूच्यः]। श० १३।२।१०।३ ॥
दिशो वै अयस्मय्यः [सूच्यः]। तै० ३।६।६।५ ॥

अर्थात्—दिशाएँ लोहमयी सूचियाँ हैं।

अवान्तर दिशाएँ—जै० ब्रा० में नौ दिशाओं का उल्लेख है। यथा—

चत्वारो दिशः। चत्वारो ऽवान्तरदिशः। ऊर्ध्वा दिङ् नवमी। २।३११ ॥

अर्थात्—चार दिशाएँ, चार अवान्तर दिशाएँ (=प्रदिशाएँ) हैं। ऊर्ध्व दिशा नवमी है।

अवान्तर दिशाएँ भी सूचियाँ—दिशाओं के सदृश अवान्तर दिशाएँ भी सूचियाँ हैं।

अवान्तरदिशो रजताः [सूच्यः]। श० १३।२।१०।२॥
तै० ब्रा० ३।६।६।५॥

अर्थात्—अवान्तर दिशाएँ चान्दी रूपी सूचियाँ हैं।

रजत सूचियाँ मरुतों के कारण बनती हैं। लोहमयी सूचियों और रजत सूचियों में क्या भेद है, और दोनों का परस्पर क्या प्रभाव है, इसका निर्णय करना विज्ञान का मार्ग खोलेगा। दिशाओं और अवान्तर दिशाओं के सम्यक् व्यवस्थापन में कितना समय लगा, यह अभी ज्ञात नहीं।

सूचियाँ और छन्द—अन्तरिक्ष में दिशाओं की सूचियाँ छन्दों पर आश्रित हैं। विभिन्न मरुद् गणों के छन्द इन सूचियों को बनाते हैं। इसीलिए कहा है—

छन्दांसि वै दिशः। श० ८।३।१।१२ ॥

अर्थात्—छन्द ही दिशाएँ हैं।

छन्द तरङ्गों में चलते हैं। उन्हीं के कारण ये सूचियाँ बनती हैं। ये तरङ्गें अश्व-गति में चलती हैं। अतः छन्दों को वाजिनः भी कहा है। यथा—

छन्दांसि वै वाजिनः। गो० उ० १।२०॥

ये अश्व आदित्य के प्रभाव से प्रभावित होते हैं। इसलिए कहा भी है—

दिशो वै हरितः। श० २।५।१५॥ जै० ब्रा० २।२२६॥

अर्थात्—दिशाएं आदित्य के अश्व हैं।[1]

ये अश्व रश्मियाँ ही हैं। जै० उ० ब्राह्मण में लिखा है—

युक्ता ह्यस्य (इन्द्रस्य=आदित्यस्य) हरयः शतादशेति। सहस्रं हैते आदित्यस्य रश्मयः।१।४४।५॥

अर्थात्—जुड़े है इसके (आदित्य) के हरि १००×१०। सहस्र निश्चय ये आदित्य की रश्मियाँ हैं।

ये रश्मियाँ=हरि तरङ्गों में चलकर और फिर मरुतों से मिल कर दिशाओं तक पहुँचते हैं।

हरयः रूपी रश्मियाँ अन्तरिक्ष में कणों के रूप में चलती हैं। इसी लिए हरयः को निघण्टु २।३ में मनुष्य=नर नामों में पढ़ा है।

ये छन्द ऊपर-नीचे चल रहे हैं, अथवा कहीं किसी और को काटते हैं, यह भी जानना चाहिए।

आशापाल—दिशाओं में इन छन्दों के कारण आशापाल अर्थात् दिशाओं के रक्षक भी बन गए। शतपथ का वचन है—

अथैते देवाः [आशापालाः] आप्याः, साध्याः,[2] अन्वाध्याः, मरुतः। १३।४।२।१६॥

अर्थात्—अब ये देवों से बने [आशापाल] आप्य, साध्य, अन्वाध्य और मरुतः हैं।

ये आशापाल क्या हैं और किस प्रकार से दिशाओं वा आशाओं का पालन करते हैं, यह ज्ञेय है।

आशा पर्वत—ऋग्वेद १।३६।२ में आशा-पर्वतों का उल्लेख है—

वि याथन वनिनः पृथिव्या वि-आशाः पर्वतानाम्।

---

१. देखो, यास्कीय निघण्टु १।१५, हरित आदित्यस्य।

२. निघण्टु १।५ के अनुसार साध्याः रश्मियां हैं।

अर्थात्—हे नरः, प्राप्त होते हो पर्वतों की आशाओं को।

अथर्ववेद ५।२४।६ मन्त्र है—

मरुतः पर्वतानामधिपतयः।

ये पर्वत कौन से हैं, जिनके मरुत अधिपति हैं।

दिशाओं और अवान्तर दिशाओं के समझने के लिए दिशाओं के नामादि निम्न चित्र से प्रदर्शित किये जाते है। (प्रशस्तपाद, पृ० ६७)
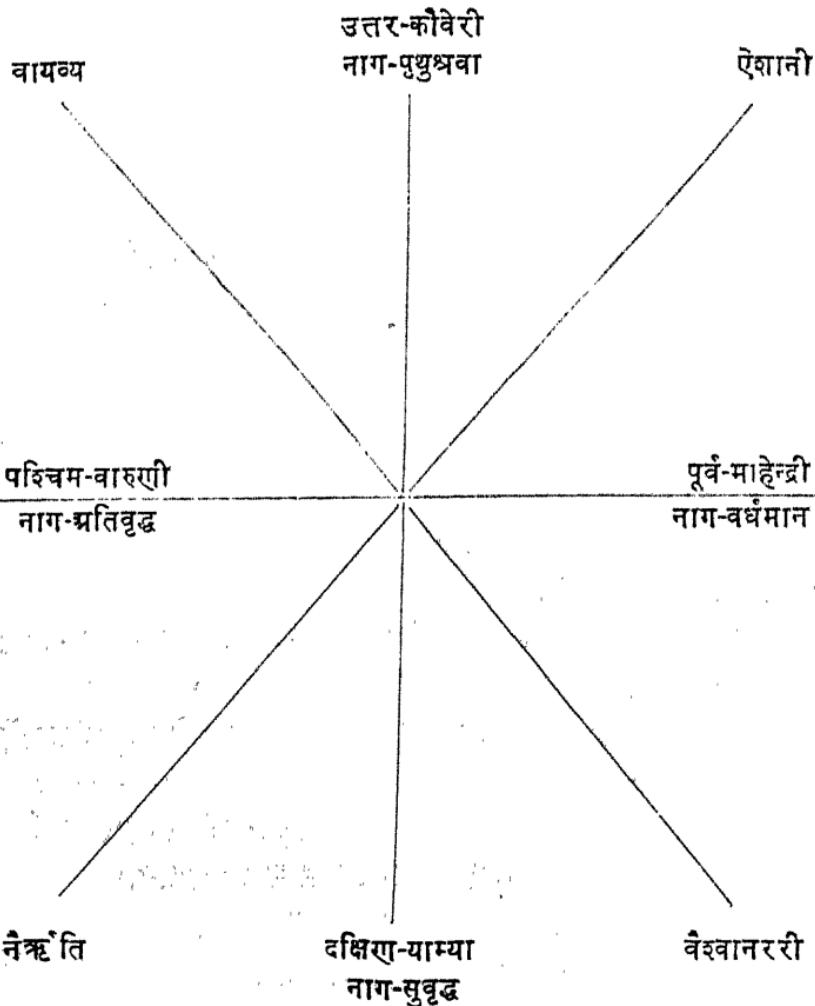
१. माहेन्द्री अथवा प्राच्य-पूर्व—(eastern)
२. वैश्वानरी (east south)
३. याम्या अथवा दक्षिण (southern)
४. नैर्ऋति (south west)
५. वारुणी अथवा पश्चिम (western)
६. वायव्या (west north)
७. कौवेरी अथवा उत्तर (northern)
८. ऐशानी (north east)

दिक्-निर्माण का कारण—वैशेषिक शास्त्र के महान् ग्रन्थ आज लुप्तप्राय: हैं। शंकरमिश्र अपने वैशेषिक उपस्कार २।२।१६ पर लिखता है—

एते चादित्यसंयोगा येन विभुना द्रव्येणोपनीयन्ते सा दिक् इति कणादरहस्ये व्युत्पादितं विस्तरतः।

अर्थात्—पूर्वोक्त आठों दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ अन्तरिक्षस्थ विभु-द्रव्यों और आदित्य-रश्मियों के संयोग से उत्पन्न होती हैं।

संस्कृत संज्ञाएं अपना कारण अपने अन्दर रखती हैं। यह विज्ञान का रहस्य है।

अन्तरिक्ष में दिक्स्थान—पाँच दिशाएँ आदित्य से भूमि की ओर तथा पाँच ही दूसरी ओर होती हैं। शतपथ में लिखा है—

तद् या अमुष्माद् आदित्याद् अर्वाञ्चः पञ्चदिशः ता नाकसदः। याः पराच्यः ता पञ्चचूडाः[1]। ८। ६। १। १४॥

अर्थात्—तो जो उस आदित्य से इधर की ओर पाँच दिशाएँ [हैं], वे नाकसद [हैं]। जो [उस आदित्य से] परे (उधर) हैं, वे पञ्चचूडा हैं।

आदित्य से परे जो दिशाएँ हैं, वे अतिरिक्त कहाती हैं। उनका इस अन्तरिक्ष और इस पृथ्वी पर प्रभाव नहीं है। उनका प्रभाव आदित्य से

---

१. तुलना करो—पञ्चचोडा उप दधाति, अप्सरस एवैनमेता भूता अमुष्मिंलोक उप शेरे। तै० सं० ५। ३। ७॥

परे के महः अथवा अपराजित और अधिद्यु: आदि लोकों पर है।[1] यह प्रभाव कैसा है, हम नहीं कह सकते। पर एक बात सत्य है कि विश्व के नियम समान अवस्थाओं में समान ही हैं।

परला अन्तरिक्ष—जै० ब्रा० में इसका वर्णन है। अनेक आचार्य उसके कारण भी यज्ञ में कोई क्रिया करते हैं। यथा—

अथ यत् परेण दिवम् अन्तरिक्षं मन्यन्ते। एवं परेण पृथिवीम् आपः, तेनो बहिर्निधने-इति। १। २६८॥

इस संकेत का मूल शतपथ ६। ५। २। ७ में है—

तस्माद् एषां लोकानाम् अन्तरतश्च बाह्यतश्च दिशः।…। अपरिमिता हि दिशः।

अर्थात्—जैसा लोकों के अन्दर वैसा इन लोकों के बाहर भी दिशाएँ हैं। अपरिमित हैं दिशाएँ।

जैमिनि का कथन—अन्तरिक्ष और भी हैं। इसीलिए जैमिनि कहता है—

तस्माद् अयं वायुः-अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते।
३। ३१०॥

यहाँ अस्मिन् सर्वनाम स्पष्ट करता है कि अन्तरिक्ष और भी हैं।

क्या दूसरे अन्तरिक्ष में वायु तिर्यङ् नहीं बहता। क्या उस अन्तरिक्ष में वायुगति के नियम और हैं। यह मेरे वर्तमान ज्ञान के अनुसार असंभव, पर फिर भी विचारणीय पक्ष है।

दिक् स्थापन—यजुर्वेद ११। ५८ की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण

---

१. सात लोकों में से पहले तीन कृतक, चौथा महः शून्य, और अन्तिम तीन अकृतक हैं। कृतक इसलिए कि प्रतिकल्प में बनते हैं। पहले तीन लोकों का प्रलय प्रतिकल्प में हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः सूर्य आदि की उत्पत्ति होती है। (विष्णु पुराण २। ७। १८, १९॥) ये प्रलय क्यों होते हैं, इनका ज्ञान किन नियमों से ऋषियों को हुआ, यह ज्ञातव्य है।

में लिखा है—

दिशो हैतद् यजुः । एतद् वै विश्वे देवा वैश्वानरा एषु लोकेषु-उखायाम् एतेन चतुर्थेन यजुषा दिशोऽदधुः । ६ । ५ । २ । ६ ॥

अर्थात्—दिशाएँ ही यह यजु [है] । ये निश्चय विश्वेदेवा (=सूर्य रश्मियाँ) वैश्वानरा [हैं, जिन्होंने] इन लोकों में अथवा इस उखा (अग्नि धारण करने वाले छोटे से मृत्पात्र, अथवा छोटी अंगीठी) में चौथे याजुष मन्त्र से दिशाओं को रखा ।

ये विश्वेदेवा क्यों वैश्वानर कहाते हैं । निस्सन्देह इनमें वैश्वानर अग्नि का प्रवेश हुआ है । दिक्‌निर्माण में आग्नेय-योग है । इसीलिए श० ६ । २ । २ । ३४ में कहा है—दिशोऽग्निः ।

अर्थात्—दिशाएँ अग्नि हैं ।

कभी दिशाओं में ही अग्नि चला गया था । तै० सं० ५ । ४ । ७ में लिखा है—अग्निर्देवेभ्यो निलायत । स दिशो अनु प्राविशत् ।

कपिष्ठल सं० का वचन है—दिशो वै नाकल्पन्त न प्राज्ञायन्त (कठ-प्राजायन्त) । ६ । ६ ॥

अर्थात्—दिशाओं में सामर्थ्य न था । कुछ ज्ञात न होता था ।

दिग्दाह माया—इसका पाश्चात्य ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख नहीं है । कारण कि वहाँ दिशा-आशा का भेद अभी अज्ञात है । दिग्-दाह का अधूरा भाव—preternatural redness of the horizon शब्दों से प्रकट किया जाता है । बार्हस्पत्य ज्योतिष-संहिता में दिग्दाह का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में हुआ है—

> सदा ऽस्तमित आदित्ये वह्निज्वाला प्रदृश्यते ।
> दिशां दाहं तु तं विद्याद् भार्गवस्य वचो यथा ॥[1]
> श्वेता पीताश्च रक्ताश्च दाहाः कृष्णाश्च वर्णतः ।[2]

---

१. अद्भुत सागर, पृ० ३१५ ।

२. A text book of Light, L. R. Middleton, p. 258, London, 1949.

अर्थात्—सदा अस्त होने पर सूर्य के वह्नि ज्वाला दिखाई देती है। दिशा-दाह उसे जानना चाहिए। ये दाह श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण वर्ण के होते हैं।

सूर्योदय के समय की लालिमा दिग्दाह नहीं है। दिग्दाह केवल अस्त होते हुए आदित्य से सम्बन्ध रखता है। यह भेद भी हमें अज्ञात है। अस्त-समय आदित्य-रश्मियों और दिगग्नि का परस्पर क्या व्यवहार होता है, यह जानना चाहिए। उखा कैसे बनी हुई है और शिक्य आदि कैसे काम करते हैं, ये आश्चर्यकरी घटनाएँ अगले अध्ययन से जानी जाएंगी। दिग्दाह के समय दिशाओं के श्वेत आदि चार वर्णों का कारण भी समझने योग्य है। इसके लिए निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिएं।

प्राची दिशा के साथ अग्निमुख वसुओं का
दक्षिण ,, ,, ,, इन्द्रमुख रुद्रों का
प्रतीची ,, ,, ,, वरुणमुख आदित्यों का
उदीची ,, ,, ,, विष्णुमुख विश्वेदेवा का
ऊर्ध्वा ,, ,, ,, ईशानमुख मरुतों का
सम्बन्ध जै० ब्रा० ३। ३८२ में लिखा है।

इनके कारण क्या परिवर्तन हो सकते हैं, यह ध्यान देने योग्य है।

Scattering of light—पाश्चात्य ग्रन्थों में इसका पूरा स्पष्टीकरण हमें नहीं मिला। प्रकाश की विकीर्णता का मत सन्तोष-प्रद नहीं—

At sunrise and sunset the light passes a much greater distance through the atmosphere, so that more scattering occurs, the result being that the sky is a deeper blue, while the sun appears red because the blue light is all scattered.

इस प्रकार के विचारों में उदय और अस्त दोनों काल के प्रकाश का वर्णन है। दिग्दाह केवल अस्त होते हुए सूर्य का प्रभाव है।

परिभूः छन्द—परिभूः का अर्थ है, घेरा वा घेरा-युक्त। दिशाओं का छन्द ऐसा है—

दिशो वै परिभू छन्दः। शत० ८।५।२।३॥

निश्चय है कि दिशाओं के कारण छन्दों का घेरा बन जाता है। आग्नेय परमाणु और आदित्य-रश्मियाँ अन्तरिक्ष में एक चक्र बना रही हैं। दिशाओं से वह चक्र मुड जाता है।

मरुतों के चक्र, वातचक्र (मत्स्य १२७। १८) आदि लीलाएँ अन्तरिक्ष में घट रही हैं।

पृथिवी के नाग—दिशाओं के कारण से पृथ्वी को धारण करने वाले चार नाग बने हुए हैं। साधारण संस्कृत में इन्हें दिग्गज कहते हैं। जिस प्रकार अन्तरिक्ष में अश्व हैं, उसी प्रकार अम्बु में ठहरे दिग्गज भी भौतिक पदार्थ हैं। वे क्या हैं, यह हम अभी नहीं जान सके। उनका उल्लेख गर्ग की संहिता में है[1]—

चत्वारः पृथिवीं नागा धारयन्ति चतुर्दिशम्।
वर्धमानः सुवृद्धश्च अतिवृद्धः पृथुश्रवाः॥
वर्धमानो दिशं पूर्वां सुवृद्धो दक्षिणां दिशम्।
पश्चिमाम् अतिवृद्धश्च सौम्याशां तु पृथुश्रवाः॥
नियोगाद् ब्रह्मणो ह्येते धारयन्ति-अम्बुसंस्थिताः।
ते वसन्ति सदा श्रान्ताः स वायुं श्वसते महान्॥
वेगान् महीं चालयते भावाभावनिदर्शकः।

अर्थात्—चार नाग पृथिवी को धारण करते हैं, चार दिशाओं में। वर्धमान पूर्व में, सुवृद्ध दक्षिण में, पश्चिम में अतिवृद्ध और उत्तर में पृथुश्रवा। ये अम्बु में ठहरते हैं।

इनका विज्ञान हमारी समझ में अभी नहीं आया।

दिशा और श्रोत्र—जो व्यापक श्रोत्र इन्द्रिय है, उसके साथ भी दिशाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्राह्मणों में इस विषय के अनेक वचन हैं, पर हमारी समझ से अभी परे हैं। कल्पना से हम विज्ञान का पक्ष पुष्ट नहीं मानते। अतः इसकी खोज में लगे हैं।

---

१. अद्भुतसागर, पृ० ३८३ पर उद्धृत।

श्रोत्र और दिशा का सम्बन्ध महाभारत, शान्तिपर्व में भी स्पष्ट किया गया है। अनेक इन्द्रियों में अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का सम्बन्ध बताते हुए कहा है—

श्रोत्रम् अध्यात्मम् इत्याहुः—यथा श्रुतिनिदर्शिनः।
शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम्॥ ३१८। ७॥

यहाँ श्रोत्र को अध्यात्म, शब्द को अधिभूत और दिशाओं को अधिदैवत कहा है। दिशाओं का श्रोत्र से पूरा सम्बन्ध है।

जिस प्रकार व्यापक चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ, और सूर्य के कारण मानव आँख देखती है, उसी प्रकार व्यापक श्रोत्र से दिशाएँ बनी हैं और दिशाओं के कारण मानव श्रोत्र शब्द को सुनता है। यह रहस्य भी ज्ञातव्य है।

शान्तिपर्व में पुनः कहा है—

दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात्। ३२२। ५॥

अर्थात्—दिशाओं को श्रोत्र से प्राप्त करे।

वेद में दिशा और श्रोत्र सम्बन्ध का पूरा संकेत है—

दिशः श्रोत्रात्...अकल्पयन्। ऋ० १०। ९०। १४॥

अर्थात्—प्रजापति के श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुईं!

श्रोत्र-आपः सम्बन्ध—शतपथ से पता चलता है कि श्रोत्र का आपः से सम्बन्ध है। यथा—

अपां त्वा सधिषि सादयामि-इति। श्रोत्रं वा अपां सधिः।
७। ५। २। ५५॥

अर्थात्—आपः के तुझे अन्तिम स्थान (विश्राम स्थान), अथवा आपः की अग्नि में ठहराता हूँ। श्रोत्र ही आपः का अन्तिम स्थान अथवा विश्राम स्थान अथवा आपः का अग्नि है।

क्या दिशाएँ आपः का अन्तिम स्थान हैं। अथवा दिगग्निः आपः में कोई प्रवेश-विशेष है।

श्रोत्र और परम रजः—शतपथ में कहा है—

श्रोत्रं वै परमं रजः । दिशो वै श्रोत्रम् । दिशः परमं रजः ।
७ । ५ । २ । २० ॥

अर्थात्—श्रोत्र परमं रजः है । दिशाएं ही श्रोत्र [हैं] । दिशाएं परं रजः [हैं] ।

यहाँ रजः का अर्थ विचार योग्य है ।

आपः विभाजन—आपः-विभाजन अन्तरिक्ष की एक आश्चर्यकरी माया है । इसके विना आदित्य के प्रकाश आदि की व्यवस्था बन नहीं सकती थी । उसके बनने के लिए ऊपर और नीचे के आपः का विभाजन हो गया । और ऊपर दिव्य आपः हो गए ।

यह विभाजन जै० ब्रा० में बड़े श्रेष्ठ प्रकार से उल्लिखित है—

आपो वा इदमग्रे महत् सलिलमासीत् । तदपामेवैश्वर्यमासीत् । यदपामैश्वर्यमासीदपां राज्यम् अपामन्नाद्यम्, तदग्निरभ्यध्यायन्ममेदमैश्वर्यं, मम राज्यं, ममान्नाद्यं स्यादिति । स एतामग्निष्टोमसम्पदमपश्यत् । तयेमा अपो व्युदौहद् ऊर्ध्वाश्चावाचीश्च । स एतमेव दिनर्दिनं स्तोमं गायन् केवलीदमन्नाद्यमकुरुत । स नवभिरेकविंशैरमूरूर्ध्वा उदस्तभ्नोत् । ताः परेण दिवं पर्यौहत् । ता एताः पर्यूढा ऋतुशो वर्षन्तीस्तिष्ठन्ति । एकविंशत्या त्रिवृद्भिरिमा अवाचीरभ्यतिष्ठत् । ताः परेण पृथिवीं पर्यौहत् । ता एताः पर्यूढा अनूत्खायैक उपजीवन्ति ।१।२३७॥

तिष्ठन्तीरेके स्रवन्तीरेके ।१।२३८॥

अर्थात्—आपः निश्चय से पहले महान् सलिल थे । वह आपों का ऐश्वर्य था । जो आपों का ऐश्वर्य था, आपों का राज्य, आपों का अन्नाद्य; उसकी अग्नि ने कामना की, यह मेरा ऐश्वर्य, मेरा राज्य, मेरा अन्नाद्य होवे । उसने इस अग्निष्टोम-सम्पत् को देखा । उसके द्वारा इन आपों को प्रेरित किया, ऊपर और नीचे । उसने इस दिनर्दिन स्तोम का गान करते हुए इसको अन्नाद्य बनाया । उसने नौ [और] एकविंश (२१) [स्तोमों से] ऊर्ध्व आपों को रोका । उनको द्युलोक से परे प्रेरित

किया। वे ये आपः प्रेरित किए हुए ऋतु के अनुसार बरसते हुए ठहरते हैं। इक्कीस से [और] त्रिवृत से ये [आपः] इस ओर ठहरे। इन्हें परे पृथिवी के प्रेरित किया। वे ये प्रेरित किए गए [इन्हें] खोदकर अनेक [लोग] जीते हैं।

ठहरने वाले, बहने वाले।

इन ब्राह्मण-वचनों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं—

१. आपः-कणों अथवा परमाणुओं के गुण अग्नि ने चाहे।
२. आपः ऊपर और नीचे प्रेरित हुए।
३. अन्तरिक्ष में एक सीमा बनी।
४. एक आपः उस ऊपर द्युः लोक और उससे परे तक जाने वाले हुए।
५. दूसरे पृथिवी तक आने वाले हुए।

या परस्ताद् रोचने सूर्यस्य याश्चावस्ताद् उपतिष्ठन्त आपः।

तै० सं० ४।२।४॥ (यजुः १२।४६)

अर्थात्—जो परे रोचन में सूर्य के, जो इधर ठहरते हैं आपः।[1]

आप: के ये कर्म पूरे प्रकार से अध्येतव्य हैं।

मूसा—बाईबिल में मिश्री ज्ञान के आधार पर स्थूल रूप से लगभग यही बात कही गई है—

And God said, Let there be a firmament in the midst of the waters, and let it divide the waters from the waters. (Genesis, 1, 6.)

अर्थात्—प्रजापति ने कहा, अन्तरिक्ष हो जाए, इन आप: के मध्य में। यह अन्तरिक्ष आपः का विभाग करे आपः से।

देखिए बहुवचन पद आपः के स्थान में बाईबिल में भी बहुवचन पद है। उसी का अंग्रेजी में बहुवचन waters प्रयुक्त हुआ है। बिना

१. **तुलना करो—एवमिमे लोका अप्सु अन्तः। शत० १०।५।४।३॥ निस्सन्देह सम्पूर्ण जगत् आपः परमाणुओं से परिवेष्टित है। उन्हीं आपः में अग्नि का प्रवेश भी है।**

वैदिक ज्ञान की सहायता के बाईबिल में इस बहुवचन-प्रयोग का रहस्य खुल नहीं सकता।

अन्तरिक्ष स्वरूप घृतवत्—जिस प्रकार पृथिवी का स्वरूप समझने के लिए दधि और बिस की उपमा दी गई है,[1] उसी प्रकार अन्तरिक्ष के स्वरूप की घृत से तुलना की गई है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्। ७।५।१।३॥

अर्थात्—घृत अन्तरिक्ष का रूप [है]।

घृत के कण स्नेह से संयुक्त रहते हैं। इस प्रकार अन्तरिक्षस्थ आपः-कण आपः के स्नेह से संयुक्त रहते हैं। महान् वैज्ञानिक याज्ञवल्क्य ने आज्य और सर्पिः पदों का प्रयोग न करके घृत शब्द का व्यवहार किया है। सर्पिः बहता है। घृत के कणमात्र होते हैं।

यववत्—इस विषय में तैत्तिरीय संहिता में एक और कथन है—

त्रय इमे लोकाः। एषां लोकानाम् आप्त्या उत्तर-उत्तरो ज्यायान् भवति। एवमिव हीमे लोका यवमयो मध्य एतद्वा अन्तरिक्षस्य रूपम्। २।४।११॥

अर्थात्—पृथिवी से अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष से द्यु-लोक बड़ा है। यह अन्तरिक्ष यवमय मध्य के रूप का है। जौ (यव) का मध्य मोटा और गोल होता है। इसी गोलपन के कारण सूर्य रश्मियाँ तिरश्चीन चलती हैं। (देखो पूर्व पृ० १२४-२५)

रात्रिमात्र—पृथिवी बन रही थी। अन्तरिक्ष भी बन रहा था। अभी आदित्य-जन्म नहीं हुआ था। अतः अग्नि के प्रभाव से मद्धम प्रकाशमात्र था। पर रात्रि और दिन की व्यवस्था नहीं थी। साधारण रात्रि तो थी।

लोक स्तम्भन—अन्तरिक्ष द्वारा द्यावापृथिवी का स्तम्भन हो रहा है। जै० ब्रा० में लिखा है—

अन्तरिक्षं भूत्वा दिवम् अस्तभ्नात्। १।३१४॥

---

१. देखो, पूर्व पृष्ठ १३२।

अर्थात्—अन्तरिक्ष होकर द्युः का स्तम्भन किया।

शतपथ में लिखा है—

एतद् वै देवा इमान् लोकान् उखां कृत्वा दिग्भिरदृंहन्। दिग्भिः पर्यतन्वन्। ६।५।२।११॥

अर्थात्—यही निश्चय से देवों ने इन लोकों को उखा बनाकर दिशाओं से [इन्हें] दृढ़ किया।

इस विषय का विस्तृत वर्णन आगे होगा।

दिक् उपक्षय—तै० सं० में एक विचित्र माया वर्णित है। यह माया कब घटी, इसका ज्ञान भी सूक्ष्म अध्ययन से हो सकता है। वहाँ लिखा है—

देवा वै सत्रमासत। तेषां दिशो ऽदस्यन्त। एताम् आर्द्रां पङ्क्तिमपश्यन्। आ श्रावय-इति। पुरो वातम् अजनयन्। अस्तु श्रौषट्-इति, अभ्रं समप्लावयन्। यज-इति विद्युतम् अजनयन्। ये यजामहे-इति प्रावर्षयन्। अभ्यस्तनयन् वषट्कारेण। ततो वै तेभ्यो दिशः प्राप्यायन्त। १।६।११॥

अर्थात्—देव निश्चय सत्र को ठहरे। उनको दिशाएँ क्षीण (लुप्त) हो गईं। इस आर्द्रा पंक्ति को देखा। आ श्रावय [इन शब्दों से], पुरः वात को उत्पन्न किया, अस्तु श्रौषट् [शब्दों से] अभ्र को समप्लावित किया। यज [शब्द से] विद्युत् को उत्पन्न किया। ये यजामहे [पदों से] भूरि वर्षा की।

तब उनके लिए दिशाएँ भूरि वृद्धि को प्राप्त हुईं।

पुनश्च लिखा है—

देवानां वै सुवर्गं लोकं यतां दिशः समव्लीयन्त। त एता दिश्या अपश्यन्। ता उपादधत। ताभिर्वै ते दिशो ऽदृंहन्।

तै० सं० ५।३।२॥

अर्थात्—देवों से स्वर्ग को जाते हुओं से दिशाएँ अवलीन हो गईं।

यहाँ दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१. दिशाओं में क्षय क्यों और कैसा आया ।
२. दिशाओं के साथ श्रावण=सुनाना और वात, सुनना और अभ्र समप्लावन, तथा यज्ञ करो और विद्युत् आदि का क्या सम्बन्ध है ।

निस्सन्देह वात, अभ्र, विद्युत् और वर्षा का दिशाओं से निश्चित सम्बन्ध है । इनसे दिशाएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं ।

अन्तरिक्ष में सूर्येतर रश्मियाँ—पूर्व लिख चुके हैं कि इस अन्तरिक्ष से परे एक दूसरा अन्तरिक्ष भी है । उससे परे अन्तरिक्ष हैं वा नहीं, यह अभी नहीं कह सकते । प्रश्न होता है कि अति दूरस्थ लोकों के सूर्यों और ताराओं आदि की रश्मियाँ हम तक कैसे पहुँचती हैं । ये दोनों अन्तरिक्ष उन रश्मि परमाणुओं को किस नियम से यहाँ आने दे रहे हैं, अथवा आने ही नहीं देते, यह भविष्य का प्रश्न है । यदि कुछ रश्मि-परमाणु इन अन्तरिक्षों में प्रविष्ट नहीं हो सकते, तो light (प्रकाश) विषयक अनेक विचार बदलने पड़ेंगे ।

शिथिल अन्तरिक्ष—यह अन्तरिक्ष पहले शिथिलवत् था—
शिथिलमिवान्तरिक्षम् । कपिष्ठल सं० ३१।१८॥

पुनः वयः, मरुतों, ऋभुओं, पशुओं और दिशाओं के कारण यह दृढ़ हुआ ।

अन्तरिक्ष का यह अति संक्षिप्त वर्णन यहीं समाप्त किया जाता है । अगले अध्याय में आदित्य आदि का विज्ञान लिखा जाएगा ।

दशम अध्याय

आदित्य—तृतीय सृजन

जन्म—भूमि के पश्चात् अन्तरिक्ष का अस्तित्व हुआ। तत्पश्चात् आदित्य का जन्म हुआ। इस विषय में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

सो ऽकामयत। भूय एव स्यात प्रजायेतेति। स वायुना ऽन्तरिक्षं मिथुनं समभवत्। तत आण्डं समवर्तत। तद् अभ्यमृशाद् यशो बृहतीति। ततो ऽसावादित्यो ऽसृज्यत। एष वै यशः। यदश्रु संक्षरितमासीत् सो ऽश्मा पृश्निरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्मा इत्याचक्षते।

···अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयो ऽभवन्। अथ यत् कपालमासीत् सा द्यौरभवत्॥ ६। १। २। ३॥

उस [प्रजापति ने] कामना की। अधिक ही होवे, प्रजा उत्पन्न करे। उसने वायु द्वारा अन्तरिक्ष के साथ मिथुन संयोग किया। उससे [मूल] अण्ड का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसे इसने छुआ, यश को धारण करो, इन शब्दों के साथ। उससे वह आदित्य सृजा गया। वही निश्चय यशः है। जो अश्रु संक्षरित हुआ (=बहा), वह अश्मा-पृश्नि हुआ। ······। तब जो कपाल में रस लिप्त था, वे रश्मियाँ हुईं। फिर जो कपाल था, वह द्यौ हुई।

इस वचन से निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

१. वायु और अन्तरिक्ष का मिथुन संयोग हुआ।

२. इनसे आदित्य जन्मा।

३. अश्रु अश्मा-पृश्निः बना है।

४. कपाल में लिप्त रस रश्मियाँ हैं।

५. कपाल द्यौ हुई।

अब इन में से प्रत्येक पर विचार किया जाता है।

१. वायु एक स्वतन्त्र तत्व है। अन्तरिक्ष में आपः और अग्निः की माया है। इससे निश्चय होता है कि आदित्य में पार्थिव अंश नहीं अथवा रजः के रूप में अति स्वल्प है। आदित्य में वायु, आपः और अग्निः का समावेश है। इसीलिए कहा है—

समाने वै योनावास्तां सूर्याश्चाग्निश्च । ततः सूर्य ऊर्ध्व उदद्रवत् । काठक सं० ६।३।। कपि० सं० ४।२।।

अर्थात्—समान योनि में निश्चय थे, सूर्य और अग्निः। वहाँ से सूर्य ऊपर उड़ा।

इससे स्पष्ट है कि सूर्य में आग्नेय अंश पर्याप्त है। सूर्य के आग्नेय-कण किस रूप में हैं, यह आगे पता लगेगा।

आदित्य की सम्पूर्ण महिमा वायु कणों तथा दिव्य आपः और दिव्य अग्निः अथवा विद्युत् के कणों के कारण है।

२. अतः आदित्य में सम्पूर्ण प्राण, ऋषि, पितर और देव निवास करते हैं। प्राण, ऋषि, पितर और देव वायुः, आपः और अग्नि के योग का फल हैं।

३. अश्रु अश्मा-पृश्निः हुआ। आदित्य में अश्मा-पृश्नि का भूरि योग है। अतः आदित्य अश्मा-पृश्निः भी कहा गया है। **असौ वा ऽआदित्यो ऽश्मा पृश्निः** । श० ६।२।३।१४ ।।

पर अश्मापृश्नि कोई स्वतन्त्र पदार्थ भी है। अतः ऋग्वेद ५।४७।३ का उत्तरार्ध है—

मध्ये दिवः निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ।।

अर्थात्—द्यु लोक के मध्य में अश्मापृश्नि स्थित है।

इसी मन्त्र की व्याख्या शतपथ ६।२।३।१२ में है। मैत्रा० सं० में

लिखा है—

असुः पृश्निः। मध्ये दिव्यो निहितः पृश्निरश्मा। इति। असुं वावास्यैतन् मध्यतः प्राणापानानां व्यवदधाति। ३।४।४॥

अर्थात्—यह अश्मापृश्नि दिव्यः (=विद्युत् युक्त) और दो के मध्य में है।

शतपथ का जो वचन पहले लिखा है, उसके आगे अति स्पष्ट रूप में व्याख्या है—

पृश्निर्भवति। रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्निः।

अर्थात्—[वह आदित्य] चितकबरा होता है। [बहुविध][1] रश्मियों से ही [सूर्य] मण्डल चितकबरा है।

४. कपाल में लिप्त रस रश्मियाँ हैं। जिस प्रकार अन्तरिक्ष से वयाँसि और मरीचि पृथक् अस्तित्व रखते हैं, उस प्रकार रश्मियाँ भी आदित्य से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं। ये रश्मियाँ किस प्रकार अपनी माया प्रकट करती हैं, इसका अध्ययन आगे होगा।

५. कपाल द्यौ हुई। अतः द्यौ की परिधि है। उससे आगे और लोक हैं।

प्रजापति की मूर्धा से आदित्य जन्म—पूर्वोक्त भाव को दूसरे ब्राह्मण-प्रवक्ताओं ने और प्रकार से प्रकट किया है। यथा—

प्रजापतिरकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। सो ऽशोचत् तस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नो ऽसृज्यत। सोऽस्य मूर्द्धानमुदहन्। स द्रोणकलशो ऽभवत्। तस्मिन् देवाः शुक्रमगृह्णत। तां वै स आयुषा-आर्तिम्-अत्यजीवत्। ताण्ड्य ६।५।१॥

अर्थात्—प्रजापतिने कामना की। बहुत होऊँ, प्रजा उत्पन्न करूँ। उसमें दीप्ति आई। उसके दीप्त होते हुए आदित्य मूर्धा से उत्पन्न हुआ उस [आदित्य] ने उस के मूर्धा को ऊपर की ओर चोट पहुँचाई

---

१. बहूनि वै रश्मिनां रूपाणि। मै० सं० २।२।११॥

(काटा)। वह द्रोणकलश हुआ। उसमें देवों ने शुक्र (=अग्नि परमाणुओं का एक प्रकार-विशेष) को ग्रहण किया।

टिप्पणी—अशोचत क्रिया पद का कालेण्ड का अर्थ languished है। यह अर्थ शोक से मिलता है। परन्तु शोचिः का अर्थ दीप्तिः भी है। और आदित्य में शुचिः अग्निः है। अतः अशोचत का अर्थ दीप्ति-युक्त हुआ, प्रसंगानुकूल है।

ऐतरेय ब्राह्मण ३।३४ का पाठ दीप्ति के अर्थ का संकेत करता है। यथा—

तस्य [प्रजापतेः] यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्यो ऽभवत्।

अर्थात्—उस प्रजापति के जो रेतस् से पहले ऊपर दीप्त-युक्त हुआ वह आदित्य हुआ।

उस मूर्धा से द्रोणकलश बना। इस द्रोणकलश में शुक्र हुआ। ऋग्वेद के मन्त्र में—चक्षोः सूर्यो ऽजायत।१०।९।१०॥ पद है। चक्षुः मूर्धा का भाग है। अतः इस मन्त्र में भी वही भाव है।

रश्मिः—इत्येव-आदित्यम् असृजत। तै० सं० ५।३।६॥

अर्थात्—रश्मि यह [कह कर] ही आदित्य को उत्पन्न किया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आदित्य रश्मि-समूह है।

आदित्य-निर्माण की सामग्री—पहले लिख चुके हैं कि आदित्य में वायु, आपः और अग्नि के परमाणुओं का समावेश है।[1] इन तीन में से भी आपः का भाग बहुत अधिक है। इसीलिए यजुर्वेद में लिखा है—

(क) अपाँ गम्भन्त्सीद।१३।३०॥

अर्थात्—तुझे बिठाएँ आपः की गम्भीरता में।

इस मन्त्र पर शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—

---

१. तेजसां गोलकः सूर्यः। सूर्य सिद्धान्त, अद्भुतसागर, पृ० ४२ पर उद्धृत। सूर्य सिद्धान्त का पाठ प्रतीत होता है। उपलब्ध सू० सि० में यह पाठ नहीं है।

(ख) एतद् ह अपाँ गम्भिष्ठं यत्रैष एतत् तपति ।७।५।१।८॥

अर्थात्—यह निश्चय से आपः का गम्भीरतम [स्थान है], जहाँ यह तपता है।

पुनः जैमिनीय ब्राह्मण में कहा है—

(ग) अथ यद् एतन्मण्डलं ता आपः ।२।६२ ॥[1]

अर्थात्—तब जो यह मण्डल [है] वे आपः [हैं]।

इससे भी स्पष्ट कथन इसी ब्राह्मण ।२।१४५ में आगे है—

(घ) ये ह वा एत आदित्यस्य रश्मय एतानि ह वा एतस्य शृंगाणि। मध्य उ ह वा एष एतद् अपाम्। तासु वारवन्तीयम्।

अर्थात्—जो निश्चय ही ये आदित्य की रश्मियाँ हैं, ये निश्चय ही इसके सींग है। मध्य में निश्चय ही यह आदित्य आपः के है।

ऐतरेय ब्राह्मण में महिदास का प्रवचन है—

(ङ) एष [आदित्यः] वा अब्जा अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेति। अपः सायं प्रविशति। ४।२०॥

अर्थात्—यह आदित्य निश्चय आपः से जन्म वाला। आपः से यह प्रातः समय उदय होता है। आपः में सायं समय प्रवेश करता है।

शतपथ में एक और प्रकार से लिखा है—

(च) आपो वाऽअर्कः ।१०।६।५।२॥

अर्थात्—आपः ही अर्क (=सूर्य) है।

आदित्य में पार्थिवांश का अभाव—पृथिवी बन चुकी थी। फिर अन्तरिक्ष और तदनु सूर्य अस्तित्व में आया। पहले लिख चुके हैं कि सूर्य में प्राण, अग्नि और आपः का समावेश है, पार्थिवांश नहीं के समान है। इसका प्रमाण योरोप में हुए सूर्य-विषयक नए परीक्षणों से मिलता है। तदनुसार—

the Earth's density is some four times as great as the Sun's. Since the mean density of the Earth is 5.5 times that

---

१. तुलना, इममपां सङ्गमे सूर्यस्य। यजुर्वद ७।१६॥

of water, that of the sun (taking the density of water as unit) is 1.4. Already we are beginning to glimpse the fact that the Sun cannot be in a solid state, for its constituent materials are on the average much less dense, than those solid materials of which the Earth is composed.[1]

अर्थात्—पृथिवी का घनत्व सूर्य से लगभग चार गुना अधिक है। यदि उदक के घनत्व को आदर्श माना जाए, तो सूर्य का घनत्व १.४ और पृथिवी का घनत्व ५.५ है। इससे यह तथ्य दृष्टि में आ रहा है कि सूर्य ठोस रूप में नहीं हो सकता। इसके बनाने वाली सामग्री में घनत्व बहुत न्यून है।

यह ग्रन्थकार पुनः लिखता है—

the Sun's mean density, which is only one quarter of the Earth's, and since the time of Sacchi and Lockyear it has been realised and repeatedly confirmed that the sun is a wholly gaseous globe.[2]

अर्थात्—यह अनुभव किया गया है, और बहुधा पुष्ट भी हुआ है कि सूर्य पूर्णतया गैस का गोला है।

यह गैस क्या है, इसकी रचना में किन तत्वों का योग है, इसका ज्ञान योरोप में नहीं है। भारतीय ऋषि आपः के रूप में इस सत्य को पूर्ण स्पष्ट जानते थे। वे आपः से पूर्व की अवस्थाओं को भी जानते थे। संघात अथवा घनत्व पृथिवि का गुण है, और क्योंकि पार्थिव अंश सूर्य में न के तुल्य है, अतः उसका घनत्व पृथिवी के घनत्व का लगभग चौथा भाग है।

पूर्व पृष्ठ ६७ पर महाभारत, शान्तिपर्व के प्रमाण से संघात का स्वरूप लिखा गया है। तदनुसार सूर्य का घनत्व अग्निः, पवन और जल के परस्परानुप्रवेश के कारण है। जल का स्नेहांश ही सूर्य के घनत्व

1. Abetti, The Sun, p. 40.
2. ibid, p. 342.

में काम करता है, पार्थिवांश नहीं।

आर्ष ज्ञान का सत्य—घनत्व पृथिवी का धर्म है। यदि पृथिवी सूर्य से पृथक् होकर बनी हुई होती, तो पृथिवी के मूल सूर्य में भी लगभग उसी ढंग का घनत्व अथवा उससे थोड़ा न्यूनाधिक घनत्व होता। पर पृथिवी तो सूर्य से पहले बन चुकी थी। पृथिवी महद्दण्ड के निचले भाग से बनी थी, अतः उसमें गुरुत्व और घनत्व अधिक है। सूर्य में उस पृथिवी-सदृश अवस्था की सम्भावना ही नहीं है। योरोप की भूल का कारण पञ्चभूतों का न मानना ही है। वेद का यह सत्य अन्त को सब वैज्ञानिकों को स्वीकार करना पड़ेगा। पञ्चभूतों के मानने से ही Electrons में negative और positive विद्युत् प्रभाव समझ में आ सकते हैं। negative आपः परमाणु और positive आग्नेय परमाणु हैं।

ऋग्वेद का मन्त्र भाग है—

गर्भो यो अपाम् ।१।७०।२॥

अर्थात्—[अग्निः] गर्भ [है] जो आपः का।

वस्तुतः आपः के अनेक कण negative हैं और उनके गर्भ में अग्नि का एक कण positive है।

पञ्चभूतों के मानने से ही energy और matter का भेद मिट कर भूतों के कर्मों का प्रदर्शन समझ में आता है। energy (वीर्य) तो वायुभूत का कर्ममात्र है। महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २६१ में वायु के गुण-विषय में निम्न श्लोकार्ध ध्यान देने योग्य है—

बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टात्मता भवः ॥६॥

अर्थात्—बल, शैघ्रय, मोक्ष, कर्म और चेष्टा आदि वायु के गुण हैं। ये ही energy और radiation के मूल कारण हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में रक्त-चक्र वायु के बल से चलता है, उसी प्रकार सूर्य-रश्मियों का जाल भी वायु के प्रभाव से बन रहा है। इस सत्य के माने विना radiation (मोक्ष) के कारण का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं।

वायुभूत में भार नहीं है। अतः योरोप के विज्ञान अन्वेषकों ने जब

matter को भारयुक्त माना, तो वे वायुभूत को कैसे जान सकते थे। उन्होंने वायु की माया को energy का नाम दिया। वस्तुतः energy वायुगुणों का प्रकाशमात्र है, तथा energy और matter दो भिन्न पदार्थ नहीं है। वायु के अणु सुप्तावस्था में potential energy कहे जा रहे हैं, और प्रबुद्धावस्था में वे ही kinetic energy के रूप में प्रकट हो जाते हैं।

शुचि अग्निः—पूर्व पृ० ६४ पर शुचिः अग्निः का उल्लेख किया है। यह अग्निः अन्तरिक्षस्थ पावक अग्निः के योग से उत्पन्न हुआ है। पावक अग्निः में क्या परिवर्तन आए, और वह शुचिः कैसे बना, इसका गम्भीर विचार आवश्यक है। पावक अग्निः आपः से बना है, अतः कहा है—

आपो वा अग्निः पावकः। तै० ब्रा० १।१।६।२॥

आपो वै पावकाः। कपिष्ठल सं० ७।३॥

अर्थात्—आपः निश्चय ही अग्निःपावक [हुए]।

इससे आगे पृ० ६५,६६ पर हम अग्निः-विषयक पुराण-पाठ लिख चुके हैं। तत्रस्थ श्लोकों में से कुछ श्लोक और नीचे लिखा अन्तिम श्लोक देखने योग्य हैं—

यश्चासौ तपते सूर्ये शुचिरग्निस्तु स स्मृतः ।।१।।
वैद्युतो जाठरः सौरो हि-अपांगर्भास्त्रयो ऽग्नयः।
तस्माद् अपः पिबन् सूर्यो गोभिर्दीप्यत्यसौ दिवि ॥२॥
अर्चिष्मान् पवमानो ऽग्निः निष्प्रभो जाठरः स्मृतः।
यश्चायं मण्डले शुक्लो निरूष्मा संप्रकाशकः।[1]

अर्थात्—सूर्य में तपने वाला शुचिः अग्निः अपांगर्भ है। इसलिए

१—१-मत्स्य १२८।७-९॥ निरूष्मा न प्रकाशते। यह विचित्र पाठ है। इसका अर्थ हो सकता है—निरूष्म है और प्रकाश नहीं करता। अथवा ऊष्म-रहित अवस्था में प्रकाश नहीं करता। दूसरा अर्थ गम्भीर है।

आपः [के कणों को अपनी किरणों के साथ पीकर] (ऊपर खींचकर) वह सूर्य द्युलोक में दीप्त है। पवमान अर्थात् पार्थिव अग्निः अर्चियों वाला है। जाठर अग्निः निष्प्रभ है। जो यह [सूर्य] मण्डल में शुक्र [वर्ण] अग्नि है, [वह] ऊष्मा-रहित [तथा] सम्यक् प्रकाशक है।

टिप्पणी—इससे प्रतीत होता है कि पार्थिव अग्निः शुक्रवर्ण नहीं है। हमारा अनुभव बताता है कि यह अग्निः तप्त जाम्बूनदप्रभ[1] अथवा वैडूर्यहेमद्युति[2] होता है। यही अग्निः अर्चियों वाला है। शुचिः अग्नि ही शुक्ल वर्ण है। आश्चर्य है कि पुराण में शुचिः अग्नि को निरूष्मा लिखा है। विज्ञान का यह रहस्य गम्भीर ध्यान योग्य है। शुचिः अग्निः की रश्मियों में ऊष्मा कैसे उत्पन्न होती है, अन्तरिक्ष में वह ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है, अथवा भूमि के समीप आकर उत्पन्न होती है, ये प्रश्न विचार योग्य है। शुचिः अग्निः संप्रकाशक है। अन्तरिक्षस्थ नरों और वैश्वानर अग्नि के योग से उसका प्रकाश मानव-नेत्रों द्वारा अनुभव होता है।

तेजः पुञ्ज शुचिः अग्निः—कपिष्ठल संहिता में लिखा है—

असौ वा आदित्यः शुचिः। एष तेजसः प्रदाता। यदग्नये शुचये ऽसावेवास्मा आदित्यस्तेजः प्रयच्छति ।७।३।।

अर्थात्—वह निश्चय आदित्य शुचिः [है]। यह तेज का विशेष दाता [है]। जो अग्निः के लिए, शुचि के लिए। वह ही इस [अग्निः] के लिए आदित्य तेज को देता है।

आदित्य शुचिः रश्मियों का समूह है। वह इस अग्निः को तेज देता है।

पृथिवी-लोक से सूर्य में—कपिष्ठल संहिता में लिखा है—

अग्निर्वा इमं लोकं नोपाकामयत।……। स यदिमं लोकमुपावर्तत या अस्य यज्ञियास्तन्व आसन् ताभिरुदक्रामत्। ता एताः

१—अद्भुतसागर पृ० ४२१।

२—अद्भुतसागर, पृ० ४२४ पर वराहसंहिता का प्रमाण।

पवमाना पावका शुचिः। तस्य या पवमाना तनूरासीत् पशून् तया प्राविशत्। या पावका अपः तया प्राविशत्। या शुचिरमुं तया-आदित्यं प्राविशत् ।७।५॥

अर्थात्—अग्निः ने निश्चय ही इस [पृथिवी] लोक को न चाहा। ....। वह जो इस [पृथिवी] लोक को लौटा, जो इसके यज्ञिय शरीर थे, उनके साथ ऊपर को उठा। वही ये पवमान, पावक और शुचिः [तीन रूप हुए]। उसका जो पवमान शरीर था, पशुओं को उससे प्रविष्ट हुआ। जो पावक, आपः को उससे प्रविष्ट हुआ। जो शुचिः, उस को उससे आदित्य को प्रविष्ट हुआ।

एक ही अग्निः के तीन प्रकार कैसे हो गए, यह सारी माया समझने योग्य है।

शुचिः अग्नि में पार्थिवाग्नि प्रवेश—वर्षों तक मुझे आश्चर्य होता रहा कि यदि सूर्याग्निः मूल में निरूष्मा है, तो उस में ताप कहाँ से आता है। वेद और ब्राह्मण आदि में बहुधा लिखा है—

असौ वै सूर्यो यो ऽसौ तपति। कौ० ब्रा० ५।८॥
यश्चासौ तपते सूर्यः। ब्रह्माण्ड पु० पूर्व, २४।११॥
सूर्याद् उष्णं निस्रवते सोमाच्छीतं प्रवर्तते। ब्रह्माण्ड पु० पू० भा, अ० २२।२०॥

अर्थात्—वह सूर्य तपता है। सूर्य से उष्णता बहती है।

फिर भूमिस्थ प्राणियों को सूर्य का ताप कैसे प्रतीत होता है। इसका स्पष्ट उत्तर भी ब्राह्मण और पुराण आदि में मिलता है। इस तथ्य का कुछ विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे करेंगे। यहाँ संक्षेपार्थ ब्रह्माण्ड पुराणस्थ दो श्लोक (पूर्व भाग, अ० २४) लिखते हैं—

(क) उद्यन्तं च पुनः सूर्यम् औष्ण्यम् आग्नेयम् आविशत् ।१७॥
यश्चासौ तपते सूर्यः पिबन् अंभो गभस्तिभिः।
पार्थिवाग्निबिमिश्रो ऽसौ दिव्यः शुचिरिति स्मृतः ॥२३॥

उदिते हि पुनः सूर्ये ह्यौष्ण्यमाग्नेयमाविशेत्।
संयुक्तो वह्निना सूर्यः तपते तु ततो दिवा॥

ब्रह्माण्ड पु० पूर्व भाग, २१।५७॥ देखो, विष्णु पु० २।८।२१-२५॥

अर्थात्—(क) पार्थिव अग्निः के परमाणु आपः के साथ सूर्य-रश्मियों द्वारा सूर्य मण्डल की शुचिः अग्निः के साथ मिश्रित होते हैं। उदय होते हुए सूर्य में आग्नेय उष्णता प्रविष्ट होती है। वही पार्थिव अग्निः की उष्णता सूर्य की रश्मियों में ताप उत्पन्न करती है।

(ख) वह्नि से संयुक्त सूर्य दिन के समय तपता है।

इस सिद्धान्त के साथ सूर्य और पृथिवी के भ्रमण-विधिः का भी सम्बन्ध है।

पाश्चात्यों के अनुसार सूर्य ताप—पाश्चात्य वैज्ञानिक अनुमान पर अनुमान कर रहे हैं कि सूर्य का ताप किस इन्धन से आता है। उनका अनुमान निम्नलिखित है—

It has beed said that the Sun's atmosphere consists largely of hydrogen. As a working hypothesis, we shall take this to hold good also for the interior. Now we know that the mean density of solar matter is I. 41 g. per c. c. or nearly one-and-a-half times that of water. If hydrogen of this density were to behave like a gas, then the elementary gas-law requires that, for a pressure equal to the average calculated above, the temperature must be about 3 million degrees. Under these conditions the hydrogen would be practically completely ionized and the value given for the temperature takes account of this.

अर्थात्—सूर्य मण्डल अधिकांश हाइड्रोजन युक्त है। हम अभी कार्यवशात् मान लेते हैं कि सूर्य का अन्दर भाग भी हाईड्रोजन का है। हम यह भी जानते हैं कि सूर्य का द्रव्य-समूह पानी के घनत्व से लगभग

१½ गुणा है। इस घनत्व की हाईड्रोजन गैस का ताप तीस लाख (३,०००,०००) डिगरी होगा।

विरश्मि-सूर्य अनुष्ण—इस प्रसंग में एक और समस्या भी विचारणीय है। वायुपुराण का वचन है—

विदूरभावाच्चार्कस्य प्रद्योतस्य विरश्मिता ।
रक्तता च विरश्मित्वाद् रक्तत्वाच्चाप्यनुष्णता ॥[1]

अर्थात्—अति दूर होने से सूर्य के, उदय होता हुआ सूर्य विरश्मि होता है। विरश्मि होने से उसमें रक्तता होती है, रक्तता के कारण भी उसमें अनुष्णता रहती है।

वायु पुराण से मिलते-जुलते पाठ ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग, अध्याय २१ में भी हैं। यथा—

विदूरभावादर्कस्य भूमिलेखावृतस्य च ।
लीयन्ते रश्मयो यस्मात्तेन रात्रौ न दृश्यते ॥५१,५२॥[2]
विदूरभावादर्कस्य ह्युद्यतोऽपि विरश्मिता ।
रक्तभावो विरश्मित्वाद् रक्तत्वाच्चाप्यनुष्णता ॥५३॥[3]

श्लोक ५३ का अर्थ वायु पुराण के श्लोक के अर्थ के समान ही है।

टिप्पण—भूमि की रेखा=लेखा से सूर्य कैसे आवृत हो जाता है। लीयन्ते के स्थान पर वायु का ह्रियन्ते पाठ अर्थ का स्पष्टीकरण करता है। विरश्मि होने से रक्तता कैसे दिखाई देती है, और विरश्मि को हम देख ही कैसे सकते हैं, तथा रक्तता के साथ अनुष्णता का क्या सम्बन्ध है, ये प्रश्न विचारणीय हैं। एक बात सरल है, अति-दूर होने से सूर्य के, इसके उदय होते ही रश्मियाँ हम तक नहीं पहुँच पातीं। पर फिर वह दिखाई कैसे देता है।

---

१. यह पाठ विष्णु पुराण, जीवानन्द संस्करण, पृ० २६६ की श्रीधर स्वामी की टीका में उद्धृत है। तुलना करो, मत्स्य पु० १२४।३६॥

२. वायु ५०।१०८॥ भूमेर्लेखावृतस्य। ह्रियन्ते।

३. वायु पुराण ५०।११०॥ रक्ताभावः, पाठ वायु में है।

रश्मि-सृजन और रश्मि-विलीनता—पूर्व उद्धृत ब्रह्माण्ड के श्लोक ५२ में रश्मियों के लीन होने का कथन है। ऐसा भाव महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय २०२ में भी है—

उद्यन् हि सविता यद्वत् सृजते रश्मिमण्डलम्।
स एवास्तम् उपागच्छन् तदेवात्मनि यच्छति॥
रश्मिमण्डलहीनस्तु न चासौ नास्ति तावता।१४-१७॥

रश्मि मण्डल के सृजन और इसकी विलीनता का भाव दुरूह है। क्या सूर्य सदा रश्मियाँ नहीं निकालता। क्या आधुनिक विश्वासगत पृथिवी के भ्रमण के कारण वह हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होता।

रश्मि पद का अर्थ—निरुक्त में यास्कीय अर्थ-निर्वचन है—

रश्मिर्यमनात्।२।१५॥

अर्थात्—रश्मि अर्थ का कारण है—वश में रखने से।

इस पर आचार्य दुर्ग लिखता है—उदकस्य-अश्वानां वा। इस का अभिप्राय यही है कि रश्मियाँ द्यु तथा अन्तरिक्ष लोक के उदक को वश में रखती हैं। रश्मियाँ अथवा लगामें घोड़ों को वश में रखती हैं और सूर्य आदि की रश्मियाँ ही द्यु और अन्तरिक्ष के जलज अश्वों को वश में रखती हैं। अन्तरिक्ष आदि के अश्व किस प्रकार से इनके वश में हैं, यह जानने योग्य है।

सहस्रपाद शुचिः अग्निः—सहस्ररश्मि सूर्य का शुचिः अग्निः सहस्रपाद भी कहाता है—

सहस्रपादस् त्वेषोऽग्निः-रक्तकुम्भनिभस्तु सः।
आदत्ते स तु नाडीनां सहस्रेण समन्ततः॥[1]

वायु में इसका दूसरा पाठ है—

सहस्रपादः सोऽग्निस्तु वृत्तः कुम्भनिभः शुचिः।

---

१. मत्स्य १२८।१७॥

आदत्ते तत्तु रश्मीनां[1] सहस्रेण समन्ततः ॥[2]

ब्रह्माण्ड का पाठ—पूर्व लिखित दोनों पाठ सन्देहास्पद हैं। एषः अग्निः का अर्थ है, पार्थिव अग्निः। यह युक्त नहीं बैठता। ब्रह्माण्ड पाठ सन्देह का निराकरण करता है—

सहस्रपादसौ वह्निर्घृतकुम्भनिभः शुचिः।
आदत्ते स तु नाडीनां सहस्रेण समन्ततः॥ पूर्व भा० २४।२४॥

अर्थात्—सहस्रपाद वह शुचिः अग्निः, घृतकुम्भ अथवा रक्त कुम्भ के समान है। ले लेता है, वह [सारे जल], नाडी सहस्र द्वारा चारों ओर से।

घृतकुम्भ की संज्ञा समझने योग्य है। नाडी संज्ञा की तुलना वैशेषिक सूत्र से करनी चाहिए—

नाड्यवायुसंयोगाद् आरोहणम् ५।२।५॥

अर्थात्—[आपः कण] नाड्यवायु के संयोग से [द्यु-लोक तक] आरोहण करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी नाडी शब्द से ऐसा भाव लिया गया है—

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यः।३।५।१॥

अर्थात्—जो इसकी ऊर्ध्व रश्मियाँ [हैं], वे ही इसकी ऊर्ध्व मधुनाडियाँ हैं। इसी प्रकार वहाँ प्राञ्च, दक्षिण, प्रत्यञ्च, और उदञ्च आदि मधुनाडियों का वर्णन है।

सूर्य मण्डल

अब सूर्य मंडल और उसकी विविध अवस्थाओं का वर्णन करते हैं।

भा—जै० ब्रा० का वचन है—

असौ वा आदित्यो भा इति।१।३३०॥

---

१. अनेक हस्तलेख—नाडीनां। नाडी और रश्मि—समानार्थ शब्द हैं। आगे देखो।

२. ५३।१८॥

अर्थात्—वह आदित्य भा=प्रकाश है।

आदित्य अथवा संवत्सर—इसी ब्राह्मण में पुनः लिखा है—

असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत्सं-वत्। यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सरः, इति अधिदेवतम्।२।२८॥

अर्थात्—वह ही संवत्सर [है], जो वह [आदित्य] तपता है। उसका जो [बाह्य भाग] चमकता है, वह संवत् [है]। जो मध्य में कृष्ण मण्डल, वह सरः है।

यही पाठ और अधिक स्पष्टरूप से आगे भी है—

अथो आहुः। आदित्य एव संवत्सरः। एतं हि सर्वा श्रीः, सर्वं यशः, सर्वे देवाः समेताः। तस्माद् आदित्य एव संवत्सरः, इति। तस्य यद् भाति तत्संवत्। यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सरः, इत्यधि-देवतम्।२।६०॥

अर्थात्—[ब्रह्मवादी] कहते हैं। आदित्य ही संवत्सर है। इसको ही सारी श्री, सारा यश, सारे देव एकत्र हुए हैं। अतः आदित्य ही संवत्सर [है]। उसका जो चमकता [है], वह संवत्। जो मध्य में कृष्ण मण्डल वह सरः [है], यह अधिदैवत पक्ष है।

इससे स्पष्टतर पाठ भी आगे है—

एष वाव दीक्षितो य एष तपति। स एष इन्द्रियं ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यम् अभि दीक्षितः। तस्य येऽर्वाञ्चो रश्मयस्तानि श्मश्रूणि। य ऊर्ध्वास्ते केशाः। अहोरात्रे एव कृष्णाजिनस्य रूपम्। अहरेव शुक्लस्य रूपं रात्रिः कृष्णस्य। अथ यदेतन्मण्डलं ता आपस्तदन्नं तदमृतम्। २।६२॥

अर्थात्—यही [यज्ञ में] निश्चय दीक्षित [है], जो यह [आदित्य] तपता है। उसकी जो नीचे की रश्मियाँ वे दाढ़ी-मूँछें [हैं]। जो ऊर्ध्व की वे केश। अहः और रात्रि ही हरिण-छाल का रूप हैं। अहः ही शुक्ल का रूप, रात्रि कृष्ण का। अब जो यह मण्डल [है], वे आपः [हैं], वह अन्न, वह अमृत।

रश्मियाँ सूर्य का अङ्ग हैं, अतः उनकी उपमा श्मश्रु और केशों से दी है। इसी प्रकार कृष्णाजिन दीक्षित के शरीर पर रहता है। उसकी उपमा से स्पष्ट है कि अहोरात्र भी सूर्यत्वक् पर हैं। ये पार्थिव नहीं है। इस प्रकरण से पूर्व २।२९ में **अहोरात्रे एव सरः**, अहोरात्र दोनों ही सरः, कहा है।

टिप्पणी—मध्य में कृष्ण मण्डल है। इससे स्पष्ट और सीधा परिणाम निकलता है, मध्य से विपरीत बाहर का घेरा है। उस घेरे में चमक है। यही अथवा इसके कुछ अन्दर अहः भाग है। अन्दर का भाग कृष्ण मण्डल अथवा रात्रि है। बाहर के घेरे में आग्नेय (वैश्वानर अग्नि के) परमाणुओं की माया है और अन्दर के घेरे में आपः परमाणुओं की। कितने सुन्दर और असंदिग्ध रूप से ऋषियों ने सत्य का प्रदर्शन किया है।

संभवतः आपः और आग्नेय परमाणुओं का परस्पर अनुप्रवेश होता रहता है।

इसी प्रसङ्ग में गोपथ ब्राह्मण, उत्तर भाग का निम्नलिखित वचन ध्यान देने योग्य है—

तदाहुः। कथं द्वि–उक्थो होता–एकसूक्तः एकोकथा होत्रा द्विसूक्ता इति। असौ वै होता योऽसौ तपति। स वा एक एव तस्माद् एकसूक्तः। स यद् विध्यातो द्वौ-इव-आ भवति। तेज एव मण्डलं भा। अपरं शुक्लमपरं कृष्णम्। तस्माद् द्वि--उक्थः। रश्मयो वाव होत्राः। ते वा एकैकम्। तस्माद् एकोक्थाः। तद् यद् एकैकस्य रश्मेर्द्वौ द्वौ वर्णौ भवतः। तस्माद् द्विसूक्ताः। ६।६॥

अर्थात्—......वह जो [तपनशील आदित्य] दो भाग किया जाता है, दो के समान थोड़ा प्रतीत होता है। तेज का मण्डल भा [है]। [इसमें] एक शुक्ल एक कृष्ण [रूप है]।...। एक-एक रश्मि के दो-दो वर्ण होते हैं।

पूर्व पृष्ठ ६७ पर लिख चुके हैं कि अग्निः शुक्ल रूप है, और

आपः कृष्ण रूप ।

यह कथन नेत्रों के वर्णों के विषय में शतपथ के प्रमाण से है—

यच्छुक्लं तदाग्नेयं यत्कृष्णं तत्सौम्यम् । १।६।३।४१॥[1]

जिस प्रकार आँखों के वर्ण हैं, उसी प्रकार आदित्य के भी। अतः आदित्य का कृष्ण भाग सौम्य अथवा आपः विषयक है और बाह्य घेरा आग्नेय है।

परन्तु छान्दोग्य उ० का पाठ भी ध्यान देने योग्य है—

यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम् । यत्-शुक्लं तदपाम् । यत्कृष्णं तदन्नस्य । ६।४।२॥

अतः आदित्य के मध्य में जो कृष्ण मण्डल है, वह अन्न का स्थान है। यह अन्न क्या है। अन्न आपः से उत्पन्न होता है। (छा० उ० ६।२।४॥) अन्नाद अग्निः का यह भोजन है।

छान्दोग्य उपनिषद् ३।१–४ में आदित्य के रोहित, शुक्ल और परं कृष्ण रूप का वर्णन किया है। और अन्त में—एतद् आदित्य-मध्ये क्षोभत इव ।५।

अर्थात्—आदित्य के मध्य में क्षोभ के समान क्रिया रहती है।

यही वायु और दिव्य (विद्यु त्-युक्त) आपः के योग से सूर्य में मायावी कर्म हो रहा है। यह इसकी सम्पूर्ण energy का कारण है।

इन्द्र, मित्र आदि देवता सब प्राण हैं, वे सूर्य में निवास करते है। यह उनका आयतन है। इसी में अमृत (दिव्य आपः आदि) हैं। इन्हें देखकर ही देव तृप्त रहते हैं। इस अमृत के सम्पर्क से ही उनमें दिव्य तेज आ जाता है।

वैदिक ग्रन्थ इन रहस्यों से भरे पड़े हैं।

क्षोभ-विषयक पाश्चात्य विचार—छा० उप० के प्रमाण से हमने ऊपर लिखा है कि आदित्य के मध्य में, अर्थात् आदित्य के

१. तुलना करो, शुक्लमग्निमयं स्थानं सहस्रांशोर्विवस्वतः ॥ ब्रह्माण्ड, पू० २४।६३॥

आपः-मय कृष्ण भाग में क्षोभ के समान क्रिया होती रहती है। इस ढंग का अथवा इससे कुछ मिलता-जुलता मत पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने प्रकट किया है। उनका लेख है—

Atomic collisions. So far we have only considered transitions produced by or producing radiation. The only other way they could be caused is by the direct action of matter upon the system performing the transitions. In a gas, the atoms, ions, and any other particles present are always in a state of thermal agitation as a result of which they are continually colliding with each other. The collisions are the only direct interaction with other matter experienced by the particles.[1]

अर्थात्—किसी गैस में ऐटम अथवा कोई दूसरे कण सदा तापयुक्त क्षोभ में रहते हैं। फलतः वे एक दूसरे के साथ सतत टक्कर खाते रहते हैं।

निस्सन्देह क्षोभ के लिए agitation शब्द का प्रयोग सर्वथा ठीक है।

Two Zones of the Sun

The Sun consists of two zones : (a) the central core which is in *convective* equilibrium, which contains about 12 per cent of the total mass, and within which effectively all the energy-generation takes place. The central temperature is about 20 million degrees and the central density is between 50 and 100 times the mean density of the whole Sun : (b) the remainder of the interior forming a region in *radiative* equilibrium. The two regions merge into one another, but the transition takes place in a relatively thin layer.[2]

1. W. H. Mc. CREA, Physics of the Sun and Stars, p. 43, London, 1950.
2. ibid. p. 105.

अर्थात्—सूर्य के दो क्षेत्र हैं, केन्द्रीय और शेष सूर्य-गर्भ का क्षेत्र। केन्द्रीय क्षेत्र का ताप २०० लाख डिगरी है। दोनों क्षेत्र एक पतले तह में एक दूसरे में घुले मिले हैं।

भौतिक तत्त्व—पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतों में सूर्यान्तर्गत तत्वों के विषय में पर्याप्त मतभेद है—

One set of estimates puts the hydrogen content at about 80 per cent, by numbers of atoms, the helium at about 20 per cent, and the heavier elements at about 1 per cent. Another puts the hydrogen at nearly 100 per cent, the helium at about 1 per cent, and the heavier elements at something very much less than 1 per cent.[1]

अर्थात्—कई हाइड्रोजन ८० प्रति शत, हीलियम २० प्रति शत और भारयुक्त तत्त्व लगभग एक प्रति शत मानते हैं। दूसरे हाइड्रोजन लगभग १०० प्रति शत हीलियम लगभग एक प्रति शत और भारयुक्त तत्त्व एक प्रति शत से भी बहुत न्यून मानते हैं।

हाइड्रोजन और आपः—हाइड्रोजन आपः का ही एक रूपान्तर है। यह सुव्यक्त है। अतः वैदिक-विज्ञान के अनुसार यह निश्चित है कि सूर्य में आपः की माया ही प्रधान है।

इसके अतिरिक्त सूर्य में सब प्राणों (देवों) का भी वास है।[२] प्राणों में भार नहीं है।

कभी सूर्य-भूमि का सामीप्य

आज जो सूर्य भूमि से इतना विदूर स्थित है, वह कभी इस भूमि के सर्वथा पास में था। महान् वैज्ञानिक वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अति स्पष्ट शब्दों में बताया है कि एक समय यह विचित्र अवस्था थी। माध्यन्दिन शतपथ में कहा है—

---

1. ibid, p. 105.

२. देखो, पूर्व पृष्ठ २०२ पर जै० ब्रा० २।६० का वचन।

अग्न आयाहि वीतये-इति। तद्धेति भवति वीतये-इति। समन्तिकमिव ह वा इमे ऽग्रे लोका-आसुः इति। उन्मृश्या हैव द्यौरास ।१।४।१।२२॥

अर्थात्—हे अग्ने आओ, पृथक् होने और फैलने के लिए—इति। सर्वथा निकट के समान निश्चय ये पहले लोक थे। ऊपर [हाथ उठाकर] छुई जा सकने वाली यह द्यौः थी।

अन्तरिक्ष भी अभी विस्तृत नहीं था। पृथिवी बन चुकी थी। अन्तरिक्ष अत्यन्त संकुचित, नाममात्र था। तब आदित्य बना। वह भूमि पर से स्पर्श हो सकने के समान था। अग्न आयाहि वीतये। ऋ० ६।१६।१० के वीतये पद का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वत्र ऐसा ही है। अन्तरिक्षस्थ वायु और इस अग्नि के योग से, वायु पूर्ण बल से फैला। उसके फलस्वरूप ये द्युः आदि लोक परे-परे हुए।

पूर्व-उद्धृत ब्राह्मण वचन के साथ निम्नलिखित वचनों की तुलना भी अभीष्ट है—

(क) इमे वै सहास्तां ते वायुर्व्यवात्। तै० सं० ३।४।३॥

अर्थात्—ये [तीनों लोक] निश्चय साथ थे। उन्हें वायु ने पृथक् किया।

(ख) इमौ लोकौ व्यैताम्। अग्न आ याहि वीतय इति, यदाह— अनयोः लोकयोः वीत्यै। तै० सं० ५।१।५॥

अर्थात्—ये दोनों लोक पृथक् हों। अग्ने आ याहि वीतये, यह जो मन्त्र कहा, इन दोनों लोकों के पृथक् होने के लिए।

(ग) असावादित्यो ऽस्मिन् लोक आसीत्। तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन्। तै० सं० ७।३।१०॥

अर्थात्—वह आदित्य इस [पृथिवी] लोक में था। उसे देवों [प्राणों आदि] ने पीठ से चारों ओर से पकड़कर स्वर्ग लोक (=द्युलोक) में पहुँचा दिया।

(घ) आदित्यो वा एतद् अत्राग्र आसीद् यत्रैतत् चात्वालम्

अदो ऽग्निः। स इदं सर्वं प्रातपत्। तस्य देवाः प्रदाहाद् अबिभयुः। ते ऽब्रुवन्। सर्वं वा अयम् इदं प्रधक्ष्यति। वीमौ परिहरामेति।
जै० ब्रा० १।८७॥

अर्थात्—आदित्य निश्चय से यह यहाँ पहले था, जहाँ यह चात्वाल[1] [है]। वह (अथवा, वहाँ) अग्निः। वह इस सब को बहुत तपाता था। उसके देव प्रदाह से डरे। वे बोले, सब निश्चय ही यह इसे जलाएगा। इन दोनों का स्थान बदल दें।

टिप्पण—आश्चर्य है, अग्निः और आदित्य का यह स्थान परिवर्तन इस प्रदाह से बचने का उपाय बना। यह सत्य है, अग्निः पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। पूर्व पृ० ६३ पर लिख चुके हैं कि देव पृथिवी पर अग्निः का आधान चाहते थे। तब तक यहाँ अग्निः का आधान नहीं था। पुनः पृ० १२०-२१ पर भी लिखा गया है कि अग्निः पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। अग्निः और आदित्य के स्थान के अदल-बदल की सारी माया कैसे घटी, यह जानने योग्य है।

इस प्रमाण से इतना स्पष्ट है कि कभी पृथिवी और सूर्य पास-पास थे, पर उस समय पृथिवी में अग्निः नहीं था। आदित्य द्वारा यह तपती अवश्य थी, पर वर्तमान अवस्था के समान यह अग्नि-गर्भा न थी।

प्रश्न होता है, जब पृथिवी अग्नि-हीन थी, और आदित्य भी अभी जन्मा नहीं था, तब पृथिवी का ताप कितना था। उस अग्नि-शून्या अवस्था में इस पृथिवी का आकार आदि भी जानना चाहिए। वराह द्वारा पृथिवी उद्धार इस घटना से पहले हुआ, अथवा पश्चात्, यह भी विचारणीय है।

(ङ) इह वा असा आदित्य आसीत्। तमितो ऽध्यमुं लोकमहरन्। मै० सं० १।११।७॥[2] ३।६।३॥

---

1. वेदी के समीप निर्मित गढ़ा। इसमें वेदी-निर्माण के सामान का कूड़ा आदि डाला जाता है।
2. तुलना करो, मै० सं० २।२।२॥

अर्थात्—यहाँ निश्चय वह आदित्य था। उस [आदित्य] को यहाँ से उस लोक में ऊपर ले गए।

इस दूर गमन के कारण अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ। इसी के कारण अन्तरिक्ष में मरुतों और पशुओं आदि का व्यापार विस्तृत हुआ। इसी के कारण दिशाएँ स्थिर हुईं। अन्ततः इसी के फलस्वरूप लोक-स्तम्भन हुआ।

इस लोक-सामीप्य और तदनु लोक दूर-गमन पर एक पृथक् अध्याय में कुछ विस्तार से लिखेंगे।

रश्मि माया

सूर्य की रश्मियाँ हैं। चन्द्र की भी रश्मि है। इसी प्रकार सूर्य से उत्पन्न होने वाले ग्रहों और नक्षत्रों की भी रश्मियाँ हैं। मरुतों की रश्मियाँ अथवा वात-रश्मियों का कुछ वर्णन पहले पृ० १४३ पर कर आए हैं।[1] इन मरुत-रश्मियों के लिए वेद में अभीशवः पद बहुधा मिलता है। यथा ऋ० १।३८।१२ तथा ५।६१।२ आदि में। पृथिवी लोक पर मास-भेद भी रश्मियों का परिणाम है। अतः जै० ब्राह्मण में कहा है—

मासा रश्मयः। रश्मयो मरुतः। तैरसावादित्यो धृतः।
१।१३७॥

अर्थात्—मास [विविध प्रकार की] रश्मियाँ [हैं]। रश्मियाँ मरुत [हैं]। उन्हीं से वह आदित्य धृत है।

रश्मियों से आदित्य कैसे धृत है, यह रहस्य भी विचार-योग्य है।

श्रेष्ठतम रश्मियाँ—इन सब रश्मियों में सूर्य-रश्मियाँ श्रेष्ठतम हैं। इसीलिए यजुर्वेद कहता है—

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिः। २।२६॥

और इस मन्त्र पर शतपथ की व्याख्या है—

एष वै श्रेष्ठो रश्मिः यत्सूर्यः। १।१।२।१६॥

---

१. वरुण-रश्मियां ऋग्वेद १।२५।१३ के स्कन्द भाष्य में स्पशः पद के अर्थ में स्पष्ट की गई हैं।

अर्थात्—यह निश्चय से श्रेष्ठ रश्मि [है], जो सूर्य [है]।

त्विषिमत्तम—पहले इस अध्याय के आरम्भ में लिख चुके हैं कि आदित्य का सृजन तीसरा सृजन था। इस सृजन में आण्ड-कपाल के साथ जो उल्ब (गर्भ को लपेटने वाली झिल्ली) था, उसके विषय में जै० ब्रा० में लिखा है—

यत् तृतीयम् उल्बम् उपालुम्पंस्तद्-हरितम् अभवत्।
तस्मात्तत् त्विषिमत्तमम्।३।२३५॥

अर्थात्—जो तीसरा उल्ब छीना गया, हरित हुआ। अतः वह सर्वाधिक दीप्तिमान [है]।

उस हरित अंश की सामग्री क्या थी, उसमें क्या विशेष गुण थे और वे गुण झिल्ली के भाग में कैसे एकत्र हो गए, यह जानने योग्य है। वही हरित दीप्तिमान और परम दीप्तिमान हुआ। इसी के कारण आदित्य-रश्मियाँ दीप्ति-युक्त हैं। इन्हीं रश्मियों के कारण सम्पूर्ण द्युलोक दीप्तिमय है।

उल्ब क्यों हरित हुआ, यह माया जानने योग्य है।

अब आगे सूर्य-रश्मियों का उल्लेख किया जाता है।

बहुविधता—वैदिक ग्रन्थों के अनुसार रश्मियाँ बहुरूपा हैं। उनके अंशु आदि नाम उनकी बहुविधता का परिचय देते हैं। तैत्तिरीय सं० ४।७।७ का वचन है—

अंशुश्च मे रश्मिश्च मे।

इस वचन में अंशु और रश्मि दो विभिन्न पद हैं। इनके अर्थ में सूक्ष्म भेद है। इसी प्रकार यास्कीय निघण्टु १।५ में रश्मि-नामों में १५ पद पढ़े गए हैं। वे विभिन्न प्रकार की रश्मियों के नाम हैं। इसीलिए मैत्रायणी सं० में कहा है—

अग्निर्वै सृष्टो बहुरूपो भवति। बहूनि वै रश्मिनां रूपाणि।
२।२।२१॥

अर्थात्—अग्नि निश्चय से उत्पन्न हुआ बहुरूप होता है। बहुत निश्चय से रश्मियों के रूप [हैं]।

अग्निः के ४५ भेद पहले पृ० ६६ पर कह चुके हैं।

विश्वेभिरग्ने अग्निभिः। ऋ० १।२६।१० में इन्हीं अनेक अग्नियों का कथन है।

निघण्टु-पठित नाम—यास्क ने अपने निघण्टु में रश्मियों के निम्नलिखित पन्द्रह नाम पढ़े हैं—

खेदयः। किरणाः। गावः। रश्मयः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः। वनम्। उस्राः। वसवः। मरीचिपाः। मयूखाः। सप्त ऋषयः। साध्याः। सुपर्णाः।

ध्यान रहे कि इन पन्द्रह नामों में एक के अतिरिक्त शेष सब नाम बहुवचन में पढ़े गए हैं। निस्सन्देह रश्मियाँ समूहों में चलती हैं।

वनम् रश्मि अकेली चलती है।

शुचिः अग्निः के भेदों से रश्मिभेद—पूर्व पृ० ६६ पर विष्णु पुराण के प्रमाण से शुचिः अग्निः के १५ भेद लिख चुके हैं। बहुत सम्भव है, उन भेदों से रश्मियों के भेद सम्बन्ध रखते हों। ब्रह्माण्ड पुराण, पू० भा०, अ० १३।३८—४४ में भी शुचिः अग्निः और उसके १४ भेद लिखे हैं।

उन्हीं में अर्क नाम का भी अग्निः है। अग्निर्वा अर्कः। श० २।५।१।४॥ शुचि अग्निः के ये भेद आगे लिखते हैं—

	शुचिः=आयुः	१.	अग्निर्वा आयुः। श० ६।७।३।७॥
	महिषः	२.	महिमान्[1]
(पाकयज्ञों में)	सहसः	३.	सवनः[1]
	अद्भुतः	४.	
	विविधः	५.	विविचिः[1]

१. वायु, २६।३६—४१॥

अर्कः ६.

|

७. अनीकवान् ८. वाजसृक् ६. रक्षोहा १०. यष्टिकृत् ११. सुरभिः १२. वसुः १३. अन्नादः १४. प्रविष्टः १५. रुक्मराट् । मन्त्र और ब्राह्मण में ये नाम प्रायः मिलते हैं। पर वसुः और अर्कः अति प्रसिद्ध हैं।

सहस्र रश्मि—ऋग्वेद मण्डल ६ के ४७वें सूक्त के इन्द्र देवता परक मन्त्र में आदित्य रश्मियों की संख्या एक सहस्र कही गई है। यथा—

(क) युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश । ६।४७।१८ ॥

अर्थात्—युक्त हैं निश्चय ही इस [इन्द्र से आदित्य] की रश्मियाँ १०० × १० अर्थात् १००० । इसी भाव की व्याख्या में जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण में कहा है—

(ख) **सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः** । १।४४।५ ॥

अर्थात्—सहस्र निश्चय ये आदित्य की रश्मियाँ [हैं] ।

महाभारत शान्तिपर्व में सूर्य के चमत्कारों के वर्णन में कहा है—

(ग) यस्य रश्मिसहस्रेषु । ३७२।३ ॥

सहस्राक्ष अग्निः—पूर्वोक्त भेदों से ही अग्निः भी सहस्राक्ष हुआ है—

अग्ने सहस्राक्ष । कपिष्ठल सं० २८।४ ॥ तथा ऋ० १।८०।१२॥

परमाणु संसर्ग से भेद—प्रश्न होता है कि रश्मियों के इतने भेद कैसे हो गए। वस्तुतः ये भेद विभिन्न परमाणुओं के संसर्ग से विभिन्न स्वरूप धारण करने के कारण हुए हैं। स्वरूप-विभिन्नता से रश्मियों के छन्दों में भी भेद पड़े हैं।[1]

आश्चर्य होता है ऋषियों की ऋतम्भरा बुद्धि पर, जिसकी निर्मलता और अलौकिकता द्वारा संसार को विज्ञान के इन अति सूक्ष्म तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान मिला है।

१. **तुलना करो—वासो अग्ने विश्वरूपम् । इस मन्त्र भाग पर कपिष्ठल संहिता ३०।१३ का वचन है—छन्दांसि वा अग्नेर्वासः ।**

सहस्र के तीन भेद—वायुपुराण ५३।१९–२३, ब्रह्माण्ड, पूर्वभाग २४।२६–३० तथा मत्स्य पुराण १२८।१८–२२ में इन सहस्र रश्मियों के तीन मुख्य भेद किए हैं। यथा—

तस्य रश्मिसहस्रं तु वर्ष-शीतोष्ण-निस्रवम्।[1]
तासां चतुःशता नाड्यो वर्षन्ते[2] चित्रमूर्तयः ॥२६॥
चन्दनाश्चैव साध्याश्च कूतनाकूतनास्तथा।[3]
अमृता नामतः सर्वा रश्मयो वृष्टिसर्जनाः ॥२७॥
हिमोद्गताश्च[4] ताभ्यो ऽन्या रश्मयस्त्रि शताः पुनः।
दृश्या मध्याश्च[5] बाह्याश्च[6] ह्लादन्यो हिमसर्जनाः ॥२८॥
चन्द्रास्ता नामतः प्रोक्ता मिताभास्तु[7] गभस्तयः।
शुक्लाश्च कुहकाश्चैव[8] गावो विश्वभृतस्तथा ॥२९॥
शुक्ला नामतः सर्वाः त्रिशता घर्मसर्जनाः।३०।

इन श्लोकों से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं—

१. सूर्य की सहस्र रश्मियाँ तीन प्रकार की हैं। ये वर्षा, शीत और उष्णता निकालती रहती हैं। इन्हीं रश्मियों के प्रभाव से अन्तरिक्ष और पृथिवी पर वर्षा आदि की माया घटती है।

२. इनमें से ४०० रश्मियाँ चित्रमूर्तयः हैं। वेद-मन्त्रों में इन चित्र-मूर्तियों के नाम मिल सकते हैं। ये नाड़ियाँ अथवा रश्मियाँ वर्षा कैसे करती हैं, इसका ज्ञान वर्षा-माया के अध्ययन से होता है।

---

१. ब्रह्मा०—शीत-वर्षोष्ण०।

२. वायु—वर्षन्ति।

३. वायु—वन्दनाश्चैव वन्द्याश्च ऋतना नूतनास्तथा।
मत्स्य—चन्दनाश्चैव मेध्याश्च केतनाश्चेतनास्तथा।

४. वायु—हिमवाहाश्च। मत्स्य—हिमोद्भवाश्च।

५. वायु—मेध्याश्च। ब्रह्मा०—मेघाश्च।

६. ब्रह्माण्ड—याम्यश्च। मत्स्य—तथान्याश्च।

७. वायु—पीताभास्तु। ८. वायु, मत्स्य—ककुभश्चैव।

मै० सं० में इस तथ्य का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है। यथा—

अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे। मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। तां सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति। २।४।८॥

अर्थात्—उस वर्षा को सूर्य रश्मियों से बरसाता है।

३. श्लोक २७ के पूर्वार्ध में बहुत पाठान्तर हैं। इनका पाठ-शोधन यद्यपि कठिन है, तथापि वेद और ब्राह्मण की सहायता से हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इन रश्मियों के चार प्रधान नाम यहाँ लिखे हैं। इनमें से साध्याः रश्मियां पूर्व पृ० १७५ पर लिखे साध्याः आशापालों से क्या सम्बन्ध रखती हैं, यह जानना चाहिए।

४. ये सब वृष्टिसर्जना नाड़ियां अमृता नाम वाली हैं। संभव है, इनमें सूर्यस्थ अमृत नामक आपः परमाणुओं का योग-विशेष हो। अमृतं ह्यापः। श०।३।६।४।१६॥

(क) ऋग्वेद का मन्त्र है—आणिं न रथ्यम् अमृता अधि तस्थुः। १।३५।६॥

अर्थात्—कील को जैसे रथाङ्ग [सेवते हैं], अमृता [नामक आपः कण] वैसे सविता का आश्रय करते हैं।

(ख) अप्सु अन्तः अमृतम्। ऋ० १।२३।१६॥

यह अमृत आपः के अन्दर से सूर्य में ही बनता है।

(ग) यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्। ऋ० १।१६४।२१॥
निरुक्त ३।१२॥

अर्थात्—जिस [आदित्य मण्डल] में रश्मियां अमृत के प्राप्तव्य अंश को [लेती हैं।]

(घ) अथ यदेतन्मण्डलं ता आपः। तदन्नम्। तदमृतम्। जै० ब्रा० २।६२॥

अर्थात्—यह सूर्य मण्डल आपः हैं, अन्न है, अमृत है।

ऋग्वेद के सूर्य-देवता परक सूक्त में एक मन्त्रांश अति स्पष्ट है—

यत्रा चक्रुः अमृता गातुमस्मै। ७।६३।५॥

अर्थात्—जहां बनाया अमृता: ने जाने का मार्ग इस [सूर्य] के लिए।

देवान्न अथवा अमृत—जै० ब्रा० के प्रमाण से पहले पृ० २०२ पर लिख चुके हैं, कि सारे देव सूर्य का आश्रय लेते हैं। इसका कारण विशेष है। देव-माया में ये देव सदा दिव्य गुण लेते रहते हैं। वह दिव्य गुण अब उन्हें सूर्यस्थ अमृत से मिलता रहता है। इसीलिए ब्राह्मण में कहा है—

न ह वै देवा अश्नन्ति। न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।[1]

अर्थात्—नहीं देव खाते हैं। न पीते हैं। इस ही अमृत को देख कर तृप्त होते हैं।

जिस प्रकार विद्युत् के सामने अनेक पदार्थ वैद्युत और चुम्बकीय प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं, इसी प्रकार इस अमृत के सामने आकर देव भी अमृतमय होते रहते हैं। मानो बैटरी चार्ज होती है।

सूर्य में आपः के रूपान्तर इस अमृत का प्राधान्य है। वृष्टि-सर्जना नाडियां जो अमृता नाम वाली हैं, इस अमृत से कोई भाग अवश्य ग्रहण करती हैं। इस विषय का अध्ययन अभी हम कर रहे हैं।

दिव्य अमृत विषय पर प्रकाश डालने वाले महाभारत, शान्ति पर्व अ० ३३६ के कुछ श्लोक नीचे लिखे जाते हैं—

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्त्यापो विहायसा।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठिति ॥ ६९ ॥
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन् एकरश्मिर्दिवाकरः।
योनिरंशुः सहस्रस्य येन भाति वसुंधरा ॥ ७० ॥
यस्मादाप्यायते सोमो योनिर्दिव्यो ऽमृतस्य यः।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ७१ ॥

१. विष्णु पुराण, श्रीधरी टीका, पृ० ४१ पर उद्धृत।

इन श्लोकों का पूर्ण अभिप्राय हमारी बुद्धि में अभी नहीं आया। इतना स्पष्ट है कि षष्ट वायु-मार्ग परिवह नाम का है। इसके कारण आपः दिव्य (विद्यु त् युक्त) और पारिप्लव (चञ्चल) हो जाते हैं। इसी के कारण आकाश गङ्गा का तोय सदा पृथिवी पर नहीं गिरता। इस वायु मार्ग में एकरश्मि वाला दिवाकर दूर से टक्कर खाता है और सहस्र किरणों वाला बनता है। इसी परिवह वायु से सोम वृद्धि को प्राप्त होता है। यही परिवह वायु दिव्य अमृत का कारण है।

हम पहले पृ० १८९ पर कह चुके हैं कि आदित्य में वायु, आपः और अग्निः का समावेश है। वस्तुतः सूर्य की माया में वायु का पर्याप्त अंश है।

५. आगे हिम-सर्जना ३०० रश्मियों का उल्लेख है। इस स्थान में **हिमोद्गताः, हिमवाहा और हिमोद्भवाः** तीन पाठ हैं। पहले और तीसरे पाठ का अर्थ है कि सूर्य में ही कोई हिम-स्थान है। उसी से ये रश्मियां उठती हैं। यदि यह ठीक है, तो उस हिम-स्थान का ज्ञान मन्त्रों द्वारा करना चाहिए। इस अवस्था में सम्पूर्ण सूर्य को अग्नि पुञ्ज अथवा सहस्रों डिगरी ताप का केन्द्र मानना कहां तक ठीक हो सकता है। दूसरे पाठ **हिमवाहाः** का अर्थ है, हिम बहाने वाली। इस पाठ से भी सूर्य में हिम-स्थान के अस्तित्व का पता चलता है।

वेद में सूर्य का त्रिविध रूप—ऋग्वेद १।१६४।२ मन्त्र अति प्रसिद्ध है। यास्क के अनुसार इस मन्त्र का उत्तर अर्धर्च संवत्सर-प्रधान है। उसका पाठ है।

त्रिनाभि चक्रम् अजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥

इस उत्तरार्ध का यास्ककृत अर्थ है—

त्रिनाभि चक्रम्।[1] **त्रि-ऋतुः संवत्सरः। ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति।** निरुक्त ४।२७॥

अर्थात्—तीन वलय वाले चक्र [सूर्य] को, जो अजर [तथा]

---

१. **रथमेकचक्रम्। महाभारत, शान्तिपर्व, ३७२।१॥**

अशिथिल [है]।

यास्क के अनुसार तीन ऋतुएँ इन्हीं वलयों के कारण बनती हैं। ये वलय ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार प्रतीत होता है, सूर्य में ही हेमन्त का हिम-स्थान है।

ये वलय कैसे बने हैं, अथवा तीन नाभियां किस प्रकार की हैं, इन तथ्यों का अध्ययन भविष्य में करेंगे।

ऋतुएँ—मूल ऋतुएँ तीन हैं। उन्हीं के आगे अधिक विभाग होते हैं।

इन हिम-सर्जना रश्मियों में एक सुषुम्णा रश्मि है, जो चन्द्र के प्रति अपना चमत्कार दिखाती है।

दृश्या—फिर इन रश्मियों को दृश्या लिखा है। क्या रश्मियों में से केवल हिम-सर्जना हैं, जो दिखाई देती हैं, और शेष अदृश्या हैं। इन्हें **मेघाः, मेध्याः** अथवा **मध्याः** कहा है। ये पाठान्तर भी ध्यान देने योग्य हैं। इनमें से प्रत्येक पाठ अपना अर्थविशेष रखता है।

अतः यथार्थ अर्थ जानने के लिए पाठ का संशोधन आवश्यक है। पर एतदर्थ हमारे पास अभी सामग्री नहीं है। परन्तु शतपथ के निम्न-लिखित पाठ के अनुसार मेध्या पाठ युक्त प्रतीत होता है—

मेध्या वा ऽएता आपो भवन्ति या आतपति वर्षन्ति।

५।३।४।१३॥

चन्द्राः—ये हिम-सर्जना रश्मियां चन्द्राः नाम वाली हैं। यजुर्वेद में एक मन्त्र भाग है—

याश्रापश्चन्द्राः प्रथमो जजान। १२।१०२॥

अर्थात्—जिनको आपः को चन्द्रा [नाम वा रूप वालों] को पहले उत्पन्न किया।

अतः तै० ब्रा० में कहा है—

चन्द्रा ह्यापः १।७।६।३॥

इन चन्द्राः आपः का हिम-सर्जना चन्द्राः रश्मियों से सम्बन्ध

होना चाहिए।

पीताभाः—ये चन्द्राः रश्मियां पीताभाः अथवा मिताभाः हैं। यदि मिताभाः पाठ भी ठीक है, तो निश्चय होता है कि ऋषियों को रश्मियों की आभा के विभिन्न परिमाणों का ज्ञान था।

सूर्य विषयक गवेषणा करने वाले भविष्य के वैज्ञानिकों को इन रश्मियों के यथार्थ ज्ञान के लिए सूर्य-रश्मियों के भिन्न २ अवस्थाओं के भिन्न २ समयों के चित्र लेने पड़ेंगे। अभी वर्तमान विज्ञान ने बहुत दूर जाना है।

शीत तरंगे—इस पृथिवी पर कभी कभी और सामान्यतया शरद् ऋतु में कई वार अति शीत तरंगें (cold waves) आती हैं। उनका मूल स्रोत ये सूर्य रश्मियां ही हैं।

हिम-युग—पृथिवी पर कई वार हिम-युग आ चुके हैं। त्रेता से पहले भी ऐसा हिम-युग प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में इम्मैनूएल वेली-कोव्सकी लिखता है—

Not many thousands of years ago, we are taught, great areas of Europe and of North America were covered with glaciers. Perpetual ice lay not only on the slopes of high mountains, but loaded itself in heavy masses upon continents even in moderate latitudes.........[1]

Traces have been found of five or six consecutive displacements of the ice sheet during the Ice Age, or of five or six glacial periods.........[1] Neither the cause of the ice ages nor the cause of the retreat of the icy desert is known; the time of these retreats is also a matter of speculation.[1]

Why did the glacial sheet, in the southern hemisphere, move from the tropical regions of Africa toward the south polar region and not in the opposite direction, and similarly, why, in the northern hemisphere, did the ice move in

1. Worlds in Collision, p. 33.

India from the equator toward the Himalaya mountains and the higher latitudes ?[1]

इन हिम-युगों का मूल कारण हिमसर्जना रश्मियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इस पर सामग्री एकत्र करने की आवश्यकता है।

इतना सत्य है कि **शैत्यमप्सु**, वायु पु० २४।१५२, अर्थात् शैत्य आपः परमाणुओं का स्वाभाविक गुण है। जब-जब सूर्यस्थ अमृतमय आपः परमाणुओं से आग्नेय सम्बन्ध पृथक् वा न्यून होता है, तभी उन परमाणुओं के द्वारा शीत प्रभाव न्यूनाधिक व्यक्त होता है। विना अप महाभूत का अस्तित्व समझे शीत-तरंगों की माया समझ नहीं आ सकती।

सीकर मुञ्चन—इन शीत-तरंगों के साथ नीहार (mist, fog) का भी सम्बन्ध है। यह नीहार कैसे उत्पन्न होता है, इस विषय में ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है—

पर्जन्यो दिग्गजाश्चैव हेमन्ते शीतसंभवाः।
तुषारवृष्टिं वर्षन्ति शिष्टः सस्यप्रवृद्धये ॥४६॥
षष्ठः परिवहो नाम तेषां वायुरपाश्रयः।
योऽसौ बिभर्ति भगवान् गङ्गामाकाशगोचराम् ॥५०॥
दिव्यामृतजलां पुण्यां त्रिधा स्वातिपथे स्थिताम्।
तस्या निष्यन्दतोयानि दिग्गजा पृथुभिः करैः ॥ ५१ ॥
शीकरं संप्रमुञ्चन्ति नीहार इति स स्मृतः।

पू० भा०, अ० २२।

अर्थात्—दिशाओं के गज हेमन्त में [जल से] शीत [प्रभाव] से उत्पन्न होते हैं। ये ही तुषार-वृष्टि करते हैं। इस तुषार-वृष्टि का कारण आकाश-गङ्गा का जल है। उसी जल को दिग्गज अपनी विस्तृत सूण्डों से बरसाते हैं।

इस माया में आपः का शैत्य प्रभाव व्यक्त होता है।

---

1. Ibid, p. 35.

अति उच्च पर्वतों पर जो हिम-अस्तित्व सदा बना रहता है, उसका आरम्भ भी इन्हीं रश्मियों से हुआ।

महाभारत; शान्तिपर्व, अ० २३२ में इसी तथ्य का उल्लेख है—

आदित्यो नैव तपिता कदाचिन्मध्यतः स्थितः।
स्थापितो ह्यस्य समयः पूर्वमेव स्वयंभुवा॥ ३६॥
अजस्रं परियात्येष सत्येनावतपन् प्रजाः।
अयनं तस्य षण्मासा उत्तरं दक्षिणं तथा।
येन संयाति लोकेषु शीतोष्णे विसृजन् रविः॥ ४०॥

अर्थात्—उत्तरायण और दक्षिणायन के कारण शीत और उष्ण को सूर्य ही छोड़ता है।

ऋतुओं के अनुसार सूर्य के तपन में न्यूनाधिकता होती है। ताण्ड्य ब्रा० में कहा है—

तस्माद् यथर्तु आदित्यस्तपति ।१०।७।५॥

वस्तुतः आदित्य रश्मियों के ताप में ऋतु के अनुसार भेद होता है।

६. अब रहीं ३०० घर्मसर्जना रश्मियां। इन्हीं में वैश्वानर अग्नि से मेल का सामर्थ्य है। इस मेल के कारण ये उष्णता उत्पन्न करती हैं। ये ही शुक्ला अथवा शुक्रा [1] कहाती हैं। सूर्य के अन्दर जो शुक्र भाग है, उसी भाग से इनका सम्बन्ध है। वेद के अनेक मन्त्रों में उस शुक्र का अति स्पष्ट वर्णन है। इन्हें कुहुकाः अथवा ककुभः भी कहते हैं। संभव है, इनका दिशाओं से कोई सम्बन्ध-विशेष हो।

गावः—ये रश्मियां गावः कहाती हैं।

ऋग्वेद में—सोमं गावो धेनवो वावशानाः। ६।६७।३५॥
(निरुक्त १४।१५)

अर्थात्—सोम को, गौएं, धेनुएं (रश्मियां) कामना करती हुई, [आदित्य को जाती हैं]।

---

१. इनसे विभिन्न कृष्ण रश्मियां भी होती हैं। ३३ राहुपुत्र कृष्ण रश्मियां हैं। देखो, अद्भुत सागर, पृ० १२ पर गर्ग वचन।

यहां गावः और धेनवः का भेद, अथवा विशेष्य-विशेषण भाव से अर्थ-भेद विचार-योग्य है।

जिस प्रकार पृथिवी पर होने वाली गौ से पृथिवी का पालन होता है, उसी प्रकार इन गावः रश्मियों से जगत् का पालन होता है।[1]

घर्म (heat) की सारी महिमा इन्हीं की देन है। इन्हीं के विषय में ऋग्वेद में कहा है—

यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। १।१५४।६ ॥

अर्थात्—जहां किरणें अति दीप्ति वाली सदा चलने वाली [होती हैं]। इसी मन्त्र को लिखकर यास्क कहता है—

सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। २।६॥

अर्थात्—सारी ही रश्मियां गावः कहाती हैं।[2]

पुनश्च, ऋग्वेद १।८५ मरुत् देवता का सूक्त है। उसके तृतीय मन्त्र का पूर्वार्ध है।

गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिः।३।

अर्थात्—गौएं [रश्मियां] हैं माता जिनकी, [ऐसे मरुतः] जो सजाते हैं, अलंकारों से।

इस मन्त्र में जिन्हें **गोमातरः** कहा है, उन्हें ही अन्यत्र **पृश्निमातरः** कहा है। पृश्नि होती भी चितकबरी गौ है। इन गौ रश्मियों में अनेक रंग होते हैं। इसलिए माधव ने ऋग्वेद भाष्य १।८५।२ में **पृश्निमातरः** का अर्थ **गोमातरः** किया है।

ऋ० १।६६।५ के भाष्य में स्कदस्वामी शाकपूणि के प्रमाण से

---

१. **गोर्वा इदं सर्वं बिभर्ति। श० ३।६।२।१४॥**

२. **यास्क का लेख अर्थ निर्वचन प्रधान है। वह सूक्ष्म-भेदों में नहीं जाता। सूक्ष्म भेद ब्राह्मण ग्रन्थों में ही हैं। यास्क स्वयं इस बात की प्रशंसा में लिखता है। बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। ७।२४॥ महाभारत शान्ति पर्व २३७।१६ में योगेश्वर कृष्ण नारद की प्रशंसा में कहते हैं—वेदार्थविद् विभागेन।**

मरुतों को भी गावः कहता है।

आदित्य ही गौ अथवा गावः—गावः नामक रश्मियों का समूह होने से—आदित्योऽपि गौरुच्यते। निरुक्त २।६, आदित्य को भी गौ कहते हैं। तथा महिदास ऐतरेय का भी वचन है—

गावो वा आदित्याः। ऐ० ब्रा० ४।२०॥

संभवतः आदित्याः नामक रश्मियां गावः हैं। तथा ऐतरेय ब्राह्मण ४।२० के अनुसार इन्हीं गावः रश्मियों के कारण सूर्य को गोजाः लिखा है।

आदित्य ही अश्मा पृश्निः—शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः। ६।२।३।१४॥

अर्थात्—वह निश्चय आदित्य अश्मा पृश्निः है।

प्रतीत होता है, अश्मा पृश्नि वे रंग बिरंगी किरणें हैं, जो कुछ वज्र अथवा अश्मा रूप धारण करती हैं। यह वज्र रूप आपः की माया से बनता है। देखो पूर्व पृष्ठ १०७ पर टिप्पण।

स्कन्दकृत ऋग्भाष्य—१।७१।५ के अनुसार पृशाना शब्द अमृत-रसरूप का वाचक है। अमृत में साधु अर्थ में पृश्नि शब्द है। आदित्य में जो अमृत भाग है, उससे ही अश्मा पृश्नि का सम्बन्ध है।

आदित्य शृङ्ग—अभी पूर्व पृष्ठस्थ वेद मन्त्र के प्रमाण से गावः को भूरिशृङ्गाः लिखा है। इस भाव की व्याख्या जै० ब्रा० में मिलती है।

ये ह वा एते आदित्यस्य रश्मय एतानि ह वा एतस्य शृंगाणि। मध्य उ ह वा एष एतद् अपाम्। तासु वारवन्तीयम्। २।१४५॥

अर्थात्—जो निश्चय ही ये आदित्य की रश्मियां [हैं], ये ही निश्चय इसके शृङ्ग [हैं]। मध्य में निश्चय ही यह आपः के। उन्हीं में वारण करने (रोकने) का सामर्थ्य [है]।[1]

रश्मि-वारण—रश्मि-वारण की माया अति गम्भीर है। ऋग्वेद में मन्त्रांश है—

---

१. यही प्रमाण पूर्व पृ० १९२ पर लिखा गया है।

क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्याततान।
१।३५।७॥

अर्थात्—कहां अब सूर्य, कौन जानता है। किस द्युलोक को रश्मि इसकी प्रकाशित करती है।

यह गम्भीर प्रश्न है, सूर्य की रश्मि किस द्यु तंक जाती है। निश्चित है, द्यु लोक अनेक हैं और उनकी सीमाएं भी हैं।

ये दैवी सीमाएँ ही सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों का स्तम्भन करती हैं। जगत् को आईन स्टाईनवत् परिधि-रहित मानना ठीक नहीं।

विश्वभृतः—इस नाम की भी रश्मियां हैं। इनका काम विश्व का भरण-पोषण है। किस प्रकार, यह मन्त्राभ्यास से स्पष्ट होगा।

पूर्वोक्त रश्मियों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है।
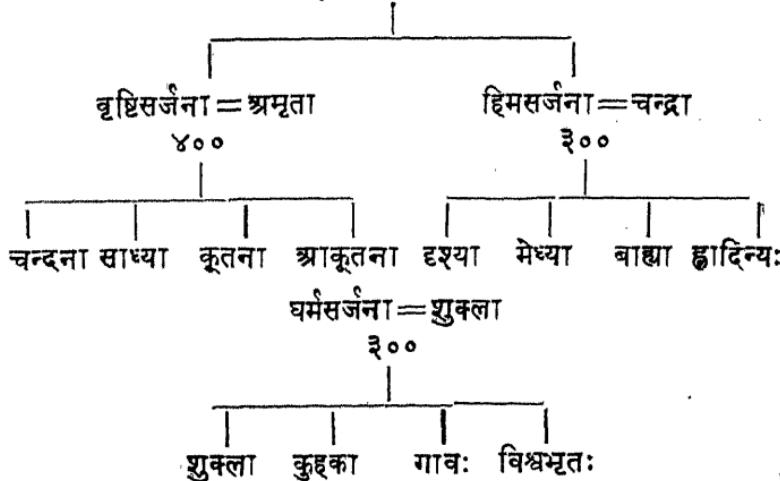
शतविधा रश्मियां—शतपथ ब्राह्मण में रश्मियों को शतविधा भी कहा है। यथा—

स एष [आदित्यः] एकशतविधः। तस्य रश्मयः शतं विधा। एष एव एकशततमो य एष तपति। १०।२।४।३॥

अर्थात—वह यह आदित्य १०१ विध का है। उसकी रश्मियां १०० प्रकार [की हैं]। यह ही १०१वां है जो यह तपता है।

यह १०० का विभाग भी जानने योग्य है।

सात प्रधान रश्मियां

ऋग्वेद २।१२ सूक्त ऐन्द्र सूक्त है। इसके १२वें मन्त्र में इन्द्र की सात रश्मियां कही गई हैं।[1] तै० आरण्यक १।६।४-५ में इन्हें वराहवः, स्वतपसः, विद्युन्महसः आदि नाम दिये हैं। ये रश्मियां ऐन्द्री होने के कारण मरुतों से भी सम्बन्ध रखती हैं। हम पहले पृ० १४२ पर लिख चुके हैं कि मरुतों में मरीचयः श्रेष्ठतम हैं। ये मरीचयः अन्य मरुतों के समान सूर्य तक पहुँचती हैं। इसीलिए महाभारत, शान्ति पर्व, अ० २१२ में लिखा है—

नदीष्वापो यथा युक्ता यथा सूर्ये मरीचयः।
सन्तन्वाना यथा यान्ति तथा देहा शरीरिणाम् ॥५८॥

अर्थात्—सूर्य में मरीचयः युक्त रूप से चलती हैं।

इन मरीचियों और गावः का सम्बन्ध जानने योग्य है। संभवतः गावः में से कुछ रश्मियां मरीचिपाः हैं।

ग्रहोत्पत्ति—जैसे इन्द्र की सात रश्मियां कही हैं, वैसे सूर्य की भी सात विशेष रश्मियां हैं। इन्हें ही संभवतः सप्त ऋषयः भी कहा है। इनकी महिमा विशेष गाई गई है। इनसे ग्रहों की उत्पत्ति हुई थी। वायु पुराण ५०।९९ के पश्चात् में सूर्य की सहस्र रश्मियों में से सात प्रधान रश्मियां ग्रह-योनियां लिखी हैं। यथा—

रवे रश्मिसहस्रं यत् पराङ् मया समुदाहृतम्।
तेषां श्रेष्ठाः पुनः सप्त रश्मयो ग्रहयोनयः ५३।४४॥

---

१. जै० उ० ब्रा० १।२९।२ के अनुसार ये आदित्य रश्मियां हैं—स एष सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्। ऋ० १।१०५।९ भी ऐन्द्र सूक्त का मन्त्र है। उसमें भी—अमी ये सप्त रश्मयः पाठ है। माधव भाष्य में—ये सप्त आदित्यस्य रश्मयः, लिखा है।

अर्थात्—सूर्य की सहस्र रश्मियां जो पहले मेरे द्वारा उदाहृत की गई हैं, उनमें से श्रेष्ठ पुनः सात रश्मियां [हैं, जो] ग्रहों की योनियां हैं।

ये रश्मियां ग्रहों की योनियां कैसे हैं, यह आगे लिखेंगे। यहां इन सात श्रेष्ठ रश्मियों के नाम लिखते हैं।[1]

१. सुषुम्णः
२. हरिकेशः (सूर्यरश्मिर्हरिकेशः। ऋ० १०।१३६।१॥)
३. विश्वकर्मा (असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ तपति। कौ० ब्रा०, ५।५॥)
४. विश्वश्रवा (=विश्वव्यचा,[2] शतपथ)[3]
५. संपद्वसुः (=संयद्वसुः, शतपथ)
६. अर्वावसुः (= अर्वाग्वसुः, शतपथ)[4]।
७. स्वराट्

प्रायः इन सब रश्मियों का उल्लेख मन्त्रों में मिलता है। ग्रहोत्पत्ति के अध्याय में इनका विस्तृत उल्लेख करेंगे।

इन सात रश्मियों में से कौन सी वृष्टिसर्जना, कौनसी हिमसर्जना

---

१. तुलना करो—तै० सं० ४।४।३॥ कपिष्ठल सं० २६।८॥ मै० सं० २।८।१०॥ श० ब्रा० ८।६।१।१६—॥ ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग २४।६५-७१॥

२. विश्वव्यचाः नाम की एक समुद्र अग्निः भी है। देखो, ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भा० १२।२४॥

३. तुलना करो, अन्तरिक्षं विश्वव्यचाः, तै० ब्रा० ३।२।३।७॥ यजुः १३।५६ पर शतपथ ८।१।२।१—असौ वा आदित्यो विश्वव्यचाः। स्कन्द ऋग्भाष्य १।१०४।६ पर लिखता है—व्यचशब्दो व्याप्तिवचनः शाकपूणिना पठितः।

४. शतपथ ८।६।१।२० अर्वाग्वसुः, तथा शतपथ १।५।१।२४ अर्वावसुः। ये दो भिन्न पद हैं। प्रथम स्थान के अर्वाग्वसुपद का वृष्टि के साथ सम्बन्ध है।

और कौनसी घर्मसर्जना गण की हैं, यह अवश्य जानना चाहिए। पहली सुषुम्णः रश्मि निश्चित ही हिमसर्जना गण की है।

८.६. आदित्य वा अङ्गिरस रश्मियां

वैदिक वाङ्मय में ये दो रश्मियां बड़ा प्रधान कार्य करती देखी जाती हैं। इनके विषय में जै० ब्रा० में कहा है—

तद् ये ह वा एत आदित्यस्योदञ्चो रश्मयस्त आदित्याः। ये दक्षिणास्तेऽङ्गिरसः।२।३६६॥

अर्थात्—तो जो निश्चय ही ये आदित्य की उत्तर की (अथवा ऊपर की) रश्मियां, वे आदित्याः [हैं]। जो दक्षिणा वे अङ्गिरसः [हैं]।

आदित्याः—इनमें से आदित्याः रश्मियां गावः हैं। गावो वा आदित्याः। ऐ० ब्रा० ४।१७॥ तां० ब्रा० में आदित्याः सर्प्या कहे गए हैं—

सर्प्या वा आदित्याः। २५।१५।४॥

अर्थात्—सर्पों वाले आदित्या [हैं]।[1]

इस वचन के साथ निम्नलिखित वेद मन्त्र की तुलना करनी चाहिए—

ये अमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
ये अप्सु षदांसि चक्रिरे तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ यजुः १३।३॥[2]

अर्थात्—जो सर्प सूर्य की रश्मियों में हैं।

अन्तरिक्ष और आदित्य आदि में सर्पों का कर्म अध्ययन योग्य है।

अङ्गिरस, एकोऽग्निः—अङ्गिरस एक अग्निः हैं। अङ्गिरसां वा एको ऽग्निः, ऐ० ब्रा० ६।३४॥ यहां एक अग्निः का अभिप्राय अनुसन्धान योग्य है। क्या इनमें एक ही अंग्निः (हाइड्रोजन) परमाणु रहता है। यदि यही है तो ये (hydrogen) के परमाणु के समान होंगी।

---

१. तुलना करो कालेण्ड का अनुवाद—The Adityas are the serpants.

२. तथा मं० सं० २।७।१५ का मन्त्र २०३।

प्राणो वा अङ्गिराः । श० ६।१।२।२८॥ इन रश्मियों में प्राण-योग भी है।

विंशति अंगिरसः— ये अङ्गिरस बीस हैं। स्कन्द ऋग्भाष्य १।८०।६ पर लिखता है—

यद्यपि दशाङ्गिरस इति ऐतिहासिकाः स्मरन्ति तथापि बृहस्पत्यादिभ्रात्रपेक्षया विंशतिसंख्यावचनम् ।

इन रश्मियों के रूप गुण[1] प्रभाव, और भेद भी मन्त्र, ब्राह्मण में मिलते हैं।

१०. वृष्टिवनिः—इनके अतिरिक्त वृष्टिवनिः नाम की एक और रश्मि है। उस पर शतपथ ब्राह्मण का लेख है—

सूर्यस्य ह वा ऽएको रश्मिः वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति । १४।२।१।२१॥

अर्थात्—सूर्य की निश्चय एक रश्मि वृष्टिवनिः नाम [है], जिसके द्वारा इन सब प्रजाओं को पालता है।

तै० संहिता में भी इस रश्मि का उल्लेख है।

एषा वा ओषधीनां वृष्टिवनिः । तया एव वृष्टिमाच्यावयति ।
२।४।१०॥

अर्थात्—यही निश्चय ओषधियों की वृष्टिवनिः [है]। उससे ही वृष्टि को गिराता है। इससे निश्चय होता है कि यह रश्मि वृष्टि-सर्जना रश्मियों में से एक है।

११. मरीचिपाः—इस नाम की भी सूर्य की रश्मियां हैं। तै० सं० में लिखा है—

आदित्यस्य वै रश्मयो देवा मरीचिपाः । ६।४।५॥

अर्थात्—आदित्य की निश्चय रश्मियां [हैं], [जो] देव मरीचिपाः है।

---

१. असौ वा आदित्य इन्द्रः, रश्मयः क्रीडयः । मै० सं० १।१०।१६॥ यहां रश्मियों के क्रीडन गुण का कथन है।

पूर्व पृ० १४२ पर लिख चुके हैं कि मरीचि मरुतों में से एक है। मरुतों का वृष्टि के साथ सम्बन्ध है। अतः ये रश्मियां भी वृष्टिसर्जना गण में से हैं।

१२. **सुरुचः**—सु उपसर्ग पूर्वक दीप्ति अर्थ वाले रुक् का यह प्रथमा, बहुवचनान्त रूप है। अथर्ववेद ४।१।१ **सुरुचो वेन आवः** की व्याख्या में निरुक्त १।७ में यास्क लिखता है—

सुरुचः, आदित्यरश्मयः। सुरोचनात्।

रश्मियों के अनेक गुणों में से एक रोचन-दीपन गुण भी है। उसके अतिशय से इन रश्मि-विशेषों को सुरुचः कहते हैं। इन्हीं रश्मियों के कारण से ये लोक दीप्तिमय हैं। इसी लिए शतपथ कहता है—

इमे लोकाः सुरुचः ।७।४।१।१४ ॥

अर्थात्—ये लोक शोभन दीप्ति वाले हैं।

रुक् का अमृतत्व—ये दीप्तिमयी रश्मियां अमरणधर्मा हैं।

रुच योनिः—इन रश्मियों की यह दीप्ति अग्निः के कारण है। अग्निः ही इस दीप्ति की योनिः है। तीन अग्नियों में से किस अग्निः के कारण यह दीप्ति है, यह अभी निर्णेतव्य है। याजुष मन्त्र कहता है—

यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिव्यमातन्वन्ति रश्मिभिः । १३।२२॥

अर्थात्—जो तेरी हे अग्ने सूर्य में दीप्तियां हैं, द्युलोक में होने वाली को विस्तृत करते हैं रश्मियों द्वारा।

इस मन्त्र में दिव्य रुचः (दीप्तियों) का कथन है।

इससे अगला मन्त्र है—

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः । २३ ।

ये गौएं और अश्व सूर्य सम्बन्धी भी हैं।

इस पर शतपथ का वचन है—

अमृतं वै रुक् । ७।४।२।२१॥

अर्थात्—अमृत निश्चय ही दीप्ति [है]।

यजुः १३।३९ पर शतपथ का वचन है—प्राणो वै रुक् प्राणेन

हि रोचते । ७।५।२।१२ ॥

अर्थात्—प्राण ही रुक् है ।

अमृत अथवा दिव्य आपः और प्राण के योग से दीप्ति उत्पन्न होती है ।

द्युःलोक में सूर्य-दीप्ति सदा वर्तमान रहती है ।

१३. **अमा**—अमा नाम की भी एक रश्मि है । इस के कारण अमावास्या (अमा रश्मि में वास योग्य) नाम पड़ा है । विष्णु पुराण २।१२ में स्पष्टीकरण है—

कलाद्वयाविष्टस्तु प्रविष्टः सूर्यमण्डलम् ।
अमाख्यरश्मौ वसति अमावास्या ततः स्मृतः ॥८॥

अर्थात्— [इस अहोरात्र में] अमा नाम रश्मि में [चन्द्रमा] वास करता है । अमावास्या इसी कारण से स्मरण की जाती है ।

उस कलाद्वय में सूर्य जिस राशि में होता है, उसी राशि में चन्द्रमा भी आ जाता है । अतः कहा है, चन्द्रमा सूर्य मण्डल में प्रविष्ट हो जाता है ।

१४. हंसाः—ऋ० ४।४०।५ हंसःशुचिषत् मन्त्र के व्याख्यान में निरुक्त १४।३१ मे लिखा है–हंसा सूर्यरश्मयः ।........त्यजन्तीति हंसाः । इन हंसाः नामक रश्मियों का पुञ्ज होने से सूर्य हंस है । इस लिए ऋग्वेद के इस मन्त्र पर ऐ० ब्रा० की व्याख्या है—

एष [आदित्यः] वै हंसः शुचिषत् । ४।२०॥

रश्मि-दीप्ति अग्निः के कारण है । ऋग्वेद का मन्त्रांश है—

अहः स्वर्विविदुः केतुम् उस्राः ॥ १।७१।२॥

अर्थात्—अहः, आदित्य ने प्राप्त किया प्रकाश को, रश्मियों ने [अग्नि की कृपा से] ।

यह मन्त्र यजुः १२।१४ भी है । उस पर शतपथ की व्याख्या है—

असौ वा ऽ आदित्यो हंसः शुचिषत् । ६।७।३।११ ।

अर्थात्—वह निश्चय आदित्य हंस शुचिषत् [है] ।

१५. ऋभवः—निरुक्त ११।१६ में यास्क लिखता है—

आदित्यरश्मयो ऽपि-ऋभव उच्यन्ते।

अर्थात्—आदित्य रश्मियां भी ऋभवः कही जाती हैं। पूर्व पृ० १६६ पर अन्तरिक्ष स्थानी ऋभुओं का वर्णन कर चुके हैं। इन ऋभुओं और आदित्य के रश्मि-रूपी ऋभुओं का सम्बन्ध जानने योग्य है।

ताण्ड्य ब्रा० १४।२।५ के भाष्य में सायण भी ऋभवः पद से रश्मियों का ग्रहण करता है।

१६. सुपर्णाः—ऋग्वेद का मन्त्र है—

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रम्। १०।७३।११॥

इस पर निरुक्त ४।३ में यास्क का भाष्य है—**सुपतना आदित्य-रश्मयः**। इसी प्रकार—**यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विद-थाभि स्वरन्ति**। ऋ० १।१६४।२१ मन्त्र पर यास्क लिखता है—**सुपतना आदित्यरश्मयः**। ३।१२॥

मन्त्रार्थ—जहाँ पर [आदित्य मण्डल में] सुपर्णा नामक आदित्य रश्मियां अमृत के भाग को बिना निमेष [बिना अन्तर के] विदथों (वेदन अथवा विज्ञानों) से शब्दायमान तथा तापयुक्त करती हैं।

आदित्य में अमृत का तत्त्व पूर्व पृष्ठ २०२ पर जै० ब्रा० २।६२ के प्रमाण से लिखा गया है।

इस प्रसङ्ग का एक और मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः।

ऋ० १।१०५।११॥

अर्थात्—सुपतना रश्मियां ये ठहरती हैं मध्य में आरोधन में द्युलोक के। यहाँ आरोधन का अर्थ विचारणीय है। भाष्यकार यहाँ अस्पष्ट है।

१७. हरितः—ऋग्वेद १।११५।४ मन्त्रस्थ हरितः पद के व्याख्यान में यास्क लिखता है—

[हरितः] हरणान् आदित्यरश्मीन्। हरितो ऽश्वानिति वा।

४।११॥

अर्थात्—हरित नाम की आदित्य रश्मियां [हैं] उन्हें।

हरित दिशाएँ भी कही जाती हैं। दिशो वै हरितः। श० २।५।१।५॥ अतः इन रश्मियों का दिशाओं से सम्बन्ध जानना चाहिए।

स्कन्द ऋग्भाष्य १।५०।८ के अनुसार—

हरित्-शब्दो हरित-शब्दपर्यायः। नीलवर्णवचनः।

वस्तुतः इन रश्मियों में हरित, नील-वर्ण का आभास है।

१८. शुचि किरण—इसके विषय में महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३७२ का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

योऽष्टमासांस्तु शुचिना किरणेनोक्षितं पयः।
प्रत्यादत्ते पुनः काले किमाश्चर्यमतः परम् ॥८॥

अर्थात्—जो आठ मास तक शुचि किरण से सींचे हुए जल को, लौटा लेता है फिर काल के आने पर, क्या आश्चर्य है इससे परे।

आपः परमाणुओं का योग इनमें है।

१९. अक्षितयः—याजुष ५।७ मन्त्रस्थ इस पद के विषय में आचार्य दुर्ग निरुक्त ५।११ की वृत्ति में अक्षितयः का अर्थ सूर्यरश्मयः लिखता है।

कौ० ब्रा० का वचन है—

आपो ऽक्षितिः। या इमा एषु लोकेषु। ७।४॥

अर्थात्—आपः अक्षिति हैं, ये इन लोकों में।

२०. शिपयः—निरुक्त ५।७ के शिपिविष्ट (=प्रतिपन्नरश्मिः) शब्द पर भाष्य करते हुए यास्क लिखता है—

शिपयो ऽत्र रश्मय उच्यन्ते।

इस पर दुर्ग लिखता है—शिपिसंज्ञैः बालरश्मिभिः।

अर्थात्—शिपि नामिका प्रातःकाल की रश्मियों द्वारा।

२१-२२. केशी-केशा—निरुक्त १२।२५ में ये दो भी रश्मियों के नाम हैं। पर ध्यान रहे कि यास्क ने आदित्यरश्मयः प्रयोग से इन्हें स्मरण नहीं किया।

२३. पशु—पूर्व पृ० १५३-१५६ तक अन्तरिक्षस्थ पशुओं का वर्णन हो चुका है। वे पशु सम्भवतः आदित्य तक पहुँचते हैं। इसलिए कपिष्ठल संहिता का पाठ है—

रुद्रो वा अग्निः। पशवो ऽंशवः। ४०।५॥
रुद्रो वा अग्निः। पशवः आदित्यः। ४४।६॥

अर्थात्—रुद्र निश्चय अग्निः [है]। पशु अंशवः (=किरणें) [हैं]।

२४. सुकृतः—ये भी सूर्य रश्मियां हैं। शतपथ का प्रवचन है—

तस्य सूर्यस्य ये रश्मयस्ते सुकृतः। १।६।३।१०॥

अर्थात्—उस सूर्य की जो रश्मियां हैं, वे सुकृतः हैं।

जब वेद-विद्या का प्रचार था, जब नारद, सनत्कुमार प्रभृति वेद के महान् आचार्य जीवित थे, तब सहस्र रश्मियों के नाम, रूप और गुण विदित थे। अब ये थोड़े से नाम हमने भविष्य की खोज के लिए एकत्र कर दिए हैं। रश्मियों के रूप और गुण हमें अभी तक प्रायः अविदित हैं।

रश्मिजाल—आदित्य की इन विभिन्न रश्मियों ने आदित्य से भूमि तक एक जाल बनाया हुआ है। इसी लिए—

(क) अद्य भास्करमुद्यन्तं रश्मिजालपुरस्कृतम्।
शान्तिपर्व, २३५।१४॥

(ख) दीर्घरश्मिजाल। अद्भुत सागर, पृ० १२।

(ग) रश्मिजालव्याकुलत्वम्। पराशर, अद्भुत सागर, पृ० ५५ पर उद्धृत।

(घ) सूर्यः किरणजालेन। ब्रह्माण्ड पुराण, पू० भा०, २२।१३॥

आदि प्रयोग बहुधा मिलते हैं।

मैत्रायणी संहिता में एक रुचिकर संदर्भ है—

(ङ) इन्द्रो वै नमुचिं नालभत। स रश्मीन् कुलायं कृत्वा-अन्वारोहत्-अमुम् आदित्यम्। ४।३।४॥

अर्थात्—इन्द्र रश्मि-जाल बनाकर आदित्य को चढ़ा।

प्रश्न होता है, यह जाल कैसा है। देखो, किसी अल्प-प्रकाश युक्त आगार में, यदि किसी जाले के अन्दर भानु आ रहा होता है, तो एक आंख बन्द करके, और दूसरी आधी बन्द करके उस भानु की ओर देखा जाए, तो एक विचित्र प्रकार का जाल सा दिखाई देता है। क्या सूर्य किरणों का जाल भी इसी प्रकार का है।

इन्द्रधनुः

इन्द्रधनुः की माया सूर्य के कारण है। इसका वृत्तान्त विन्ध्यवासी की आर्या द्वारा आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है—

सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः कराः साभ्रे।
वियति धनुः संस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः॥

अर्थात्—सूर्य [रश्मियों] के विविध वर्ण वायु द्वारा रगड़े और तोड़े गए कुछ-कुछ अभ्र वाले आकाश में इन्द्रधनुः के रूप में देखे जाते हैं।

काश्यप संहिता—इस संहिता में इन्द्रधनुः का कारण निम्न-लिखित प्रकार से प्रकट किया गया है—

अनन्तकुलजाता ये पन्नगाः कामरूपिणः।
तेषां निश्वाससम्भूतं शक्रचापं प्रचक्षते॥

अर्थात्—अनन्त महानाग के कुल में उत्पन्न जो पन्नग सुन्दर रूप वाले हैं, उनके निश्वास से उत्पन्न को इन्द्रचाप कहते हैं।

अनन्त महानाग का एक रूप पृथिवी में है।[1] और सूर्य के सात गणों में एक पन्नग भी हैं। वे पन्नग सूर्य-रश्मियों में भी रहते हैं। उन्हीं से वायु के टकराने पर इन्द्रचाप उत्पन्न होता है।

रश्मि दण्ड

रश्मियों की एक माया दण्ड रूप में भी प्रकट होती है। इस विषय

१. देखो, पूर्व पृष्ठ १२९।

में वराहमिहिर लिखता है—

रविकिरणजालमरुतां संघातो दण्डवत् स्थितो दण्डः।

अर्थात्—सूर्य-रश्मियों के जाल और मरुतों के संघात से आकाश में एक रश्मि-दण्ड भी दिखाई दे जाता है।

प्रलय काल में सप्त सूर्य—सूर्य त्वक् रश्मियों का संघात है। प्रलयकाल में कोई माया घटती है, और ये रश्मियां पृथक्-पृथक् संघात बनकर सप्त सूर्यों का रूप धारण कर लेती हैं। ब्रह्माण्ड पु० पू० भा० अ० ५ में लिखा है—

सहस्रं यत्तु रश्मीनां सूर्यस्येह विनश्यति ॥१२३॥
ते सप्त रश्मयो भूत्वा एकैको जायते रविः ।१२४।
निर्दग्धेषु च लोकेषु तदा सूर्यस्तु सप्तभिः ।१३०।

अर्थात्—सहस्र जो रश्मियों का सूर्य की यहां नष्ट हो जाता है, वे सात रश्मियाँ होकर एक-एक हो जाता है सूर्य। सर्वथा दग्ध होने पर लोकों के तब सूर्यों सातों से।

वैदिक वाङ्मय में सात सूर्य—विष्णु पुराण ६।३ का श्लोक है—

त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त भास्कराः ॥२०॥

इस पर श्रीधर स्वामी अपनी टीका में लिखता है—

सप्तरश्मयः। भास्कराः सप्त। अरोगः, भ्राजः, पटलः, पतङ्गः, स्वर्णरोमा, ज्योतिष्मान्, विभावसुः, सप्त सूर्याः, इति श्रुत्युक्ताः।

इन सप्त सूर्यों का अध्ययन आश्चर्यकर है।

रश्मि-कम्पन—ऋग्वेद ४।१४ का मन्त्रभाग है—

दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेव-अवाधुस्तमो अप्स्वन्तः ॥४॥

अर्थात्—कांपती हुई (छन्द बनाती हुई) रश्मियां सूर्य की, चर्म के समान नीचे रखती हैं (रश्मियों ने नीचे रखा) अन्धकार को [अन्तरिक्षस्थ] आपः के अन्दर।

दविध्वतः का सायणकृत अर्थ है—धुन्वानाः। यह अर्थ युक्त है। धूञ् कम्पने धातु के साथ इस शब्द का सम्बन्ध है। आज भी रूई पींजने वाले को धुनियां कहते हैं। धुनियां शब्द भी इस धातु से विकृत प्राकृत रूप है।

यह रश्मि-कम्पन कैसा होता है, इस तथ्य का अध्ययन भी होना चाहिए। इतना सत्य है कि इस कम्पन के बिना रश्मियों के छन्द (=तरंगें) नहीं बन सकतीं। अन्तरिक्षस्थ आपः के अन्दर अन्धकार कैसे रखा जाता है, यह समझना चाहिए।

शुक्ल-अशुक्ल गभस्तियां—किरणों के दो रूप वाङ्मय में सुप्रसिद्ध हैं। एक है शुक्ल रूप और दूसरा अशुक्ल अथवा असित। यह शुक्ल आग्नेय रूप है, और अशुक्ल आपः का। इन दोनों रूपों का उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण के निम्नलिखित श्लोक में है—

ततस्त्वृतुवशात् काले परिवर्त्य दिवाकरः।
यच्छत्यापो हि मेघेभ्यः शुक्लाशुक्लैर्गभस्तिभिः॥

पू० भा० २२। २६॥ मत्स्य १२५।२२॥

अर्थात्—तब ऋतु के वश से काल आने पर मुड़कर सूर्य देता है आपः मेघों के लिए, शुक्ल और अशुक्ल किरणों द्वारा।

ये दोनों शुक्ल और अशुक्ल किरणें सूर्य मण्डल से आपः लाकर मेघों को देती हैं। ये मेघ क्या हैं, यह भी जानना चाहिए।

तैत्तिरीय संहिता-गत एक मन्त्र स्पष्ट रूप से कहता है—

असितवर्णा हरयः सुपर्णा मिहो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त् सदनानि कृत्वादित् पृथिवी घृतैर्व्युद्यते॥

३। १। ११॥

अर्थात्—काले रूप वाली, हरयः, उड़ने वाली आदित्य रश्मियां मिह के वस्त्र ओढ़े द्यु की ओर उड़ती हैं। वे लौटती हैं सदन बना कर, तत्पश्चात् भूमि स्नेहों से गीली होती है।

इससे लगभग मिलती-जुलती एक ऋचा पूर्व पृ० १५१ के अन्त में

उद्धृत की गई है। उसमें प्रथमार्ध में पाठ है—अपो वसाना, अर्थात्—आपः के वस्त्र ओढ़े। यहाँ पाठ—मिहो वसाना है।

यह बात स्पष्ट है कि तैत्तिरीय पाठ में काली-रश्मियों का वर्णन है। ये काली रश्मियाँ अन्तरिक्ष से मिह के वस्त्र पहनकर द्यु-लोक की ओर उड़ती हैं।

ये रश्मियाँ दिव की ओर क्यों उड़ती हैं। इसी प्रकार सूर्य-त्व् से रश्मियाँ पृथिवी की ओर किस कारण उड़ती आती हैं। इन दोनों गतियों के कारण जानने योग्य हैं। कभी वेद-विद्या जानने वालों के लिए ये बातें साधारण ज्ञान का विषय थीं।

पुराणों के अनुसार इस माया में ध्रुव का बड़ा भाग है। देखो, मत्स्य अ० १२५—

ध्रुवेणाधिष्ठिताश्चापः सूर्यो वै गृह्य तिष्ठति ॥२६॥

कृष्ण रश्मि विषयक गर्ग का एक श्लोक अद्भुत सागर, पृष्ठ १८ पर उद्धृत है—

कृष्णाभाः कृष्णपर्यन्ता संकुलाः कृष्णरश्मयः।
राहुपुत्रास्त्रयस्त्रिंशत कीलकाश्चातिदारुणाः॥

अर्थात्—कृष्ण आभा वाली, चञ्चल कृष्ण रश्मियाँ राहुपुत्र ३३ हैं। इन्हें कीलक कहते हैं।

ऐसा ही भाव महाभारत, शान्तिपर्व में है—

तमोरश्मिगणश्चैव मेघजालं तथैव च।
वर्षं तारागणं चैव नाकाशं दृश्यते पुनः॥ २२४। ८५॥

यह तमो रश्मियों का गण उल्लिखित है।

कृष्ण रश्मियों में पयः—ऋग्वेद १। ६२। ९ का उत्तरार्ध है—

आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः पयः कृष्णासु रुशद्‌ रोहिणीषु॥

अर्थात्—[हे इन्द्र] धारण करते हो, कृष्ण और लोहितरूपा गौओं (किरणों) में दीप्ति को।

कृष्ण किरणों में दीप्ति कैसी है, यह अध्ययन योग्य है।

आदित्य और रश्मि नित्य सम्बन्ध—आदित्य और रश्मियों का नित्य सम्बन्ध है। हमारी पृथिवी से जल उठकर अन्तरिक्ष की लाखों योजन दूरी तक पहुँचता है। वहाँ वायु के षष्ठ मार्ग में उसके कण पारिप्लव चञ्चल और दिव्य बनकर द्यु की ओर उड़ते हुए आदित्य-पृष्ठ पर पहुँचते हैं। वहाँ अपना स्थान प्राप्त करके वे पुनः भूमि की ओर आते हैं। यह देव-चक्र निरन्तर चल रहा है। इससे रश्मियाँ सदा उत्पन्न होती रहती है। सूर्य मानो रश्मियों का समूह बना रहता है, और रश्मियों का सूर्य से नित्य सम्बन्ध है। इसी भाव से महाभारत, शान्तिपर्व में कहा है—

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः संत्यजते नित्यम् आदित्यमिव रश्मयः॥ ३०४। ४३॥

अर्थात्—आदित्य को रश्मियाँ कभी नहीं त्यागतीं।

महाभारत का एक और श्लोक भी इसी भाव का आभास देता है—

विधूम इव सप्तार्चिः-आदित्य इव रश्मिवान्।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽत्मा[1] तथाऽत्मनि॥
शान्तिपर्व, ३११। २०॥

अर्थात्—जैसा आदित्य रश्मिवान् है, जैसे वैद्युत अग्निः आकाश में, वैसा आत्मा शरीर के अन्दर दिखाई देता है।

सहस्र-किरण उत्पत्ति का कारण—एकरश्मि दिवाकर सहस्रांशु कैसे बन जाता है, इसका अत्यन्त रुचिकर वर्णन महाभारत में मिलता है। तदर्थ शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्त्यापो विहायसा॥
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति॥६६॥
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन् एकरश्मिर्दिवाकरः।
योनिर् अंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा॥७०॥

---

१. तथा देखो, अत्मभूतैरतद्भूतः। शान्तिपर्व ३३७।१६॥ अत्म और आत्म पर्याय शब्द हैं।

यस्मादाप्यायते सोमो योनिर्दिव्योऽमृतस्य यः।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतांवर ॥७९॥

अर्थात्—परिवह वायु के इस षष्ठ मार्ग[1] में निम्नलिखित माया घटती है—

१. साधरण आपः कण चञ्चल और दिव्य (=वैद्युत-प्रभावयुक्त)[2] आकाश [की वैद्युत अग्निः] द्वारा हो जाते हैं।

तुलना करो—दिव्यं नभो गच्छ स्वाहेति।
आपो वै दिव्यं नभः॥
॥ शतपथ, ३। ८। ५। ३॥

अर्थात्—आपः निश्चय दिव्य आकाश [हैं]।

२. आकाश गङ्गा का पुण्य जल उसी क्षेत्र में स्तम्भित रहता है।

३. इस षष्ठ मार्ग से आदित्य तक [मरुतों की तरङ्गों की][3] चोटें पहुँचती हैं।

४. इन विभिन्न छन्दों वाली चोटों के फलस्वरूप, इन्हीं के संपीडन (pressure) के कारण एकरश्मि दिवाकर सहस्रांशु बन जाता है।

५. इन विविध किरणों का जब पार्थिव (=पावन) और पावक अग्नि से अन्योऽन्य प्रवेशन होता है, तब धरती प्रकाशमान होती है।

६. इसी षष्ठ मार्ग के कारण सोम वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

७. इसी वैद्युत्-प्रभाव से दिव्य अमृत का सृजन होता है।

यह दिव्य अमृत सूर्य के मध्य में ठहरता है। क्या सर्वाङ्गपूर्ण विज्ञान

---

१. वायु के सात मार्गों का शास्त्रों में बहुधा उल्लेख है—
सप्तवातांस्तथा शेषान्। शान्तिपर्व ३०७। २८॥

२. अग्नि की दो प्रकार की सत्ता ऋ० ३। १७। ५ (निरुक्त ५। ३) में वर्णित है। द्विता च सत्ता। इस पर दुर्गवृत्ति का पाठ है—द्वैधं च यस्य विद्यमानता। मध्यमे च स्थाने वैद्युतभावेन। उत्तमे च स्थाने सूर्यभावेन।

३. देखो, पूर्व पृष्ठ १५१—मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति।

के बिना ऐसा स्पष्ट वर्णन कोई कर सकता है। वस्तुतः साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का ही यह सामर्थ्य था।

पाश्चात्य मत—सूर्य के ताप और प्रकाश के विषय में वर्तमान मत है—

(a) But not until he (man) had come to understand it in terms of energy and to accept the principle of the couservation of energy could he properly formulate the problem.[1]

(b) Physists and astrophysicists believe that the problem has now been solved.

(c) The energy is associated with the operatoin of gravitational force. Since there are no other...forces than electrical and gravitational (the theory of relativity having abolished any fundamental distinction between magnetic and electric force) there are no methods of generating heat essentially different from the two familiar ones ("falling" or some form of "burning").[3]

(d) the now well-known carbon-nitrogen (C-N) cycle,[4]

अर्थात्—सूर्य ताप और प्रकाश के दो ही कारण हो सकते हैं। प्रथम, सूर्य में कुछ 'गिरना', अथवा सूर्य में ज्वलन।

आर्य ग्रन्थकार अधिक स्पष्ट हैं। व्यास कहता है कि आकाश का दिव्य=वैद्युत् प्रभाव, मरुतों की सूर्य पर पहुँची चोटें, चोटों से संपीडन, और अन्योऽन्य प्रवेश के कारण सूर्य-रश्मियां ताप और प्रकाश का व्यवहार करती हैं।

रश्मियों का ह्रास-वृद्धि क्रम—रश्मि-रूपी देव-चक्र तो नित्य है, पर उसमें ह्रास-वृद्धि होती रहती है। इसका संकेत विष्णु पुराण में है—

1. Physics of the Sun And Stars, p. 90.

2-3. ibid, p. 91. 4. ibid. p. 100.

वीथ्याश्रयाणि ऋक्षाणि ध्रुवाधारेण वेगिना ।
ह्रास-वृद्धिक्रमस्तस्य रश्मीनां सवितुर्यथा ॥२।१२।२॥

अर्थात्—वीथियों के आश्रय पर नक्षत्र हैं। इन का आधार वेगवान् ध्रुव पर है। उस ध्रुव का ह्रास-वृद्धि क्रम वैसा ही है, जैसा सविता की रश्मियों का है।

इस से यह भाव निकलता है कि उषा काल से पहले द्यौः (अथवा अन्तरिक्ष से ऊपर) अन्धकारमयी होती है। पृथिवी पर तो अन्धकार हो सकता है, पर द्यौः में होने का क्या कारण।

द्यौः में भी तम भाव—द्यौः सदा प्रकाश-युक्त नहीं होती। यास्क लिखता है—

यदा द्यौः अपहृत-तमस्का कीर्णरश्मि भवति ।१२।१२॥

अर्थात्—जब द्यौः नष्ट हुए तम वाली तथा प्रसृत रश्मियों वाली होती है।

इस ह्रास-वृद्धि की माया स्वतन्त्र अध्ययन चाहती है।

सूर्य-दीप्ति का कारण आपः—वैसे तो ज्योतिः, प्रकाशन और ताप आदि अग्निः के निज गुण हैं। इसी लिए महाभारत, शान्ति पर्व में लिखा है—

अग्ने दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम् ।२६१।५॥[1]

पर सूर्य के शुचिः अग्निः में आपः ही उस की दीप्ति का कारण हैं। आपः अथवा मूल-उदक अथवा अदृष्ट आपः की कृपा से सूर्य तेजो-युक्त होता है और ताप का सृजन करता है। वायु पुराण अ० १०० में इसका पूरा स्पष्टीकरण है—

सप्तरश्मिरथो भूत्वा उदतिष्ठद् विभावसुः ॥१३८॥
असह्यरश्मिर्भगवान् पिबन्नम्भो गभस्तिभिः ।
हरिता रश्मयस्तस्य दीप्यमानास्तु सप्तभिः ॥१३९॥
भूय एव विवर्तन्ते व्याप्नुवन्तो वनं शनैः ।

१. देखो, पूर्व पृष्ठ ६७।

भौमं काष्ठेंधनं तेजो भृशम् अद्भिस्तु दीप्यते ॥१४०॥
तस्मादुदकं सूर्यस्य तपतो ऽति हि कथ्यते ।
नावृष्ट्या तपते सूर्यो नावृष्ट्या परिविष्यते ॥१४१॥
नावृष्ट्या परिचिन्वन्ति वारिणा दीप्यते रविः ।
तस्मादपः पिबन् यो वै दीप्यते रविरम्बरे ॥१४२॥

अर्थात्—[अति ताप के कारण] असह्य किरणों वाला सूर्य, पीता हुआ जल को किरणों से। हरिता नाम वाली रश्मियां उस की हैं। उन में से सात रश्मियों में से दीप्ति होती है।[1] १३६। पुनः ही वे रश्मियां लौटती हैं, व्याप्त करती हुई सूर्य-मण्डल रूपी वन को शनैः-शनैः। भूमि का काष्ठ-इन्धन का तेज अत्यधिक और वार-वार जलों से ही दीप्त होता है। १४०। इस लिए उदक जो सूर्य का हो जाता है, अति तपा हुआ कहा जाता है। नहीं विना वृष्टि तपता है सूर्य, नहीं विना वृष्टि परिवेष (=गोल घेरा) बनाता है। १४१। वारि से दीप्त होता है सूर्य इस लिए आपः को पीते हुए दीप्त होता है रवि आकाश में।

अति ताप— पूर्व उद्धृत १४१ श्लोक में सूर्य के अति ताप का एक कारण सूर्यगत उदक का अति तपना कहा है। उदक का यह अति तपन मरुतों आदि के कारण प्रतीत होता है। इसका हमने अभी तक अधिक अध्ययन नहीं किया।

दूसरा कारण, देव-स्थान—आपः के अतिरिक्त सूर्य-ताप का दूसरा कारण सूर्य में देव-वास भी है। पहले पृ० २०२ पर जैमिनि-ब्राह्मण के प्रमाण से लिख चुके हैं कि सूर्य में सारे देव (=प्राण) निवास लेते हैं। उनका सूर्य-ताप से जो सम्बन्ध है, उसके विषय में मैत्रायणी संहिता का प्रवचन है—

ते [देवाः] वा अमुष्मिन्नादित्ये प्रियास्तन्वः संन्यदधत। तस्मादेष तेजिष्ठं तपति। ३।७।१०॥

१. देखो, दुर्गवृत्ति ४।२७—अथवा सप्त चक्र (ऋ० १।१६४।१२) आदित्यः। स हि सप्तभिः रश्मिभिः चकते दीप्यते।

अर्थात्—उन देवों ने निश्चय उस आदित्य में प्रिय-शरीर भले प्रकार रखे। इस कारण यह [सूर्य] तेज-युक्त तपता है।

देवों के प्रिय-शरीर क्या हैं, इस पर गवेषणा की आवश्यकता है।

रश्मियां भौतिक हैं—आदित्य रश्मियां वायु, अग्निः और आपः के योग का फल हैं। वायु आदि भूत हैं, अतः रश्मियां भी भौतिक हैं। ताप और प्रकाश इन रश्मियों की माया है। अतः ताप और प्रकाश भौतिक (material) हैं। इनका रहस्य रश्मियों और पार्थिव तथा अन्तरिक्षस्थ अग्नि के अन्योऽन्य प्रवेश का फल है। इसीलिए ऋग्वेद १।७१।२ के भाष्य में आचार्य स्कन्द स्वामी लिखता है—

अहश्च आदित्यश्च रश्मयश्च अग्निप्रसादेन केतुं प्रज्ञानं प्रकाशरूपतां लब्धवन्त इत्यर्थः।[1]

अर्थात्—दिन, सूर्य और रश्मियां अग्निः की कृपा से प्रकाशपन को प्राप्त करती हैं।

यहां परस्पर-अनुप्रवेश का नियम काम करता है। वायु पु० अ० ५० में लिखा है—

उदितस्तु पुनः सूर्यो ह्यस्तमाग्नेयमाविशत्।
संयुक्तो वह्निना सूर्यस्ततः स तपते दिवा ॥११३॥
प्राकाश्यं च तथोष्णं च सूर्याग्नेयौ च तेजसी।
परस्परानुप्रवेशाद् आप्यायेते दिवानिशम् ॥११४॥

प्रश्न होता है कि क्या पवमान अथवा पावक अग्नि के परमाणु सूर्य तक पहुंचते हैं। ऋग्वेद इसका उत्तर एक आग्नेय सूक्त में देता है—

महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः। १।३६।३॥

अर्थात्—महान् तेरी होती हुई विशेष चलती हैं ज्वालाएं। द्युः लोक में छूती हैं, दीप्तियों को।

पाश्चात्य अध्येताओं की कठिनाई—पञ्च महाभूतों के अस्तित्व

---

१. तथा देखो, पूर्व पृ० १५०।

को न मान कर योरोप कठिनाई में पड़ा है। वह प्रकाश के रहस्य को सुलझा नहीं सका। तदर्थ कहा जाता है—

But the actual mechanism by which the atom radiates light and by which light is propagated through space remains one of nature's supreme mysteries.[1]

अर्थात्—जिस प्रकार अणु प्रकाश का मोक्ष करता है, और जिस प्रकार शून्य में प्रकाश विस्तृत होता है, यह प्रकृति का परम रहस्य है।

स्मरण रहे कि प्रकृति के घेरे के अन्दर कोई शून्य नहीं है। और प्रकाश भौतिक रश्मियों द्वारा छन्दों में चलता है। इसमें मरुत और वायु का साहाय्य होता है।

प्रकाश के स्वरूप पर योरोपीय मत—इस विषय में अगले उद्धरण देखने योग्य हैं—

(a) The fundamental question—is light waves or is it particles ?—has never been answered.[2]

(b) So it makes no practical difference whether individual electrons are particles or systems of waves.[3]

(c) He knows that electricity is not a fluid, and he knows that such pictorial concepts as "waves" and "particles", while serving as guideposts to new discovery, must not be accepted as accurate representations of reality.[4]

अर्थात्—प्रकाश की तरंगें हैं अथवा कण।

विज्ञान का काम दोनों प्रकार से चलता है। चाहे अणुओं को कण मान लो, अथवा तरङ्गों का प्रकार।

तरङ्गों और कणों की भावना पूर्ण सत्य का प्रकाश नहीं करती।

---

1. The Universe And Dr. Einstein, p. I9.
2. The Universe And Dr. Einstein, p. 30.
3. Ibid, p. 32.
4. Ibid, p. 39.

इनके साथ पूर्व पृष्ठ १२५ पर प्रकाश की गति के विषय में आईन-स्टाईन का मत भी देखना चाहिए।

आर्य-विचार—प्रकाश का प्रसार रश्मियों द्वारा होता है। ये रश्मियां कण-समूहों का परिणाम हैं, और इनकी गति छन्दों में होती है।

रश्मिकर्म—कपिष्ठल संहिता का पाठ है—

देवरथो वा एष यज्ञः। तस्यैतौ रश्मी यद् उपांश्वन्तर्यामौ। देवरथस्यैव पुरस्ताद् रश्मी विहरति। संवत्सरस्य क्लृप्त्यै स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै। तामनुकृतिं मनुष्यरथस्य रश्मी विह्रियेते। ४२।१॥

अर्थात्—देवरथ निश्चय यह [आकाश तथा द्यु-लोक का] यज्ञ [है]। उस यज्ञ की ये दो रश्मियां, जो उपांशु और अन्तर्याम [हैं]।[1] देवरथ के ही आगे दोनों रश्मियां चलती हैं। संवत्सर की समर्थता के लिए। स्वर्ग-लोक के प्रज्ञान के लिए। उसकी अनुकृति से मनुष्य [पृथिवी पर के] रथ की दोनों रश्मियां व्यवहार में लाई जाती हैं।

ये रश्मियां सूर्य के रथ के आगे-आगे रहती हैं।

मयूखों द्वारा पृथिवी धारण—ऋ० ७।९९।३ का मन्त्रभाग है—

दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः।

अर्थात्—धारण किया पृथिवी को चारों ओर से किरणों द्वारा।

ये किरणें मरुतों के साथ मिलकर वैद्युत-प्रभाव उत्पन्न करती हैं। इस प्रभाव से मिली हुई चुम्बकीय शक्ति पृथिवी के अन्दर के लोह भाग में वही प्रभाव उत्पन्न करके पृथिवी को दृढ़ रखती है।

विरश्मि-सूर्य—अद्भुत सागर में वृद्ध-गर्ग का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—

कांस्यपात्रीनिभः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते।
विरश्मिर्नभसो मध्ये महद्भयकरः स्मृतः॥ पृ० २५।

---

१. **देखो, कपिष्ठल ४२।३—**

प्राण उपांशुः। अपानोऽन्तर्यामः।

अर्थात्—कांस्यपात्री के सदृश सूर्य [जब] चन्द्रमा के समान दिखाई देता है। तथा रश्मि-रहित आकाश के बीच [हो तो] महान् भयंकर माना गया है।

यह रश्मि-रहितता किस प्रकार की और कब होती है, यह मेरी समझ में नहीं आया।

रुच अथवा दीप्ति-रहित सूर्य—बहुत पहले कोई ऐसा काल था, जब सूर्य रोचन-रहित था। इस विषय में तैत्तिरीय संहिता में निम्नलिखित वचन हैं—

(क) **असावादित्यो न व्यरोचत। तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्मा एतां दश-ऋषभामालभन्त। तयैवाऽस्मिन् रुचमदधुः।** २।१।४॥

(ख) **असावादित्यो न व्यरोचत। तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्मा एतां सौरीं श्वेतां वशामालभन्त। तयैवास्मिन् रुचमदधुः।** २।१।८॥

(ग) **असावादित्यो न व्यरोचत। तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्मा एतं सोमारौद्रं चरुं निरवपन् तेनैवास्मिन् रुचमदधुः** ।२।२।१०॥

(घ) **असावादित्यो न व्यरोचत। स प्रजापतिमुपाधावत्। तस्मा एतमेकविंशरात्रं प्रायच्छत्। तमाहरत्। तेनायजत। ततो वै सो ऽरोचत।** ७।३।१०॥

अर्थात्—वह आदित्य नहीं दीप्ति-युक्त था। उसके लिए देवों ने प्रायश्चित्त की इच्छा की। उसके लिए देवों ने—

दश ऋषभा, को,
सौरी श्वेता वशा को,
सोमारौद्र चरु को,

तथा प्रजापति ने—

एकविंशरात्र को, दिया। इनसे उस आदित्य में रोचन धरा।

इसी विषय में जैमिनीय ब्राह्मण में प्रवचन है—

(ङ) नैदाघीये वै मासि प्रजापतिः—आदित्याय रुचं प्राय—च्छत्। तस्मादेष नैदाघीये मासि बलिष्टं तपति। २।३४२॥

अर्थात—नैदाघ ही मास में प्रजापति ने आदित्य के लिए दीप्ति दी। इस कारण नैदाघ मास में [यह आदित्य] बल के साथ तपता है।

पूर्वोक्त पांच प्रवचनों से ज्ञात होता है कि देवों और प्रजापति ने आदित्य में रुच को धारण कराया। इससे यह भी स्पष्ट है कि उससे पूर्व यह रुच आदित्य में नहीं था। अथवा लुप्त हुआ था। रुच रहित आदित्य की क्या अवस्था थी। वह अवस्था कितना-काल पर्यन्त रही। यह ज्ञान भी वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हो सकता है। देव-उत्पत्ति के पश्चात् ही पृथिवी, ग्रहों और नक्षत्रों आदि का यथार्थ और निरन्तर रहने वाला पारस्परिक स्थैर्य हुआ है।

जब अभी आदित्य का पारस्परिक स्थैर्य नहीं था, तब मासों का प्रादुर्भाव नहीं था। पुनः जै० ब्रा० में क्यों कहा है कि रुच-धारण नैदाघ मास में हुआ। यह समस्या भावी अध्ययन से सुलझेगी।

संभव है, मास भी सूर्य-त्वक् पर कोई स्थान-विशेष हों, उनकी गति किसी विशेष चक्र में हो और तदनुकूल रश्मियाँ मास बनाती हों और फिर पृथिवी पर विभिन्न आग्नेय योगों से ऋतुओं की लीला होती है।

पूर्वोक्त (क) प्रवचन की विस्तृत व्याख्या मैत्रायणी संहिता में मिलती है। यथा—

असौ वा आदित्यः-तेजोभिः- व्यार्ध्यत। ततः इदं सर्वं तमोऽभवत्। स प्रजापतिरेतान् दश ऋषभान् अपश्यत्। अथो आहुः इन्द्रोऽपश्यदिति। तान् ऐन्द्रानालभत। तैरस्मिन्निन्द्रियाणि वीर्याण्याप्त्वा-ऽदधात्। यल्ललामा आलभ्यन्त मुखतो ऽस्मिन् तैस्तेजोऽदधात्। यत्-शितिककुद उपरिष्टात् तैः यत्-श्वेतानूकाशाः पश्चात् तैः। ततो वा असा आदित्यः सर्वतः-तेजस्वी-

अभवत् । २।५।१०॥

अर्थात्—वह निश्चय आदित्य तेजों से विगत-ऋद्धि वाला हो गया। तत्पश्चात् यह सब तम (=अन्धकार मय) हुआ। उस प्रजापति ने इन दश ऋषभों को देखा। पुनः [ब्रह्मवादी ऐसा भी] कहते हैं। इन्द्र ने [इन दश ऋषभों को] देखा। उन इन्द्रदृष्ट को आलम्भन (=स्पर्श) किया। उन [ऋषभों] के द्वारा इस [आदित्य] में इन्द्रियों को वीर्यों को प्राप्त करके रख दिया। जो ललामा (=सुन्दर चिह्न) आलम्भन किए गए मुख से इस [आदित्य] में, उन ललामों से तेज को रखा। जो काले-ककुदों का [आलम्भन किया] ऊपर से उनके द्वारा [तेज को रखा]। जो श्वेत-अनूकाशों का [आलम्भन किया] पीछे से उनके द्वारा [तेज को रखा]। इस कारण वह आदित्य सब ओर से तेजस्वी हुआ।

तैत्तिरीय संहिता के पूर्वोद्धृत (क) वचन में दश ऋषभा स्त्रीलिङ्ग वाची प्रयोग है और यहाँ मै० सं० के वचन में दश ऋषभ पुल्लिङ्ग प्रयोग है। ये दश ऋषभ वैज्ञानिक प्रयोग में किस संज्ञा के द्योतक हैं, यह हम नहीं जान पाए। वायव्य पशुओं में एक ऋषभ भी है। ये ऋषभ सम्भवतः दश की संख्या में रहते हैं। इन्हीं के कारण आदित्य में इन्द्रियां और वीर्य रहता है। ऋषभ के विभिन्न भाग ललाम, शितिककुद और श्वेत-अनूकाश हैं। उन्हीं से आदित्य तेजोमय है।

तै० सं० के (ख) पाठ में सौरी श्वेता वशा द्वारा आदित्य में रुच के आधान का उल्लेख है। (ग) पाठ में सोमारौद्र चरु का कथन है और (घ) पाठ में एकविंशरात्र का वर्णन है।

इन सब वचनों से ज्ञात होता है कि दश ऋषभा अथवा दश ऋषभ, सौरी श्वेता वशा, सोमारौद्र चरु तथा एकविंशरात्र के द्वारा सूर्य में रुच रखा गया। इस रुच के रखने में अग्नि और देवों का साहाय्य था।

इनमें से एकविंशरात्र किसी यज्ञ का भाग है। शेष अन्तरिक्षस्थ पदार्थ हैं। सोमारौद्र चरु सोम और रुद्र-विषयक चरु (=यज्ञ सामग्री)

है। रुद्र भी अन्तरिक्ष स्थानी है। अतः स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि सूर्य में रुच का आधान अधिकतर अन्तरिक्षस्थ पदार्थों द्वारा हुआ है।

सूर्य रुच का मूल—सूर्य रुच का मूल-स्रोत क्या है, इस विषय में यजुर्वेद अ० १३ के दो मन्त्र-भाग हैं—

याास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।२२।

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु वा रुचः।२३।

अर्थात्—सूर्य में अग्निः और देवों के रुच हैं। ये रुच रश्मियों द्वारा विस्तार करते हैं। देव आपः और प्राण आदि के रूप हैं। वे प्राण भी सूर्य में तेज का कारण हैं।

योरोपीय-ज्ञान की कठिनाई—योरोपीय विज्ञान-जिज्ञासु अन्तरिक्ष को प्रायः शून्य मानते हैं, अतः वे इस देव चक्र को अधिक नहीं समझ पाये।

सूर्यमण्डल में सप्त-गण

सूर्य-मण्डल अथवा सूर्य-रथ में सात गण निवास करते हैं। ये प्रति मास बदलते हैं।

१. चैत्र=मधुमास में धाता, क्रतुस्थला, पुलस्त्य, वासुकिः, रथकृतः, हेतिः, तुम्बुरु[1]।

२. (वैशाख)=माधवमास में अर्यमा, पुलहः, रथौजाः, पुञ्जिकस्थला, प्रहेतिः, कच्छनीरः, नारद।

३. (ज्येष्ठ)=शुचिः मास में मित्रः, अत्रिः[2], तक्षकः, रक्षः पौरुषेयः, मेनका, हाहा।

४. (आषाढ़)=शुक्रमास में वरुण, वसिष्ठ, रम्भा, सहजन्या, हूहू, बुधः, रथचित्रः।

५. (श्रावण)=नभस मास में इन्द्र, विश्वावसुः, स्रोतः, एलापत्र, अङ्गिरा, प्रम्लोचा, सर्पः।

---

१. सूर्य में दैवी तुम्बुरु है। एक मानुषी तुम्बुरु इतिहास में हुआ। उसने तम्बूरा वाद्य निकाला। २. स्वर्भानु व प्रसारित तमः नाशक।

६. (भाद्रपद)=मास में विवस्वान्, उग्रसेन, भृगुः, आपूरण, अनुम्लोचा, शङ्खपाल, व्याघ्रः ।

७. (आश्वयुज) मास में पूषा, सुरुचि, धाता, गौतम, धनञ्जय, सुषेण, घृताची ।

८. (कार्तिक) मास में विभावसु, भरद्वाज, पर्जन्य, ऐरावत, विश्वाची, सेनजित्, आपः (राक्षस) ।

९. (मार्गशीर्ष) मास में अंशु, काश्यप, तार्क्ष्य, महापद्म, उर्वशी, चित्रसेन, विद्युत् ।

१०. (पौष) मास में क्रतुः, भगः, ऊर्णायुः, स्फूर्जः, कर्कोटकः, अरिष्टनेमिः, पूर्वचित्तिः ।

११. (माघ) मास में त्वष्टा, जमदग्निः, कम्बल, तिलोत्तमा, ब्रह्मापेत, ऋतजित्, धृतराष्ट्रः ।

१२. (फाल्गुन) मास में विष्णु, अश्वतरः, रम्भा,[1] सूर्यवर्चा, सत्यजित्, विश्वामित्र, यज्ञापेत ।

इन सात गणों में मुनि, गन्धर्व, अप्सरा, निशाचर, पन्नग, यक्ष और बालखिल्य हैं । अतः इनका वर्णन करने के पश्चात् विष्णु पुराण २।१० में लिखा है—

स्तुवन्ति मुनयः सूर्यं गन्धर्वैर्गीयते पुरः ।
नृत्यन्तोऽप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः ॥१९॥
वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभीषु संग्रहः ।
बालखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य समासते ॥२०॥
सोऽयं सप्तगणः[2] सूर्यमण्डले मुनिसत्तम ।
हिम-उष्ण-वारिवृष्टिनां हेतुत्वे समयं गताः ॥२१॥[3]

अर्थात्—मुनि स्तुति करते हैं । गन्धर्व गीत गाते हैं । ये दिव्यगीत भी छन्द उत्पन्न करते हैं । अप्सराएँ नाचती हुई जाती हैं । ये कम्प-

१. ये पृथिवी की लोकया अप्सराएं नहीं हैं ।
२. यहाँ पाठ टूटा है । ३. वायु अ० ५२ में सारा प्रकरण ।

विशेष उत्पन्न करती हैं। मण्डल के पश्चात् भाग में राक्षस हैं। सर्प इस मण्डल के सर्पण का कारण हैं। यक्ष रश्मि-संग्रह कर रहे हैं। और बालखिल्य चारों ओर से घेरते हैं। वही यह सप्तगण, सूर्यमण्डल में हिम, उष्ण और वृष्टि-सर्जन का हेतु हैं। इन सब का परस्पर समय (=सन्धि नियम बन्धा) है।

वेद में सूर्य-रश्मियों में सर्प—इन पन्नगों अथवा सर्पों का यजुर्वेद अ० १३ में स्पष्ट उल्लेख है। यथा—

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यो सर्पेभ्यो नमः ॥८॥

अर्थात्—जो निश्चय ये रुच में द्यौ के, तथा सूर्य की रश्मियों में, जिन का आपः में स्थान किया गया है, उन सर्पों के लिए नमः [है]।

हिम-उष्ण और वृष्टि हेतु—विष्णु पुराण का मत ऊपर उद्धृत किया गया है कि ये सप्त गण ही हिम, उष्ण और वृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इससे पूर्व पृ० २१३-२२३ पर पुराण के प्रमाण से लिखा गया है कि सूर्य की सहस्र रश्मियों के ४००, ३०० और ३०० के तीन भेद ही वृष्टि, हिम और घर्म का सृजन करते हैं। हिमसर्जन सूर्य एकाकी रह कर करता है, अथवा चन्द्र की सहायता से, यह भी विचारणीय है। ब्रह्माण्ड पु० का निम्नलिखित श्लोकार्ध है—

सूर्यादुष्णं निस्रवते सोमाच्छीतं प्रवर्तते। पू० भा० २।२२।२०॥

इस श्लोक में रात्रि की ठण्डक का कथन है, अथवा हिम-प्रवर्तन का भी, यह हमें स्पष्ट नहीं। इन सात गणों का इन तीन भेदों से सम्बन्ध हमारे भविष्य के अध्ययन का विषय होगा।

प्रशीत—यजुर्वेद १७।५ मन्त्र है—

हिमस्य त्वा जरायुणाऽग्ने परि व्ययामसि।
पावको अस्मभ्यं शिवो भव॥

इस मन्त्र में पावक अग्निः अर्थात् मध्यस्थानी अग्निः का वर्णन

है। इसमें हिम के जरायु का कथन है। इस पर शतपथ में प्रवचन है—

यद्वै शीतस्य प्रशीतं तद्ध हिमस्य जरायुः। ६।१।२।२६॥

अर्थात्—जो निश्चय शीत का परम शीत रूप है; वह हिम का जरायु है।

शीत का प्रशीत क्या होता है। वह किस मात्रा (डिगरी) तक पहुँचता है। वह हिम का जरायु कैसे बनता है। ये प्रश्न विचारणीय हैं।

सूर्य ताप एकरस नहीं—इस भूमि पर सूर्य-ताप की न्यूनाधिकता का कारण सूर्य-मण्डल में ताप का न्यूनाधिक्य है। इसीलिए ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रवचन है—

तस्माद् यथर्तु-आदित्यस्तपति। १०।७।५॥

अर्थात्—अतः ऋतु-अनुसार आदित्य तपता है। सप्त-गण मास मास में इस ताप में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं।

इस माया का व्यापार कैसे चलता है, यह गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात हो सकता है।

पाश्चात्यों की कठिनाई—सूर्य ही हिम सर्जन का कारण है, यह पाश्चात्यों के लिए आश्चर्यकर है। उन्होंने हिमसर्जन का यथार्थ कारण अभी ढूँढा नहीं। इमैनूएल वेलीकोव्सकी ने लिखा है—

Neither the cause of ice ages nor the cause of the retreat of the icy desert is hnown; the time of these retreats is also a matter of speculation.[1]

अर्थात्—पृथिवी पर हिम-युगों का कारण, अथवा पृथिवी पृष्ठ से हिम के विस्तृत क्षेत्रों के संकुचित होने का कारण ये दोनों अज्ञात हैं। भूपृष्ठ से हिम-संकोच का काल भी कल्पना का ही विषय है।

निस्सन्देह जो ज्ञान वेद में है, वह अन्यत्र नहीं है।

सप्त गण आपः का रूपान्तर—विष्णु पुराण के इसी प्रकरण में सप्त गणों के कर्म अथवा व्यापार का कथन करते हुए कहा है—

---

1. Worlds in Collision, p. 33.

यदि सप्तगणो वारि हिमम् उष्णञ्च वर्षति।
तत् किमत्र रवेर्येन वृष्टिः सूर्याद् इतीर्य्यते ॥१।१४।४॥

अर्थात्—यदि सात गणों में [रूपान्तरित] आपः हिम और उष्ण को बरसाता है, तो क्या यहाँ सूर्य का [काम है], जिससे वृष्टिः सूर्य से [होती है] यह कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त सात गण आपः का ही रूपान्तर हैं। वस्तुतः आपः की महती महिमा है।

मन्त्रों में ऋषि आदि—पूर्व-लिखित प्रकरण में सूर्य में ऋषियों, गन्धर्वों, अप्सराओं और यक्षों आदि का अस्तित्व कह दिया है। ये ऋषि आदि ही मन्त्रों में बहुधा उल्लिखित हैं। इनसे सर्वथा पृथक् पर इन्हीं नामों को धारण करने वाले मानुष अथवा लौकिक ऋषि आदि भी हुए हैं। लौकिक ऋषि आदिकों का वर्णन वेद में नहीं है। जिस प्रकार पूर्व पृ० २११-१२ पर अग्निः तत्त्व के पुत्र, पौत्रों का उल्लेख है, उसी प्रकार इन प्राण-रूप ऋषियों के भी पुत्र आदिकों का वर्णन मन्त्रों में है। अतः इन दिव्य ऋषियों को लौकिक मानना और तदनुकूल वेद-मन्त्रों में इतिहास ढूँढना राथ-प्रभृति वर्तमान पाश्चात्य लेखकों और तदनुयायी एतद् देशीय, अल्पबुद्धि अध्यापकों की कोरी कल्पना है।

सूर्य का भूमि के समीप आना और पुनः दूर-गमन

पूर्व पृष्ठ २०६-२०९ पर सूर्य-भूमि का सामीप्य लिख चुके हैं। सामवेद के प्रथम मन्त्र में वीतये पद से, सूर्य के दूर-गमन का भगवान् याज्ञवल्क्य-प्रदिष्ट प्रकार भी वहीं लिख चुके हैं। अब इससे आगे सुनिए। तित्तिरि मुनि का प्रवचन है—

आदित्यो वा अस्मात् लोकाद् अमुं लोकमैत्। सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकम् अभ्यध्यायत्। स इमं लोकमागत्य मृत्योः अबिभेत्। मृत्युसंयुत इव ह्ययं लोकः। सोऽमन्यतेमामेवाग्निं स्तवानि स मा स्तुतः सुवर्गं लोकं गमयिष्यतीति। सोऽग्निम् अस्तौत्। सो एवं स्तुतः सुवर्गं लोकम् अगमयत्। तै० सं० १।५।९॥

अर्थात्—आदित्य निश्चय इस लोक से उस लोक को गया। उसने उस लोक को जाकर पुनः इस लोक का ध्यान किया। वह इस [पृथिवी] लोक को आकर मृत्यु से डरा। मृत्यु से युक्त के समान निश्चय यह लोक [है], उसने माना। इस ही अग्निः की स्तुति करता हूँ। वह [अग्निः] मुझे स्तुति किया गया सुवर्ग लोक को पहुँचा देगा। उस [आदित्यने] अग्निः की स्तुति की। वह [अग्निः] इस प्रकार स्तुति किया गया [उस आदित्य को] सुवर्ग लोक को ले जाया गया।

परे गए हुए आदित्य को किन शक्तियों ने पृथिवी की ओर धकेल दिया। यह जानना चाहिए। एक बात सत्य है। अभी लोक-दृंहण-करी दिशाएँ उत्पन्न नहीं हुई थीं। दिशाओं की उत्पत्ति चन्द्र के साथ चतुर्थ सृजन में हुई है।[1] अतः सूर्य आदि में स्थिरता नहीं आई थी। तब अग्निः के प्रभाव से हिलने वाला अन्तरिक्ष एक बार पुनः विस्तृत हुआ। तब वायव्य और आग्नेय प्रभाव से सूर्य सुवर्ग-लोक में पहुँचा।

मृत्यु का कारण—देव अमर हो गए। द्युः लोक में अमरत्व है। कारण, उनमें विद्युत् के प्रभाव-विशेष हैं। पृथिवी मण्डल में वे प्रभाव नहीं हैं, अतः यह मर्त्य-लोक है। सूर्य में पृथिवी की समीपता के कारण मर्त्यत्व रहता, अतः सूर्य इस लोक के पास नहीं रहा।

स्वर्ग-लोक-गमन में छन्द साह्य—आदित्य के स्वर्ग-लोक-गमन में अग्निः के साथ छन्दों का भी साह्य था। ताण्ड्य ब्राह्मण का प्रवचन है—

छन्दोभिर्वै देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमहरन्। स नाध्रियत। तं वैराजस्य निधनेन अदृꣳहन्। तस्मात् पराङ् चार्वाङ् च-आदित्यस्तपति पराङ् चार्वाङ् चेकारः ।१२।१०।६।।

अर्थात्—छन्द [रूपी अश्वों] से देव आदित्य को स्वर्ग लोक को लाए। वह [वहाँ] दृढ़ नहीं हुआ। उस [आदित्य] को वैराज

---

१. यह अगले अध्याय में लिखेंगे।

[साम] के अन्त से [देवों ने] दृढ़ किया। इसलिए परली ओर तथा इस ओर आदित्य तपता है। परली ओर तथा इस ओर ई-कार [है]।

टिप्पण—वैराज-निधन चतुर्थ-दिन का है। उसका निधन ईकार में है।

आश्चर्य है कि ताण्ड्य-ब्राह्मण के प्रवचन-काल में ब्राह्मी-लिपि में ईकार का लेख-चिह्न वर्तमान देवनागरी लिपि के सदृश ही ऊपर और नीचे, दोनों ओर था। उस काल में भारत में लिपि-ज्ञान विद्यमान था।

छन्द अर्थात् अश्व—आदित्य का रथ स्वचक्र में प्रतिष्ठित उसके अश्वों से चलता है। ये अश्व छन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। विष्णु पुराण द्वितीयांश का पाठ है—

हयाश्च सप्त छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु।
गायत्री च बृहत्युष्णिक् जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप् पंक्तिरित्युक्ता श्छन्दांसि हरयो रवेः ॥८।७॥

अर्थात्—सूर्य के सात अश्व गायत्री आदि सात छन्द हैं। ऐसा भाव ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग, में भी है—

छन्दोभिर्वाजिरूपैस्तु यतश्चक्रं ततः स्थितैः।२२।६५।
सप्ताश्वरूपा श्छन्दांसि वहन्ते वामतो धुरम्।२२।७१।
ये अश्व आपः परमाणुओं से बने हैं।

सूर्य गति—आचार्य सायण, दूरे अर्थः तरणिर्भ्राजमानः, तै० ब्रा० २।८।७। ५१ के पाठ के अर्थ में लिखता है—

पुराणे स्मर्यते—

योजनानां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने।
एकेन निमिषार्धेन क्रममाणो नमोऽस्तु ते॥

अर्थात्—२२०२ योजन ½ निमेष में सूर्य का प्रसर्पण होता है। योजन कहीं दो क्रोश का और कहीं चार क्रोश का होता है। यदि ४ क्रोश का लें, तो २२०२×४=८८०८ क्रोश बने। प्राचीन कालमान

की एक गणना के अनुसार १ प्राण के ४ सैकण्ड (seconds) हैं।[1] अतः १ सैकण्ड के ¼ प्राण अथवा २½ त्रुटि हैं। तथा ½ निमेष में ¼ त्रुटि है। इस प्रकार ½ निमेष में $\frac{1}{10}$ सैकण्ड बनता है।

योजन के विषय में मोनियर विलियम्स के संस्कृत-आङ्गल कोश में लिखा है—

Yojana, sometimes regarded as equal to 4 or 5 English miles, but more correctly=4 Krośas, or about 9 miles; according to other calculations=2½ English miles, and according to some=8 Kroś'as.

पुराण की यह गणना किस क्रोश के अनुकूल है, यह अन्वेषण योग्य है। तथा च यह भी अन्वेषण योग्य है कि यह श्लोक सूर्य विषयक है, अथवा सूर्य की रश्मियों की गति से सम्बन्ध रखता है।

आदित्य और सविता नाम के कारण

पुराण में निम्नलिखित दो श्लोक मिलते हैं—

दिव्यानां पार्थिवानां च नैशानां चैव सर्वशः ॥२९॥
आदानात् नित्यम् आदित्यः तमसां तेजसां महान्।
सुवति-स्यन्दनार्थश्च धातुरेष विभाव्यते ॥ ३० ॥
सवनात् तेजसोऽपां च तेनासौ सविता मतः ॥ ३१ ॥
वायु पुराण ५०।६६ के पाठान्तर। ब्रह्माण्ड, पू० भा० २४।
७५।७६ ॥

अर्थात्—दिव्य, पार्थिव और निशा में होने वाले (संभवतः अन्तरिक्ष के अलोक भाग में होने वाले तमों और तेजों को सर्व प्रकार से सदा ग्रहण करने से आदित्य [कहाता है]। तथा तेज और आपः के बहाने से सविता माना जाता है।

सूर्य तमः का ग्रहण करता है। पन्नग और राक्षस तमः का अंश हैं। सूर्य उनको लेता है। और तेजः का आदान आग्नेय परमाणुओं तथा

---

१. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ १४६, १५०।

दिव्य आपः अथवा अदृष्ट-आपः परमाणुओं का आदान है। इनको लेकर सूर्य पुनः आपः और रश्मि तेज को अपने से बहाता है।

वैद्युत-प्रभाव की माया—जैसा पूर्व पृ० पर लिख चुके हैं, यदि वायु के षष्ठ मार्ग में अदृष्ट आपः कण वैद्युत (electrical) प्रभाव ग्रहण न करते, तो वे इस विचित्र ताप-माया में काम न कर सकते। यह वैद्युत-प्रभाव परिणाम उत्पन्न करके ताप का प्रधान कारण बनता है।

परिणाम का लक्षण—इस माया को समझने के लिए परिणाम का यथार्थ भाव समझना आवश्यक है। युक्तिदीपिका में एक पुरातन श्लोक उद्धृत है—

जहद् धर्मान्तरं पूर्वम् उपादत्ते यदापरम्।
तत्त्वाद् अप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते॥ पृ० ६०।

अर्थात्—त्यागता है गुणान्तर पहले को, ले लेता है जब अपर गुण को, [परन्तु] अपने मूल तत्व से गिरता नहीं वह पदार्थ, परिणाम [यह गुणान्तर ग्रहण] कहा जाता है।

निस्सन्देह अदृष्ट वायु, अग्नि और आपः के कण परिणाम को प्राप्त हुए सूर्य-त्वक् पर गिर कर चोट पहुँचाते हैं, अथवा मरुतों आदि की सहायता से सूर्य में भी परिणाम को प्राप्त करते हैं, तब ताप की सृष्टि होती है।

पाश्चात्य लेखक और ताप-उत्पत्ति—पश्चिम में ताप (heat) को energy माना है।[1] भारतीय ग्रन्थों में ताप अग्निः (पार्थिव, वैद्युत) का गुण है। energy संज्ञा अधिक अच्छी नहीं है। इस energy उत्पत्ति के चार कारण माने जाते हैं। यथा—१. रगड़ (friction), २. रासायनिक परिणाम (chemical change), ३. वैद्युत-प्रवाह (electrical current in electrical conductors), ४. सूर्य और कुछ पार्थिव धातुएँ (certain minerals in the earth).[2]

1. F. Oldham, General Physics, p. 167.
2. Ibid, p. 118.

सूर्य-ताप—सूर्य-ताप के कारण केवल दो माने जाते हैं। किसी प्रकार का ज्वलन अथवा सूर्य पर कोई पतन। पतन का कारण पाश्चात्यों को सन्तोष-प्रद नहीं जंचा। अन्त में परमाणुओं का अन्तः ज्वलन (subatomic burning) कारण मान लिया गया है।

पश्चिमीय वैज्ञानिकों का तर्क सत्य के समीप आ रहा है। हाँ, उनका energy मानने का भाव ठीक नहीं। energy वायु का चेष्टा-कर्म है, तथा ताप (heat energy) आग्नेय परमाणुओं के कारण है। तथापि यह सत्य है कि पश्चिम के सतत असाधारण परिश्रम के कारण वे लोग सत्य के समीप जा रहे हैं।[1]

भारतीय सिद्धान्त—मानव शरीर की अन्तःक्रिया समझने से भारतीय सिद्धान्त शीघ्र स्पष्ट हो जाता है। काष्ठ-गत अग्निः में ताप-गुण विद्यमान है, पर वह गुण ज्वलन से पूरा प्रकाशित होता है। मानव शरीर में ताप है, इसमें किसी को सन्देह नहीं। यह ताप आपः परमाणुओं के कारण व्यक्त होता है। सम्पूर्ण भोजनों से सामग्री-प्राप्त आपः परमाणु शरीर में काम करते हैं। वे ही शरीर-ताप को उत्पन्न करते हैं। इसी को पहले पृ० ६५-६६ पर जाठर अग्निः के नाम से लिख चुके हैं। सूर्य अग्निः और उसका ताप इस अग्निः से साम्य रखता है। सूर्य में आपः परमाणु पहुँच कर यह लीला दिखाते हैं। वैज्ञानिक को ध्यान रखना चाहिए कि वैद्युत, जाठर और सौर अग्नियां अपां गर्भा हैं।

सूर्य-स्थित आपः को अमृत नाम दिया है। यह पहले पृ० २०२ पर जै० ब्रा० २।६२ के प्रमाण से लिखा गया है। ऋग्वेद का मन्त्र भी यही कहता है—**आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्।१०।८५।२०॥**

अर्थात्—चढ़ो सूर्य में, अमृत=दिव्य उदक के लोक को।

यास्क इस मन्त्र की व्याख्या करता हुआ निरुक्त १२।८ में अमृत का अर्थ उदक करता है।

---

१. **तुलना करो**—matter and energy are indistinguishable. (Uni. Dr. Ein.), p. 16. **तथा पूर्व पृष्ठ १९४, ९५।**

देव चक्र का कारण—तीन लोकों और चतुर्थ-लोक दिशाओं के बीच मरुत-चक्र चल रहे हैं। इन्हीं के बीच देव-चक्र भी चल रहा है। उसी देव-चक्र के कारण आपः परमाणु सूर्य तक पहुँचते हैं। उसी के कारण पृथिवी पर वृष्टि आती है। ये चक्र किन नियमों के अन्तर्गत चल रहे हैं, इनका अभी मुझे ज्ञान नहीं। इतना आभास अवश्य मिल रहा है कि विद्युत्-प्रभाव का इसमें बड़ा भाग है।

यहाँ प्रश्न होता है, सूर्य और पृथिवी का ही समझौता क्यों हुआ। यही समझौता चन्द्र अथवा ग्रहों के साथ पृथिवी का क्यों नहीं हुआ। पृथिवी के आपः कण इस विस्तृत अन्तरिक्ष में से होते हुए, सूर्य की ओर ही क्यों जाते हैं। इस देव-चक्र में कौन से महान् नियम काम कर रहे हैं, यह जानना चाहिए। एक तथ्य कुछ स्पष्ट है। मरुद्गणों का चक्र सूर्य तक चलता है। वे ही आपः कणों को उधर ले जाते हैं।

वैद्युत- अग्निः रगड़ अथवा पतन का फल—विद्युत् विशेष रगड़ से उत्पन्न होती है, और पतन से भी। पतन का सिद्धान्त जल से बिजली उत्पन्न करने में बरता गया है। अन्तरिक्षस्थ वैद्युत अग्निः कैसे उत्पन्न होता है, इसका कारण भी जानना चाहिए।

सूर्य मण्डल—वायु पुराण अ० ५० का श्लोक है—

घनतेजोमयं शुक्लं मण्डलं भास्करस्य तु। ६६ के पश्चात् ३४।

द्वादश अध्याय

चन्द्र—चतुर्थ सृजन

प्रजापति पुरुष से सर्वप्रथम भूमि उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् अन्तरिक्ष और उसे के वयांसि और मरुत: आदि उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उसी प्रजापति के मूर्धा से आदित्य जन्मा। आदित्य अभी प्रकाश और उष्णता का पूरा पुञ्ज नहीं बना था। वह सूर्य के रूप में नहीं था। अभी पृथिवी आदि की गतियां स्थिर नहीं हुई थीं।

आदित्य से चन्द्रोत्पत्ति—आदित्य से चन्द्र का सृजन हुआ। यह चतुर्थ सृजन था। यदि आदित्य सूर्य बन गया होता, तो उससे निकलने वाला चन्द्र उष्ण गुण युक्त होता। अस्तु।

चन्द्र की उत्पत्ति के विषय में यज्ञ के चयन-प्रकरण में, जहां उत्पत्ति का चित्र उपस्थित किया जाता है, माध्यन्दिन मुनि का प्रवचन है—

सोऽकामयत। भूय एव स्यात्। प्रजायेतेति। स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्। तत आण्डं समवर्तत। तद् अभ्यमृशत्। रेतो बिभृहीति। ततश्चन्द्रमाऽसृज्यत। एष वै रेत:। अथ यदश्र संक्षरितमासीत्, तानि नक्षत्राण्यभवन्। अथ य कपाले रसो लिप्त आसीत् ता अवान्तरदिशोऽभवन्। अथ यत् कपालमासीत् ता दिशोऽभवन्। शत० ६।१।२।४॥

अर्थात्—उस [प्रजापति ने] कामना की। अधिक ही [यह आदित्य] होवे। प्रजा उत्पन्न करे। उसने आदित्य द्वारा दिव से मिथुन सम्बन्ध जोड़ा। उससे अण्ड में होने वाला जन्मा। [प्रजापति ने] उस

[आण्ड को] बल से छुआ।[1] [तथा कहा] रेत को धारण कर। उससे चन्द्रमा सृजत हुआ। यह ही रेत है। तब जो अश्रु बहा, वे नक्षत्र बने। फिर जो कपाल में रस लिप्त था, वे अवान्तर दिशाएँ बनीं। फिर जो कपाल था, वे दिशाएँ बनीं।

यही सत्य पुराणों ने ब्राह्मण ग्रन्थों से ग्रहण किया। यथा, वायु पुराण में लिखा है—

ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसंभवाः। ५०।६६॥५३।२८॥

अर्थात्—नक्षत्र, चन्द्र और ग्रह, सारे जानने चाहिएँ, सूर्य से उत्पन्न।

वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान में चन्द्रोत्पत्ति पृथिवी से मानी जाती है। इसकी विवेचना आगे करेंगे।

चन्द्र जन्म—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग में लिखा है—

शीतरश्मिः समुत्पन्नः कृत्तिकासु निशाकरः॥ २।२४।१३०॥

अर्थात्—चन्द्रमा उत्पन्न हुआ कृत्तिकाओं में।

क्या उस समय नक्षत्र बन गए थे। पर इस प्रकरण के आरम्भ में उद्धृत शतपथ ब्रा० का वचन है कि चन्द्रमा के साथ ही नक्षत्र जन्म हुआ। फिर यहां कृत्तिका का क्या अर्थ है।

चन्द्र की वर्तमान अवस्था के तीन कारण

१. **आह्लाद गुण**—चन्द्रमा ने सर्वभूतगत मन से आह्लादकारी प्रकाश का गुण पाया। वेद मन्त्र कहता है—

चन्द्रमा मनसो जातः। ऋ १०।६।१०॥

अर्थात्—चन्द्रमा का चन्द्रत्व=आह्लादकारी गुण [प्रजापति के व्यापक] मन से उत्पन्न हुआ।

इस वैदिक तत्त्व की व्याख्या महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३५४ में है। नर-नारायण नारद से कहते हैं—

---

१. आण्ड प्रजापति के समीप था। तभी प्रजापति ने उसे छुआ।

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतगतं मनः।
चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥११॥

अर्थात्—उस देव से सर्वभूतगत मन उठता है। चन्द्रमा जिस [मन] से युक्त होकर प्रकाशगुणधारी [बनता है।]

यही व्याख्या अन्यत्र मिलती है—

अथ यत्तन्मन आसीत् स चन्द्रमा अभवत्। जै० उ० २।२।२॥

अर्थात्—तब जो वह मन था, वह चन्द्रमा हुआ।

इस मन का सयोग चन्द्रमा से कैसे हुआ, और उस व्यापक मन का संयोग चन्द्रमा में क्या परिणाम उत्पन्न करता है, यह विज्ञान अभी हम समझ नहीं पाए।

२. **चन्द्रमा और सोम**—शतपथ ब्राह्मण का कथन है, चन्द्रमा सौम्य है—**चन्द्रमा सौम्यः।** श० १।६।३।२४॥

इसी तथ्य का स्पष्टीकरण शतपथ में आगे है—

इन्द्रः तं (वृत्रं) द्वेधा अन्वभिनत्तस्य सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकार। अथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्। श० १।६।३।१७॥

अर्थात्—इन्द्र ने उस [महान् मेघ=nebulae] को दो भागों में भेदा। उसका सोम से आया न्यक्त=सुसज्जित [रूप] था, उसको चन्द्रमा बनाया।

इसी की व्याख्या अन्यत्र है—

अथ एष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः ।श० १।६।४।१३, १८॥

अर्थात्—फिर यह ही वृत्र है, जो चन्द्रमा।

वृत्र (nebulae) की निर्माण-सामग्री वही है, जो चन्द्रमा है।

३. **चन्द्रमा और पृथिवी का अनामृत—देवा ह वै संग्रामं सन्निधास्यन्तः। ते होचुः। हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तत् चन्द्रमसि निदधामहै। तदेतत् चन्द्रमसि कृष्णम्।**

श० १।३।३।१८, १९॥

अर्थात्—देव निश्चय ही संग्राम को कर रहे थे। वे बोले। जो इसके लिए, पृथिवी के लिए अनामृत देवयजन [है], वह चन्द्रमा में रख देते हैं। वह यह चन्द्रमा में कृष्ण [द्रव्य] है।

टिप्पण—दिव्य आप: और सोम अमृत हैं। ये पृथिवी की त्वचा पर ही अत्यल्प हैं। पृथिवी के अन्दर अथवा गर्भ-भाग में ये नहीं हैं। अतः वह भाग अनामृत है। वही अनामृत पृथिवी-भाग चन्द्र में उस समय गया, जब चन्द्र पृथिवी के अति समीप, छुई जाने की दूरी पर था।

उस समय देव-जन्म हो चुका था। उन देवों द्वारा कोई माया घटी, जिसके कारण पृथिवी का वह पिघला भाग चन्द्र की ओर उड़कर गया। चन्द्र का वही कृष्ण भाग अब ज्वाला उगलने वाले मृत-मुखों (craters) के रूप में दिव्य चक्षु (telescope) द्वारा देखा जाता है।

वस्तुतः चन्द्र की मूल सामग्री में पार्थिव-भाग नहीं था।

चन्द्रोत्पत्ति विषयक पाश्चात्य समस्या

चन्द्रोत्पत्ति के विषय में पाश्चात्य लेखकों का सर्वमान्य मत है कि चन्द्र की उत्पत्ति पृथिवी से हुई। इस विषय पर लिखते हुए चार्लस डारविन के पुत्र जार्ज एच० डार्विन का मत जार्ज गेमो लिखता है—

The separation of the Moon from the parent body of the Earth took place during a comparatively late stage of evolution,[1]

अर्थात्—चन्द्र पृथिवी से पृथक् हुआ।

इस मत के विपरीत दूसरा मत अचिरकाल हुआ प्रकट किया गया है।

इमेनुएल वेलीकोव्सकी लिखता है—

The problem of the origin of the moon can be regarded as disturbing to the tidal theory. Being smaller than the

1. Biography of the Earth, p. 43.

earth, the moon completed earlier the process of cooling and shrinking, and the lunar volcanoes had already ceased to be active. It is assumed that the moon possesses a higher specific weight than the earth. (Worlds in Collision, p. 23.)

It is assumed that the moon was produced from the superficial layers of the earth's body, which are rich in light silicon. (ibid, p. 23.)

but since the specific weight of the moon is greater than that of the larger planets and smaller than that of the earth, it would seem to be more in accord with the theory that the earth was born of the moon, despite its smallness. (ibid, p. 25.)

अर्थात्—यह मान लिया जाता है कि चन्द्र का specific weight (भार) पृथिवी के इस भार से अधिक है।

पर क्योंकि चन्द्र का specific भार बृहद्ग्रहों के भार से अधिक और पृथिवी के भार से न्यून है, अतः यह मानना अधिक युक्त होगा, कि पृथिवी चन्द्र से निकली। चन्द्र का स्वल्पाकार इसमें बाधा नहीं।

भारतीय तत्त्व—वस्तुतः न तो चन्द्र पृथिवी से जन्मा और न पृथिवी चन्द्र से जन्मी। चन्द्र निस्सन्देह आपः पुञ्ज (अम्मय) है और आपः के गम्भीरतम स्थान[1] से निकला है। वस्तुतः सूर्य से उत्पन्न ग्रह आदि ही सूर्य-रश्मियों को मूर्छित (reflect) करते हैं।

अब इसी तथ्य को प्रकट करने वाले अन्य वचन भी लिखे जाते हैं।

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—

यदिदं दिवो यददः पृथिव्याः।
संजज्ञाने रोदसी संबभूवतुः॥ १।२।१।४॥

अर्थात्—जो यह [भूमिस्थ ऊष रूप, वह][2] द्यु लोक का [है]।

---

१. देखो, पूर्व पृष्ठ १६२।

२. देखो, पूर्व पृष्ठ १००-१०२।

जो वह [कृष्ण रूप, चन्द्रमा में ठहरा, वह] पृथिवी से [गया था]। समय किया द्यावापृथिवी ने साथ [विश्लेष-काल में]।

जब द्यावापृथिवी साथ-साथ थे, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सब पास-पास थे, तब यह समय परस्पर हुआ।

५. इसका अधिक स्पष्टीकरण अन्यत्र है। यथा—

यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं[1] श्रितम्। म० ब्रा० १।५।१३॥

अर्थात्—जो वह चन्द्रमा में कृष्ण [है], पृथिवी का हृदय[1] ठहरा [है]।

यह हृदय पृथिवी में से कैसे पृथक् हुआ। पृथिवी के अन्दर का द्रव्य किस वेग से बाहर आया। उस समय पृथिवी-त्वक् किस दशा में थी। चन्द्रमा ने किस आकर्षण से उस सामग्री को खेंचा वा ग्रहण किया। वह द्रव्य फिर पृथिवी पर क्यों नहीं लौटा। इस घटना से पूर्व पृथिवी का भार कितना था। चन्द्रमा के भार में क्या परिवर्तन हुआ। पृथिवी का कृष्ण अथवा अनामृत भाग सारे चन्द्रमा पर क्यों नहीं फैला। इससे पूर्व चन्द्र का गुरुत्व कितना था और उसकी गति कैसी थी। जब चन्द्रमा में पृथिवी का अंश है, और चन्द्र में सोम भी है, तो चन्द्र में बनस्पति है, वा नहीं। ये गम्भीर विषय स्वतन्त्र अध्ययन चाहते हैं।

चन्द्रमा में सोम था। सोम-ओषधियों का जीवन है। फिर क्या चन्द्रमा में उद्भिज पदार्थ, ओषधि, वनस्पति आदि विद्यमान हैं, यह तथ्य भी जानना चाहिए।

चन्द्र में जो ज्वालामुखी के मृतरूप हैं, और जो पृथिवी के हृदय से चन्द्र में पहुँचे। उनके विषय में पाश्चात्य मत का सारांश गेमो ने लिखा है। यथा—

There has been much speculation concerning the origin of lunar craters. One hypothesis is that they are the results of the impact of heavy meteors on the surface of

१. हृदय शब्द के अर्थ के लिए-प्रजापतेरेव हृदयेऽग्नौ सर्व०। जै०ब्रा० २।२६२॥

the Moon while still soft. The most probable explanation of these peculiar formations, however, seems to be the theory that they were produced by the gases liberated from the rocky matter of the moon during the process of its solidification.[1]

इस पर प्रश्न होता है कि क्या चन्द्र पर कभी गैसें थीं। इसके लिए वहाँ वायु मण्डल का अस्तित्व आवश्यक है। पश्चिम के अनेक विचारक चन्द्र पर वायुमण्डल नहीं मानते। अतः ये गम्भीर प्रश्न विचारणीय हैं।

भारतीय मत अधिक युक्त प्रतीत होता है। इस पर अन्वेषण आवश्यक है।

ध्यान रहे, अमरीका से सन् १९५५ में एक नया ग्रन्थ Moon निकला है। उसके लेखक का मत है कि चन्द्र पर वायु मण्डल है।

पाश्चात्य मत में चन्द्र-भूमि का सामीप्य—शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से पूर्व पृष्ठ २०७ पर यह लिखा गया है कि कभी द्यु-लोक भूमि से उन्मृश्य था। चन्द्र भी द्यु-लोक का एक अङ्ग है। वह भी निश्चय ही भूमि के अति समीप था। वह क्या, सूर्य से उत्पन्न अन्य ग्रह भी भूमि के पास ही थे।

आश्चर्य है कि यह तथ्य आईन-स्टाईन और गेमो आदि भी आंशिक रूप में समझे गए हैं। गेमो लिखता है—

In fact, it is obvious that the moon must have been revolving "almost within touch" of the Earth's surface immediately after the separation.[2]

चन्द्र शश—चन्द्रस्थ कृष्ण भाग को प्रायः शश कहते हैं। इसके सामर्थ्य का उल्लेख जै० ब्रा० में है—

एष वै शशो एषो य ऽन्तश्चन्द्रमसि। एष हीदं सर्वं शास्ति। १। २८॥

1. Biography of the Earth, p. 54, 55.
2. Biography of the Earth, p. 48.

अर्थात्—यह निश्चय शश [है], जो यह अन्दर चन्द्रमा में। यह ही इस सब पर शासन करता है।

इसी के कारण चन्द्रमा छिन्न-भिन्न नहीं होता।

अशशाङ्क चन्द्र—पराशर की अति प्राचीन संहिता से पता चलता है कि चन्द्रमा कभी-कभी शशाङ्क रहित भी हो जाता है। यथा—

खण्डः स्फटितो विवर्णो वेपनोऽशशाङ्कश्चन्द्रमा प्रजानाशाय। अद्भुत सागर, पृ० ३१ पर उद्धृत।

शशाङ्क चन्द्र का अङ्ग है। उसका नाश संभव नहीं। फिर अशशाङ्क होने का कारण यही प्रतीत होता है कि कभी-कभी चन्द्र-त्वक् अथवा चन्द्रमण्डल का चन्द्र के समीप का भाग किसी पदार्थ-विशेष से ढका जाता होगा।

चन्द्रमा तथा आपः

सूर्य-माया आपः का फल है। चन्द्रमा सूर्य से उत्पन्न हुआ। इसमें आपः की माया अवश्य होनी चाहिए। एतद्विषयक निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य हैं—

१. तैत्तिरीयों का प्रवचन है—

चन्द्रमा वा अपां पुष्पम्।[1]

अर्थात्—चन्द्रमा निश्चय आपः का पुष्प है।

ताण्ड्य ब्राह्मण १।६।८ में प्रवचन है—

अपां पुष्पमसि।

अर्थात्—[हे सोम तुम] आपः के पुष्प हो।

सोम और चन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः चन्द्रमा आपः का समूह है।

२. वायु पुराण भी इसी भाव का निर्देश करता है—

---

१. तुलना करो, निरुक्त २।६ पर दुर्ग वृत्तिः—अम्मयं हि चन्द्रमसो मण्डलम्।

महादेवो ऽमृतात्मा ऽसौ ह्यम्मयश्चन्द्रमाः[1] स्मृतः । २७।४८॥

अर्थात्—महादेव=शिव अथवा आग्नेय-परमाणुओं का एक रूप-विशेष अमृत (दिव्य आपः) परमाणुओं का आत्मा [है] वह, निश्चय आपः-मय चन्द्रमा स्मरण किया गया है।

पुनः वायु पुराण कहता है—

उदकाश्चन्द्रमाः स्मृतः ।५०।४॥

ब्रह्माण्ड पूर्व भाग २४।४ का पाठ है—

पठ्यते चाग्निरादित्य उदकं चन्द्रमाः स्मृतः ।

इसी लिए महाभारत, अनुशासन पर्व में शिव स्तोत्र में लिखा है—

नमः चन्द्रस्य पालक । २०७।३६॥

अर्थात्—नमस्कार हो हे चन्द्र के पालक [शिव, तुम्हारे लिए]।

वायु पुराण का एक वचन अभी संख्या २ के अन्तर्गत लिखा गया है। उसी प्रकरण में महादेव के आठ नामों के वर्णन में लिखा है—

नाम्ना ऽष्टमस्य महतस्तनुर्या चन्द्रमाः स्मृतः ।
पत्नी तु रोहिणी तस्य पुत्रश्चास्य बुधः स्मृतः ।२७।५६॥

अर्थात्—शिव=आग्नेय परमाणु विशेषों का जो आठवाँ तनुः है, वह चन्द्रमा स्मरण किया जाता है। उसकी पत्नी रोहिणी और पुत्र बुध ग्रह है।

यही तथ्य एक और प्रकार से भी वायु पुराण में प्रकट किया गया है। पञ्चवर्षीय युग का तीसरा वर्ष इदावत्सर माना जाता है। यह वत्सर चन्द्र विषयक है। उसका उल्लेख करते हुए कहा गया है—

शुक्लकृष्णगतिश्चापि अपां सारमयः खगः ।
स इदावत्सरः सोमः पुराणे निश्चयो मतः ॥ वा० ३१।३०॥[1]

अर्थात्—चन्द्ररूपी पक्षी शुक्ल-कृष्ण दो गतियों वाला है। इस पक्षी के दो पक्ष कृष्ण और शुक्ल हैं। यह पक्षी आपः का सारमय है।

ध्यान रहे कि किस सुन्दर प्रकार से चन्द्र को पक्षी कहा है। और

---

१. **तुलना करो, वायु पुराण ।५२।६० ॥**

पक्षी होने के कारण ही इसके दो पक्ष हैं। संभव है, चन्द्र गति पक्षि-सदृश हो।

३. प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर बृहत्संहिता में लिखता है—

नित्यमधःस्थस्येन्दोर्भाभिर्भानोः सितं भवत्यर्धम्।
स्व-छायया-अन्यदसितं कुंभस्येवातपस्थस्य॥
त्यजतो ऽर्कतलं शशिनः पश्चादवलम्बते यथा शौक्ल्यम्।
दिनकरवशात् तथेन्दोः प्रकाशते ऽधः प्रभृत्युदयः॥
सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्छितास्तमो नैशम्।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः॥४।२॥

अर्थात्—सदा नीचे ठहरे हुए चन्द्र का, सूर्य की किरणों से सफेद होता है आधा भाग, [तथा] अपनी छाया से दूसरा [अथवा परला आधा भाग] काला [अथवा अन्धकारमय होता है], घड़े का जिस प्रकार धूप में रखे का [आधा भाग अन्धकारमय होता है अपनी छाया से]।

चन्द्रमा सलिलमय है। इस कारण सूर्य-रश्मियां वहां से मूर्छित होकर रात्रि के भूमिस्थ अन्धकार को दूर करती हैं।

४. चन्द्रमण्डल, घनतोयात्मक—वायु पुराण का लेख है—

घनतोयात्मकं तत्र मण्डलं शशिनः स्मृतम्। ५०।६६ के पश्चात्। ब्रह्माण्ड पु०, पू०, भा० २।२४।७६॥

अर्थात्—घनतोयात्मक वहां मण्डल चन्द्र का स्मरण किया जाता है।

दो परिणाम—पूर्व लेखों से दो परिणाम निकलते हैं। प्रथम, चन्द्रमण्डल (moon's atmosphere) घनतोयात्मक है। घन (condensed) रूप क्या है, यह हम पूरा नहीं समझ पाए। दूसरा परिणाम है कि चन्द्रमा अप्मय है।

पूर्व पृष्ठ १२२ पर लिखा है कि पृथिवी मण्डल के गिर्द घनतोय, उससे परे घनतेज, तथा उसके बाहर तिर्यग् और ऊर्ध्व घनवात है।

इसके विपरीत चन्द्रमण्डल घनतोयात्मक मात्र है। तथा भास्कर-मण्डल घनतेजोमय शुक्र है।

इन मण्डलों का सूक्ष्म भेद विज्ञान के रहस्यों से भरा पड़ा है।

पाश्चात्य मत—इसके विपरीत वर्तमान पाश्चात्य मत है—

(a) It is quite certain that the Moon is a waterless world. Oceans, lakes and rivers would be clearly seen if they existed and at times they would reflect the sunlight and appear intensely bright. No clouds ever veil the Moon's surface. This is merely what we should expect if, as we have concluded, the Moon has no atmosphere. If there were any water on the Moon it would rapidly evaporate during the heat of the long lunar day and the water-vapour would be dissipated away into space.[1]

(b) It is well known that the moon has no water.[2]

अर्थात्—यह निश्चित है कि चन्द्र उदक रहित है।

पाश्चात्य मत में उदक के ठोस, द्रव और गैस इन तीन रूपों के अतिरिक्त और कोई रूप नहीं हैं।

भारतीय मत का अभिप्राय हमने समझना है।

पृथिवी-मण्डल के गिर्द घनतोय के बाहर घनतेज है। और पृथिवी अग्निगर्भा है। इस आग्नेय योग से जल का धूम बनता रहता है। प्रतीत होता है, इस आग्नेय प्रभाव का चन्द्र में वैसा योग नहीं। अतः वहां धूम का सृजन नहीं होता। सूर्य की सब रश्मियां सुषुम्णा को छोड़ चन्द्र में अन्तर्हित होकर नष्ट हो जाती हैं।

मैंने यह सुझाव-मात्र रखा है। पर इस विषय पर पूरा अन्वेषण आवश्यक है।

---

1. H. Spencer Jones, Life on other Worlds, p. 72.
2. G. Gamow, Biography of the Earth, p. 53.

चन्द्र दीप्तिः

सूर्य से—हमारे तीनों लोकों में आदित्य ही दीप्ति का पुञ्ज है। आदित्य से उत्पन्न होने वाले चन्द्र और ग्रह दीप्ति अथवा प्रकाश रहित हैं। ये सब अपने जन्म-दाता सूर्य की दीप्ति से न्यूनाधिक चमकते हैं।

उत्पलकृत बृहज्जा० टीका पृ० ३ पर सूर्य सिद्धान्त का श्लोक है—

तेजसां गोलकः सूर्यो ग्रहर्क्षाण्यम्बुगोलकाः।
प्रभावन्तो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मिप्रदीपिताः॥ अदभुतसागर

अर्थात्—ग्रह और नक्षत्र अम्बुगोलक हैं, ये प्रभा-युक्त दिखाई देते हैं, सूर्य रश्मियों से प्रदीप्त होकर। वायु पुराण अ० ५३ का भी लेख है—

आदित्यरश्मिसंयोगात् संप्रकाशात्मिका स्मृताः। ६१।

इस विषय में वायु पुराण अ० ५२ के श्लोक हैं—

सोमस्य शुक्लपक्षादौ भास्करे पुरतः स्थिते॥
आपूर्यते पुरस्यान्तः सततं दिवसक्रमात्॥५५॥
देवैः पीतं क्षये सोममाप्याययति नित्यदा।
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः॥५६॥
आपूरयन् सुषुम्नेन भागं भागमहः क्रमात्।
सुषुम्नाप्यायमानस्य शुक्ला वर्धन्ति वै कलाः॥५७॥[1]

अर्थात्—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष के आदि से सूर्य के सामने रहता है। वह भरा जाता है निरन्तर दिन-दिन के क्रम से। देव पीते हैं [इस] घर में सोम को, [तब] बढ़ता है सदा। सूर्य एक रश्मि से १५ दिन पीता है और सुषुम्ना से पूर्ण करता है [चन्द्र को]।

सहस्र रश्मियों में से केवल एक रश्मि सुषुम्ना ही चन्द्र को अलंकृत करती है, यह तथ्य ऋषियों ने वेद के आश्रय से जाना। वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान में इस रहस्य का अभी आभास भी नहीं आया।

---

१. **चान्द्र कलाओं का ह्रास-वृद्धि वायु पुराण, अ० ५६ के पितृ वर्णन में देखिये।**

वायु पुराण अ० ५२ में इससे पहले भी लिखा है—

प्रीणाति देवान् अमृतेन सूर्यः सोमं सुषुम्नेन विवर्धयित्वा ।३७।

अर्थात्—तृप्त करता है देवों को अमृत से सूर्य, सोम को सुषुम्ना से बढ़ा कर।

तथा वायु पुराण अ० ५३ में भी कथन है—

सुषुम्नः सूर्यरश्मिस्तु क्षीणं शशिनमेधयन्।
तिर्यगूर्ध्वप्रचारोऽसौ सुषुम्नः परिकीर्त्यते ॥४६॥

अर्थात्—सुषुम्न [नामक] सूर्यरश्मि [कृष्ण पक्ष में] क्षीण चन्द्र को बढ़ाता हुआ, तिरछा और ऊपर को फैलने वाला सुषुम्न कहा जाता है।

पुनः वहीं लिखा है—

एवं सूर्यस्य वीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः।
दृश्यते पौर्णमास्यां वै शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः ॥५६।३०॥

अर्थात्—सूर्य के वीर्य से चन्द्र का बढ़ता है शरीर।

यह तथ्य पुराणों ने वेद और ब्राह्मणों से लिया है। याजुष वाजसनेय संहिता का मन्त्र है—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिः—चन्द्रमा गन्धर्वः। १८।४०॥

अर्थात्—सुषुम्णः सूर्यरश्मिः [है, तथा] चन्द्रमा गन्धर्व [है]।

इस पर निरुक्त २।६ में यास्क (विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व) लिखता है—अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते।............। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति।

अर्थात्—तब इस [आदित्य] की एक रश्मि चन्द्रमा के प्रति दीप्त होती है। आदित्य से इसकी दीप्ति होती है।

शतपथ का प्रवचन है—

सुषुम्ण इति।[1] सुषुम्निय इति-एतत् सूर्यरश्मिरिति। सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः। ९।४।१।९॥

इस विषय में यास्क निरुक्त ४।२५ में एक और मन्त्र लिखता है—

१. व्याडिः—सुषुम्णाद्याश्च नाड्योऽस्य पुष्णन्ति सततं ग्रहान्।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥

अर्थात्—यहाँ ही सुषुम्णः [गोः=रश्मि के] नाम=नमन [reflection] को माना, त्वष्टा अथवा आदित्य की अपीच्यम्=भिची[1] हुई [अन्य रश्मियों ने]। इस प्रकार वहाँ चन्द्रमा के मण्डल में।

यास्कानुसार अपीच्यम् के चार अर्थ हैं—

अपचितम्। अपगतम्। अपिहितम्। अन्तर्हितं वा।

अलग रखी। अलग हुई। ढकी हुई। अथवा अन्दर रखी हुई।

सूर्य-किरणों की ये चार अवस्थाएँ चन्द्र में हो जाती हैं।

टिप्पण—विभिन्न रश्मियाँ अलग कैसे हो जाती हैं, वे चन्द्र मण्डल में अन्तर्हित (absorb) कैसे हो जाती हैं, चन्द्र मण्डल में क्या सामग्री है, जो अन्य रश्मियों को खा जाती है, यह अन्वेषण योग्य है। रश्मियाँ भौतिक हैं, जब चन्द्रमण्डल उन्हें अन्तर्हित कर लेता है, तो चन्द्रमण्डल का ताप अधिक होता है वा नहीं।

स्कन्द स्वामी ऋग्वेद भाष्य में इस मन्त्र पर लिखता है—

सुषुम्नो नाम सूर्यरश्मिश्चन्द्रमसं गतः अम्मयत्वात् चन्द्रमण्डलस्य ततः प्रतिहतः सन् परावृत्य ज्योत्स्नारूपेण पृथिव्यां दीप्यते।

यहाँ रश्मि-मूर्छन के लिए प्रतिहत होकर परावर्तन शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रजेन्द्रनाथ सीलजी ने वराहमिहिर से **किरणविघट्टन**, और वात्स्यायन से **रश्मि परावर्तन** शब्द लिखे हैं।[2]

जगत् में सम्पूर्ण दीप्ति

महान् वैज्ञानिक ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य का प्रवचन है—

प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते। अग्निना वायुः। वायुना आदित्यः। आदित्येन चन्द्रमाः। चन्द्रमसा नक्षत्राणि। नक्षत्रैः विद्युत्। एतावती वै दीप्तिरस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च। शतपथ १०।६।२।११॥[3]

---

१. पंजाबी अपभ्रंश भिच्चना इस अपीच्य का विकार प्रतीत होता है।

२. पृ० ११६।

३. देखो, पूर्व पृष्ठ १३६।

अर्थात्—प्राण से अग्निः दीप्त होता है। अग्नि से वायुः। वायुः से आदित्य। आदित्य से चन्द्रमा। चन्द्रमा से नक्षत्र। नक्षत्रों से विद्युत्। इतनी ही दीप्ति इस पृथिवी लोक में और उस द्यु-लोक में।

याज्ञवल्क्य के कथन से यह स्पष्ट है कि प्राण और वायु में भेद है। प्राण (oxygen) है। इसे ही मनुष्य श्वास में अपने अन्दर खेंचते हैं। हमारे लोक का अग्निः इसी प्राण से जलता और दीप्त होता है। अग्निः से अन्तरिक्षस्थ वायु दीप्त रहता है, (पूर्व पृष्ठ १३६।) इसी के लिए वायोर्भा प्रयोग पहले पृ० १६३ पर लिखा है। वायुः से आदित्य दीप्त रहता है। अन्तरिक्षस्थ वायुः के षष्ठ मार्ग अथवा स्कन्ध में आपः कण चञ्चल और दिव्य हो जाते हैं। वायुः ही उन्हें सूर्य में ले जाकर इसे दीप्त करता है। आदित्य से चन्द्रमा दीप्त होता है। यह अभी लिख चुके हैं। चन्द्रमा से नक्षत्र दीप्त होते हैं। कैसे, यह मैं अभी नहीं कह सकता। नक्षत्रों से विद्युत् दीप्त है, यह भी पूर्ण अन्वेषण योग्य है।

इतनी ही दीप्ति इस लोक और द्युलोक में है। याज्ञवल्क्य के अनुसार द्युःलोक से परे के लोकों की दीप्ति इधर नहीं है। इसका परीक्षण भी अपेक्षित है।

रश्मीवती द्यौः—द्युलोक रश्मियों से भरा पड़ा है। वाजसनेय संहिता का मन्त्रार्ध है—

रश्मीवती भास्वतीमा या द्यां भास्यापृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्॥
१५।६३॥

इस पर शतपथ का प्रवचन है—

रश्मीवती हि द्यौर्भास्वती।

अर्थात्—रश्मियों से युक्त निश्चय द्यौः है, [इसीलिए] चमकती है।

रश्मियाँ द्यौः में कैसे रहती हैं। वे चलती फिरती हैं, वा नहीं, उनकी टक्कर द्यौः के किन-किन पदार्थों से होती है, ये विषय जानने योग्य हैं।

पाश्चात्य विचार—पाश्चात्य विचारकों ने इस विषय में कुछ सोचा है, पर अधिक स्पष्ट वे नहीं हैं। स्पैंसर जोन्स लिखता है—

The planets are cool bodies and have no intrinsic light of their own. We see a planet by means of light from the Sun that falls upon it and is reflected back. As the sunlight penetrates into the atmosphere of the planet, it is partially scattered and partially absorbed.[1]

अर्थात्—ग्रहों का अपना कोई प्रकाश नहीं। ग्रहों के दर्शन सूर्य किरणों के कारण होते हैं, जो उन पर पड़कर मूर्छित हो जाती हैं। सूर्य-प्रकाश ग्रहमण्डलों में घुसकर अंशतः बिखरता और अंशतः अन्तर्हित हो जाता है।

वह पुनः लिखता है—

Though the Moon appears very bright, its surface is actually a poor reflector ; less than ten percent of the sunlight that falls on it is reflected back the remainder being absorbed and going to heat the surface.[2]

ऋषियों ने दस प्रतिशत के स्थान में एक रश्मि का व्यापार बताकर तथ्य अधिक स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही वेदज्ञान अतीन्द्रिय है।

किरणों का मूर्छित होना वराहमिहिर ने भी लिखा है। देखो पूर्व पृष्ठ २६८ पर वराह के श्लोक।

शीत रश्मि—चन्द्रमा का एक नाम शीतरश्मि है।[3] अतः चन्द्रमा की शीतता का ज्ञान करना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह पूर्ण निश्चित होता है कि चन्द्रमा पृथिवी से उत्पन्न नहीं हुआ। परन्तु पृथिवी का जो हृदय चन्द्रमा में गया वह कितने काल में अपना ताप

1. Life on other Worlds, p. 49.
2. ibid., p. 73.
३. शीतरश्मिः समुत्पन्नः कृत्तिकासु निशाकरः, ब्र०, पू० भा०, २४।१३०॥ बृहज्जातक २।२॥

खो बैठा, यह विचारणीय है।

चन्द्र का सदा एक पार्श्व पृथिवी के सामने

यह प्रत्यक्ष है कि चन्द्र का सदा एक पार्श्व पृथिवी के सामने रहता है। इस विषय में स्पैंसर जोन्स लिखता है—

In the telescope the Moon appears as a rugged mountainous world....We are able to see only one half of the surface of the Moon, because the Moon always turns the same face towards the Earth, the other face being permanently turned away from us.[1]

यह भाव महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २०१ में पाया जाता है—

यथा हिमवतः पार्श्वे पृष्ठं चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता॥ ६॥

अर्थात्—जिस प्रकार हिमवान् के पार्श्व तथा जिस प्रकार चन्द्रमा की पीठ किसी मनुष्य ने नहीं देखी, पर इतने मात्र से ऐसा नहीं कहते कि चन्द्र की पीठ है नहीं।

ध्यान रहे कि अव्याहत-गति ऋषियों ने ये स्थान देखे थे। हाँ मनुजों ने नहीं।

चन्द्र के कारण पार्थिव समुद्रों का ह्रास-वृद्धि

पुराणों में एतद्विषयक एक अति सुन्दर सन्दर्भ है। वह आगे लिखा जाता है—विष्णुपुराण द्वितीयांश, अ० ४ का पाठ है—

पयांसि सर्वदा सर्वसमुद्रेषु समानि वै।
न्यूनातिरिक्तता तेषां कदाचिन्नैव जायते॥८९॥
स्थालीस्थम् अग्निसंयोगाद् उद्रेकि सलिलं यथा।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तम्॥९०॥
न न्यूना नातिरिक्ताश्च वर्धन्त्यापो ह्रसन्ति च।
उदयास्तमयेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः॥९१॥

1, Life on other Worlds, p. 70.

दशोत्तराणि पञ्चैव अङ्गुलीनां शतानि वै।
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने ॥६२॥

इन श्लोकों पर श्रीधरी टीका के कुछ अंश भी देखने योग्य हैं—

यथा स्थालीस्थं प्रस्थाद्रिपरिमितमेव सलिलं तीव्राग्निसंयोगाद् उद्रेकि विरलावयवं समुद्रेकयुक्तं भवति। अग्निसंयोगोपरमे च यथापूर्वं तिष्ठति तथेन्दुवृद्धौ पौर्णमास्याम् अम्भोधौ सलिलमत्यन्तम् उद्रिच्यते। अमावस्यायाञ्च यथापूर्वं तिष्ठति ॥६०॥

सार्द्धद्विचत्वारिंशद् वितस्तिपरिमितौ सामुद्रीणामपां वृद्धिक्षयौ शास्त्रतो दृष्टौ।

अर्थात्—समुद्रों के जल सदा एक सम रहते हैं। उनमें न्यूनता अथवा अतिरिक्तता कदापि नहीं होती। जिस प्रकार स्थाली का जल तीव्र अग्नि संयोग से उद्रेकि अर्थात् विरलावयव होकर ऊपर को उठता तथा अधिक स्थान घेरता है, उसी प्रकार पौर्णमासी को सामुद्री जल ऊपर को उठता है। शुक्ल कृष्ण दोनों पक्षों में उसका वृद्धि-ह्रास इस क्रम से होता है। ११५ अंगुल अथवा ४२½ वितस्ति परिमाण सामुद्री जल ऊपर उठता है।

विष्णु पुराण के पाठ से मिलते-जुलते पाठ वायु ४६।१२४—तथा मत्स्य १२३।२८—में मिलते हैं। इन सब पाठों में सामुद्री जलों का उद्रेक उल्लिखित है।

समुद्रों का जल क्यों एक समान रहता है। उसमें न्यूनाधिक्य क्यों नहीं होता। क्या जितना जल नदियां एक दिन रात में समुद्र में डालती हैं, उतना ही उतने समय में धूम बन कर उड़ जाता है। यदि ऐसा है, तो इसके अन्तर्गत क्या नियम काम कर रहा है। यह रहस्य भी किसी ग्रन्थ में मिल ही जाएगा।

पाश्चात्य मत से भेद—पाश्चात्य मत के अनुसार चन्द्र का आकर्षण जलों की वृद्धि का कारण है। परन्तु पुराणों में जल की उद्रेकावस्था का कथन है। उद्रेकावस्था अग्नि-संयोग का फल है। श्रीधर

कहता है कि उद्रेकावस्था में जल [अथवा द्रव पदार्थ] विरलावयव हो जाता है। शीतरश्मि चन्द्र से जल का उद्रेक कैसे होता है, यह मेरी समझ में नहीं आया। पर मैं इस विचार को सहसा परे नहीं फेंक सकता।

मोनियर विलियम्स उद्रेक का एक अर्थ excess (=आधिक्य) करता है। अधिकता अथवा expansion आग्नेय-योग का फल है। पर आकर्षण में अधिकता नहीं होती। अतः यह तत्त्व विचारणीय है। चन्द्र का आकर्षण क्या है, इस पर नए सिरे से विचार आवश्यक है।

अमावास्या—अमावास्या में सूर्य, चन्द्र एक राशि में एकत्र होते हैं। तब चन्द्रमा क्षीण कोश हो जाता है। महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २०१ में लिखा है—

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणाम् ॥१५॥
क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते।
तद्वन्मूर्ति-विमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते ॥१६॥
यथा कोशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः।

अर्थात्—जिस प्रकार चन्द्रमा अमावास्या में लिङ्ग-रहित होने से नहीं दीखता, पर नाश इसका नहीं होता। क्षीण कोश होने से चन्द्र नहीं प्रकाशता। दूसरी राशि को प्राप्त होकर चन्द्रमा प्रकाशित होता है पुनः।

उस समय सूर्य मानो चन्द्र को ग्रस लेता है। इसलिए ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में कहा है—

चन्द्रमा वा अमावास्याम् आदित्यम् अनुप्रविशति। ऐ० ८।२८॥
[सूर्यः] तं [चन्द्रमसं] ग्रसित्वोदेति। श० १।६।४।१८—॥

चन्द्रकान्त मणि—संस्कृत ग्रन्थों में चन्द्रकान्त मणि का बहुधा उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि (lens) सूर्य के ताप को केन्द्रित करती है, उसी प्रकार चन्द्रकान्त मणि चन्द्र के आपः-प्रभाव को केन्द्रित करके जल-बिन्दुओं को एकत्रित कर देती है। सूर्यकान्त और

चन्द्रकान्त दोनों मणियां स्फटिक के भेदों में मानी गई हैं। भोजकृत युक्तिकल्पतरु में इस विषय का विशद वर्णन है। यथा—

हिमालये सिंहले च विन्ध्याटवीतटे तथा।
स्फटिकं जायते चैव नाना रूपं समप्रभम् ॥५॥
हिमाद्रौ चन्द्रसंकाशं स्फटिकं तद् द्विधा भवेत्।
सूर्यकान्तं च तत्रैकं चन्द्रकान्तं तथापरम् ॥६॥
सूर्यांशु-स्पर्शमात्रेण वह्निं वमति यत् क्षणात्।
सूर्यकान्तं तदाख्यातं स्फटिकं रत्नवेदिभिः ॥७॥
पूर्णेन्दुकरसंस्पर्शात् अमृतं स्रवति क्षणात्।
चन्द्रकान्तं तदाख्यातं दुर्लभं तत् कलौ युगे ॥८॥

अर्थात्—हिमालय, सिंहल (लङ्का), विन्ध्य के अटवी तटों में, स्फटिक[1] उत्पन्न होता है। यह नाना रूप तथा समान प्रभा वाला होता है॥ हिमालय में उत्पन्न स्फटिक दो प्रकार का होता है। एक सूर्यकान्त, दूसरा चन्द्रकान्त॥ सूर्य-किरण के स्पर्शमात्र से जो अग्निः को तत्काल उगलता है, वह सूर्यकान्त है॥ पूर्ण चन्द्र किरण के संस्पर्श से जो तत्काल अमृत बहाता है, वह चन्द्रकान्त कहा जाता है।[2] चन्द्रकान्त दुर्लभ है कलियुग में॥

अमरकोश से एक पुराना कोश शब्दार्णव नामक वाचस्पतिकृत था। उसका निम्नलिखित पाठ हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत है—

स्फटिकास्तु त्रयस्तेषाम् आकाशस्फिटिको वरः।
द्वौ क्षीर-तैल-स्फटिकाव् आकाशस्फटिकस्य तु।
द्वौ भेदौ सूर्यकान्तश्च चन्द्रकान्तश्च तत्र च ॥इति॥ ४।१३३॥

१. स्फटिक का उल्लेख पूर्व पृ० ६७, ६८ पर हो चुका है।
मणिः शब्द बहुधा सूर्यकान्त के लिए प्रयुक्त होता है। देखो, पूर्व पृष्ठ २, तथा—यथादित्यान् मणेश्चापि वीरुद्भ्यश्चैव पावकः।

२. द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः। उत्तररामचरित, ६।१२॥

अर्थात्—स्फटिक तीन प्रकार के हैं। क्षीर स्फटिक, तैल स्फटिक, और आकाश स्फटिक। आकाश स्फटिक के दो भेद हैं, सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त।

प्रतीत होता है, चन्द्रकान्त मणि का रहस्य प्राचीन काल से यहां विदित था।

निरुक्त ७।२३ में सूर्यकान्त (आग्नेय ग्रावः)[1] के प्रभाव का कथन है—

अथादित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयम् असंस्पर्शयन् धारयति, तत्प्रादीप्यते। सोऽयमेव सम्पद्यते।

अर्थात्—अब आदित्य से [अग्निः की उत्पत्ति]। उत्तर दिशा में पहले लौटता है जब आदित्य, तब कांसे अथवा [सूर्यकान्त] मणि को शोध कर धूप के सामने जहां सूखा गोबर हो, गोबर से स्पर्श न करा के रखता है, तो गोबर जल उठता है। वह सौर अग्निः यही पार्थिव अग्निः बन जाता है।

यास्क ने उदीचि=उत्तर दिशा अथवा उत्तरायण में आदित्य के लौटने का उल्लेख करके, इस मणि के प्रभाव का क्यों वर्णन किया है, यह मेरी समझ में नहीं आया।

अब विचार होता है कि जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि में आदित्य का तेज संगृहीत होता है, क्या उसी प्रकार चन्द्रकान्त में चन्द्र का आपः प्रभाव जल बिन्दु बना देता है, अथवा पृथिवी के ऊपर होने वाले जल-कण ही जल-बिन्दु बन जाते हैं।

इसका निर्णय चन्द्रकान्त के प्राप्त होने पर किया जा सकता है। पर चन्द्रकान्त अब सुलभ नहीं।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २२० के निम्नलिखित श्लोक में अम्बुभक्षाणाम् पद विचारणीय है—

---

१. उत्तररामचरित, ६।१४॥

रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥३०॥

अम्भः रोध—काश्मीरक कल्हणकृत राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ४ में ललितादित्य और उस के मन्त्री चङ्कुण के विषय की घटना लिखी है—

रुद्धः पञ्चनदे जातु दुस्तरैः सिन्धुसंगमैः ।
तटे स्तम्भितसैन्योभूद् राजा चिन्तापरः क्षणम् ॥२४८॥
ततोम्बुतरणोपायं तस्मिन्पृच्छति मन्त्रिणः ।
अगाधेम्भसि रोध.स्थः-चंकुणो मणिमक्षिपत् ॥२४६॥
तत्प्रभावाद् द्विधाभूतं सरिन्नीरं ससैनिकः ।
उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परं पारं समासदत् ॥२५०॥
मणिमन्येन मणिना चङ्कुणोऽप्याचकर्ष तम् ।
सलिलं प्रागवस्थं च क्षणेन सरितामभूत् ॥२५१॥

अर्थात्—सिन्धु संगम पर पञ्चनद स्थान में कभी राजा ललितादित्य नदी को पार करने में अशक्त चिन्तापर था । मन्त्री चङ्कुण[1] ने नदी में एक मणि फेंकी । उसके प्रभाव से सरिता का जल दो भागों में हो गया । एक दूसरे मणि से चङ्कुण ने उस पहली मणि को खींच लिया । तब सरित जल पूर्ववत् हो गया ।

चन्द्र परिवेष—कभी-कभी चन्द्र और सूर्य के चारों ओर एक मण्डलभूत (घेरे की) अवस्था होती है । इसका कारण पराशर लिखता है—

अथ परिवेषा वात-अभ्र-रश्मिविकारसमुत्थानं चन्द्रे सूर्ये वा ।[2]

अर्थात्—परिवेष अथवा घेरा वात और अभ्र के साथ [इन्दु और

---

१. मन्त्री चङ्कुण रससिद्ध कङ्कणवर्ष का सोदर था, (२४६) । भिषग् ईशान चन्द्र चङ्कुण का साला था, (२१६) । यह ईशान आयुर्वेद की चरक संहिता का व्याख्याता प्रतीत होता है ।

२. अद्भुत सागर, पृ० २८५ पर उद्धृत ।

सूर्य के] रश्मि-विकार से चन्द्र अथवा सूर्य के गिरद उत्पन्न होता है।

ऐसे परिवेष नक्षत्र और ग्रहों के गिरद भी देखे जाते हैं। ये परिवेष विविध वर्णों के होते हैं।

भार्गव की संहिता में इस विषय का निम्नलिखित वचन है—

गृहीत्वा भूरजः सूक्ष्मवर्णं पांशुं नियम्य च।
पीडामह्नि योगेन मरुता मण्डलीकृतात्॥

भूमि का रज मरुतों द्वारा संपीडन के कारण मण्डल रूप धारण करता है।

इस वचन में मरुतों की माया का उल्लेख है।

चन्द्र-रथ तथा चन्द्राश्व

वायु पुराण का श्लोक है—

त्रिचक्रोभयपार्श्वस्थो विज्ञेयः शशिनो रथः।
अपांगर्भसमुत्पन्नो रथः साश्वः ससारथिः॥ ५२।५०॥

अर्थात्—तीन चक्र और दोनों पार्श्वों में ठहरा जानना चाहिए चन्द्र का रथ। यह रथ अपांगर्भ अर्थात् अन्तरिक्ष के पावक अग्नि के कारण उत्पन्न होता है। रथ के साथ उसके अश्व और उसका सारथि भी रहता है।

दश अश्व—वायु पुराण अ० ५।५३, ५४ तथा ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग २३।५६, ५७ में चन्द्र के दश शुक्ल घोड़े लिखे हैं। ये ही चन्द्र-रथ को आगे चलाते हैं। दोनों पुराणों में घोड़ों के नामों में कुछ पाठान्तर हो गए हैं। हमने ब्रह्माण्ड पुराणस्थ पाठान्तर कोष्ठों में दे दिए हैं।

ययुः (यजुः), त्रिमा (चण्डमना), वृषः, राजीवलः (वाजी, नरः), अश्वः, वामः (गविष्णु), तुरण्यः[1], हंसः, व्योमः तथा मृगः।

अमरसिंह के नामलिङ्गानुशासन से पूर्वकालिक व्याडि के कोश में

---

१. ब्रह्माण्ड में तुरण्यः नाम नहीं है। वहां राजीवलः के स्थान में दो नाम पढ़े गए हैं।

इन्हीं दश अश्वों के निम्नलिखित नाम पढ़े गए हैं[1]—

यजुः। चन्द्रमना (अथवा अर्वा वा त्रिधनाः)[2]। वृषः। सप्तधातुः (सहरुण्यः)[2]। हयः। वाजी। हंसः। व्योम। मृगः। नरः।

ये अश्व चन्द्रमा को द्यु के घर में चलाते हैं। सोम अथवा चन्द्र देवों तथा पितरों से घिरा चक्र काटता है। चान्द्र गति को समझने के लिए चान्द्र अश्वों, देवों और पितरों का अध्ययन आवश्यक है।

हमने अश्व नामों के पाठान्तर इसलिए दे दिए हैं, कि वैदिक वाङ्मय में भी अश्व-नाम स्मृत हैं। इस विषय का गम्भीर अध्ययन करते समय इन सब के देखने की आवश्यकता पड़ेगी।

नक्षत्र उत्पत्ति

ऋग्वेद १।२४।१० मन्त्र में ऋक्षा-वर्णन देखने योग्य है।

पूर्व सृजन—गत अध्यायों में पृथिवी, अन्तरिक्ष और आदित्य का जन्म कहा है। इस अध्याय के आरम्भ में चन्द्रोत्पत्ति का कथन हुआ है। याज्ञवल्क्य ने उत्पत्ति के सारे प्रकरण को अति विशद रूप से खोला है। उसके प्रवचन का सार निम्नलिखित है—

गर्भ	अग्निः	वायुः	आदित्य	चन्द्रमा
अश्रु	अश्व रासभ	वयांसि	अश्मापृश्निः	नक्षत्र
कपालरस	अजः	मरीचिः	रश्मयः	अवान्तर दिशा
कपाल	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौः	दिशा

इस क्रम के समझे विना वेदार्थ समझना असम्भव है। इस क्रम में अब नक्षत्र जन्म लिखा जाता है।

अश्रु से—पूर्व पृष्ठ २५६ पर उद्धृत शतपथ के वचनानुसार

१. जैन आचार्य हेमचन्द्रकृत अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका पृ० ३९ पर उद्धृत।

२. ये पाठान्तर व्याडि ने स्वयं दिए हैं।

चन्द्रमा के सृजन के साथ जो अश्रु (आपः के छोटे कण, फुहार रूप में) बहे, वे नक्षत्र बने।

व्याख्या—शतपथ के ही एक अन्य प्रकरण में नक्षत्र जन्म की कथा कही है—

प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानम्। पाप्मा मृत्युरभिपरिजघान्। स तपोऽतप्यत सहस्रं संवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्॥१॥ तस्य तपस्तेपानस्य। एभ्यो लोमगर्तेभ्य ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यायन् तद्यानि तानि ज्योतींषि-एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्त्येतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ताः। यावन्तो लोमगर्ताः तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्ताः॥२॥ श० १०।४।४॥

अर्थात्—प्रजापति को निश्चय प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए को पापी मृत्यु ने चारों ओर से मारा। उस [प्रजापति] ने तप तपा, सहस्र संवत्सर पर्यन्त, पापी को मारने की इच्छा करते हुए। उसके तप तपते हुए, इन लोमगर्तों से ऊपर ज्योतियां गईं। तो जो वे ज्योतियां, ये वे नक्षत्र। जितने ये नक्षत्र उतने लोमगर्त [हैं]। जितने लोमगर्त, उतने सहस्र संवत्सर के मुहूर्त।

नक्षत्र संख्या—शतपथ ब्राह्मण १२।३।२।५ के अनुसार एक संवत्सर में १०८०० मुहूर्त होते हैं।[1] अतः सहस्र संवत्सर में १०८००,००० मुहूर्त हैं। अतः इतने ही लोमगर्त और इतने ही नक्षत्र हैं, अर्थात् एक करोड़ आठ लाख।

तुलना करो जै० ब्रा० २।७१॥

दूसरी नक्षत्र संख्या—प्रसिद्ध नक्षत्र २७ और उप-नक्षत्र भी २७ हैं। ये एक करोड़ आठ लाख कौन से नक्षत्र हैं। शतपथ में कहा है—

तानि वा एतानि सप्तविंशतिः नक्षत्राणि।......सप्तविंशतिः ह्योपनक्षत्राणि। एकैकं नक्षत्रम् अनूपतिष्ठन्ते। श० १०।५।४।५॥

अर्थात्—२७ नक्षत्रों में से प्रत्येक के साथ एक-एक उप-नक्षत्र है।

---

१. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १५०।

द्युः लोक अलङ्करण—ऋग्वेद का मन्त्र है—

अभि······नक्षत्रेभिः पितरो द्याम् अपिंशन्। १०।६।११॥

अर्थात्—पितरों ने नक्षत्रों से द्यु-लोक को सजाया।

चन्द्र के साथ देव और पितर दोनों का सम्बन्ध है। पर इस मन्त्र से प्रतीत होता है कि नक्षत्रों के स्थान-व्यवस्थापन में पितरों का सम्बन्ध अधिक है।

यह नक्षत्र अथवा तारा गणना हमारे द्यु-लोक तक है। पाश्चात्य ज्योतिषियों ने द्यु-लोक तथा उस से अगले लोकों के ताराओं की गणना भी की है।

पाश्चात्य तारा-गणना—जार्ज गेमो लिखता है—

A more detailed study by generations of astronomers led to the conclusion that our stellar system includes about 40,000,000,000 individual stars, distributed within a lens-shaped area about 100,000 light-years in diameter and some 5000 to 10,000 light years thick[1].

अर्थात्—चालीस अरब के लगभग तारे हैं।

आर्य ऋषियों ने ताराओं और लोमगर्तों की जो गणना की है, वह गणित विद्या की सहायता से की है।

देव नक्षत्र भी—तैत्तिरीय ब्राह्मण में देव और यम दो प्रकार के नक्षत्र कहे गए हैं। यथा—

देवनक्षत्राणि वा अन्यानि। यमनक्षत्राणि वा अन्यानि। कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखे उत्तमम्। तानि देवनक्षत्राणि। अनूराधाः प्रथमम्। अपभरणीरुत्तमम्। तानि यमनक्षत्राणि। १।५।२॥ भट्ट भास्कर भाष्य सहित संस्करण, पृ० २५६।

अर्थात्—देव नक्षत्र और हैं। यम नक्षत्र और हैं। कृत्तिका से विशाखा तक देव नक्षत्र और अनुराधा से अपभरणी तक यम नक्षत्र हैं।

1. One Two Three.—Infinity, 1953, p. 266.

दोनों प्रकार के नक्षत्रों की गति—इससे आगे वहीं ब्राह्मण में लिखा है—

यानि देवनक्षत्राणि। तानि दक्षिणेन परियन्ति। यानि यमनक्षत्राणि। तान्युत्तरेण।[1] (वहीं)

अर्थात्—जो देव नक्षत्र हैं, वे दक्षिण से होते हुए [देव लोक की ओर] चक्र काटते हैं। जो यम नक्षत्र हैं, वे उत्तर की ओर से होते हुए यम लोक की ओर जाते हैं।

कृत्तिका की अन्यथा गति—परन्तु कृत्तिका की गति अन्य प्रकार की बताई गई है। इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—

एता [कृत्तिकाः] ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते। श० २।१।२।३॥

अर्थात्—ये निश्चय प्राची दिशा को नहीं चलते [खिसकते], सारे दूसरे नक्षत्र प्राची दिशा की ओर खिसकते हैं।

नक्षत्र वीथियां—नक्षत्र गतियां वीथियों के आश्रय पर हैं। विष्णु पुराण कहता है—

वीथ्याश्रयाणि ऋक्षाणि ध्रुवाधारेण वेगिना।
ह्रासवृद्धिक्रमस्तस्य रश्मीनां सवितुर्यथा॥ २।१२।२॥

अर्थात्—वीथी[2] आश्रय वाले नक्षत्र होते हैं, इनका आधार वेग-युक्त ध्रुव पर है। ह्रास-वृद्धि-क्रम उसका [वैसा है], जैसा सविता की रश्मियों का।

सूर्य की रश्मियाँ मासों के क्रम से ह्रास-वृद्धि को प्राप्त होती हैं। तदनुसार ध्रुव-गति में भेद होता है। उस पर वीथियों में नक्षत्र गतियों में भी भेद पड़ता है।

नक्षत्र और पशु सम्बन्ध—तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रवचन है—

प्रजापतिः पशून् असृजत। ते नक्षत्रं नक्षत्रम् उपातिष्ठन्त।

१. नक्षत्राणां वा एषा दिग्-यदुदीची:। ब० ब्रा० ३।१॥
२. वीथियों का उल्लेख आगे ग्रह-अध्याय में होगा।

ते समावन्त एवाभवन्। ते रेवतीमुपातिष्ठन्त ।। ते रेवत्यां प्राभवन् ।१।६।२।।

अर्थात्—प्रजापति ने पशुओं को उत्पन्न किया। वे नक्षत्र-नक्षत्र के प्रति सरके। वे उतने-उतने ही रहे, [वृद्धि को प्राप्त नहीं हुए], वे रेवती के समीप सरके। वे रेवती में प्रभूत हुए।

इस वचन में अन्तरिक्षस्थ पशुओं का कथन है। वे रेवती [नक्षत्र] के समीप वृद्धि को प्राप्त हुए, अन्य नक्षत्रों के समीप ऐसा नहीं हुआ। रेवती नक्षत्र में अन्य नक्षत्रों की अपेक्षा कौन-सा गुण है, जिस से ये पशु वृद्धि को प्राप्त हुए, यह विज्ञान का विषय है।

एक बात सत्य है। रेवती नक्षत्र पूषा का है, और पशु भी पौष्ण हैं। मै० सं० ३।१३।११ के अनुसार शबल पशु वैद्युत हैं।

नक्षत्र दीप्ति—पूर्व पृष्ठ २७२-७३ पर शतपथ के प्रमाण से लिखा गया है कि चन्द्रमा की दीप्ति से नक्षत्र दीप्त होते हैं। इसका थोड़ा सा संकेत ऋग्वेद के मन्त्र में है—

जुष्टतमासो नृतमासो अञ्जिभिर् व्यानज्रे केचिद् उस्रा इव स्तृभिः ।१।८७।१।।

अर्थात्—[ये मरुतः] प्रियतम अत्यन्त नराकार, रत्नों से युक्त [अन्तरिक्ष में] स्पष्ट दिखते हैं, जैसे कई एक [चान्द्र] रश्मियाँ नक्षत्रों से सम्बद्ध दिखती हैं।

मरुत अञ्जियों से और कई चान्द्र रश्मियाँ नक्षत्रों से दिखती हैं।

प्रश्न होता है, क्या सूर्य-रश्मियाँ सीधी नक्षत्रों तक नहीं पहुँचतीं।

सप्तर्षि कभी ऋक्षा—शतपथ का प्रवचन है—

सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरा-ऋक्षा इत्याचक्षते ।२।२।२।४।।

अर्थात्—सप्तर्षियों का पहले ऋक्षा यह नाम था। यह बात क्यों थी, इसका कारण ज्ञात हो सकेगा।

नक्षत्रों के तारा आदि—एक-एक नक्षत्र के कितने तारे, कितने संस्थान, कितने मुहूर्त योग, क्या आहार, क्या देवता, क्या गोत्र है,

इसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान, ३३ में है, (पृ० ६३६)।

तारा

नक्षत्रों का वर्णन करते हुए पूर्व २७ नक्षत्रों का कथन हो चुका है। कहीं-कहीं २८ नक्षत्र भी कहे गए हैं। पुनः ये एक करोड़ आठ लाख नक्षत्र क्या हैं। इस विषय में ताराओं का लेख आवश्यक है।

तारा जन्म—तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रवचन है—

सलिलं वा इदमन्तरासीत्। यदतरन् तत्तारकाणां तारकत्वम।१।५।२।५॥

अर्थात्—द्यावा पृथिवी के मध्य में सलिल रूप [आपः] थे। उनमें पृथिवी उद्धरण के क्षोभ से जो बुद्बुद उठे और तरने लगे, वे तारा हुए।

व्यापक सलिल में बुद्बुद कैसे थे। वे आगे तारा बने, यह अन्वेषण योग्य है। क्या ये एक करोड़ आठ लाख नक्षत्र तारा-रूप तो नहीं हैं।

एकरश्मि—ये सब ताराएँ एकरश्मि हैं। ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग का श्लोक है—

विज्ञेयास्तारकाः सर्वा अम्मयास्त्वेकरश्मयः।२४।६७॥

अर्थात्—जाननी चाहिए, ताराएँ सारी, आपः रूप और एकरश्मि। चन्द्र भी एकरश्मि है, और ये ताराएँ भी।

ताराओं का आकार—ताराओं के बृहत् और ह्रस्व आकार का उल्लेख आगे लिखते हैं—

तारानक्षत्ररूपाणि हीनानि तु परस्परात्।
शतानि पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे चैव योजने॥१०८॥
पूर्वापरनिकृष्टानि तारकामण्डलानि च।
योजनाद्यर्द्धमात्राणि तेभ्यो ह्रस्वं न विद्यते॥१०६॥

अर्थात्—ताराओं और नक्षत्रों के रूप हीन होते हैं एक-दूसरे से, ५०० योजन, ४०० योजन, ३०० योजन और दो योजन। योजन आदि भी और अर्द्ध मात्रा वाले अर्थात् आधा योजन भी हैं। इन से छोटा तारा नहीं है।

पर यह अर्थ पूरा स्पष्ट नहीं हुआ।

अवान्तर दिशाएँ

भौतिक—कपाल में जो रस लिप्त था, वे अवान्तर दिशाएँ बनीं। यह रस भौतिक द्रव्य था। अतः इससे उत्पन्न अवान्तर दिशाएँ भी भौतिक हैं। इन्हें दिशाओं के मध्य का संकेतमात्र समझना भूल है।

दिशाएँ

जिस प्रकार अवान्तर दिशाएँ भौतिक हैं, उसी प्रकार दिशाएँ भी भौतिक हैं। कपाल से ये दिशाएँ बनी हैं।

दिक्-बृंहण—लोकों के समान पहले दिशाएँ अदृढ़ थीं। वे पीछे से दृढ़ हुईं—

छन्दोभिर्देवाः स्वर्गं लोकमायन्। तेषां दिशः समव्लीयन्त। त एता दिश्या अपश्यन्। ताभिर्दिशोऽदृंहन्। कपिष्ठल ११।३॥

लोक दृंहण—दिशाओं और उपदिशाओं का उल्लेख पूर्व पृष्ठ १७१-१८३ तक हो चुका है। इन दिशाओं से लोक-दृंहण हुआ। शतपथ में प्रवचन है—

एतद्वै देवा इमांल्लोकान् उखां कृत्वा दिग्भिरदृंहन्।
दिग्भिः पर्यतन्वन् ।६।५।२।११॥

अर्थात्—यही निश्चय देवों ने इन लोकों को उखा बनाकर दिशाओं से दृढ़ किया। दिशाओं से चारों ओर फैलाया।

देवों ने पृथिवी को उखा (आग की अंगीठी) बनाया। अग्निःदेव के कारण पृथिवी अंगीठी बन रहा है। सूर्य आदि भी उखा हैं। इस सूर्य को भी अग्नि देव और शेष सब देवों ने उखा बनाया। इन उखाओं के कारण और देवों के कारण मरुत-चक्र चल रहा है। मरुत ही अन्तरिक्ष में विद्युत्-चुम्बकीय चक्र बना रहे हैं।

यह चक्र दिशाओं तक चलता है। इसी चक्र से ये लोक दृढ़ हो

रहे हैं। यह चक्र लाखों योजनों में फैला हुआ है। इसका कुछ आभास पश्चिम के वैज्ञानिकों को हो रहा है। यथा—

Although the atmosphere extends, at most, but a few hundred miles upwards, the magnetic field is appreciable upto a distance of 10,000 miles. At 400 miles, the magnetic fields intensity is about one eighth that at the surface.[1]

अर्थात्—चुम्बुकीय क्षेत्र भूमि से १०,००० मील ऊपर तक अनुभव होता है। भूमि से ४०० मील ऊपर इसका घनत्व भूमि-त्वक् से $\frac{1}{8}$ है।

वस्तुतः चुम्बुकीय क्षेत्र सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में सूर्य तक फैलता है।

दिशाओं से परे क्या है, इस पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की हम खोज कर रहे हैं।

उदीची दिक् का चमत्कार—ब्राह्मण ग्रन्थों में उदीची दिशा को रुद्र की दिशा कहा है। यथा—

(क) एषा [उदीची] ह्येतस्य देवस्य [रुद्रस्य] दिक्।

शा० १।७।३।२०॥

(ख) एषा [उदीची] वै रुद्रस्य दिक्। तै० ब्रा० १।७।८।६॥

पूर्व पृ० १७६ पर उत्तर दिशा को कौबेरी दिक् कहा है। इस उत्तर दिशा को वरुण की दिक् भी कहा है।[२] कुबेर और वरुण का इस से क्या और कितना सम्बन्ध है, यह मुझे ज्ञात नहीं हुआ। पर रुद्र के सम्बन्ध से अगली बात समझ में आती है।

उत्तर में विद्युत-द्योतन—ब्राह्मण का प्रवचन है—

अथैतस्याम् उदीच्यां दिशि भूयिष्ठं विद्योतते। ष०ब्रा० २।४॥

अर्थात्—फिर इस उदीची दिशा में बहुत अधिक विद्युत् चमकती है।

---

1. Radioactivity and Nuclear Physics, New York, p. 286, 1950.
२. तै० ब्रा० ३।८।२०।४॥

रुद्रों में आग्नेय और विद्युत् प्रभाव है। उनका किसी अन्य द्रव्य से संयोग होकर यह माया घटती है।

विश्वे देवाः—विश्वे देवाः का स्थान-विशेष दिशाओं में है। ब्राह्मणों के प्रवचन हैं। यथा—

स [प्रजापतिः] विश्वान् देवान् असृजत। तान् दिक्षु उपादधात्। श० ब्रा० ६।१।२।६॥

अर्थात्—उस प्रजापतिः ने विश्वेदेवाः को सृजा। उनको दिशाओं में स्थापित किया।

इससे आगे पुनः शतपथ में प्रवचन है—

एतद्वै विश्वे देवा वैश्वानरा एषु लोकेषु उखायाम् एतेन चतुर्थेन यजुषा दिशोऽदधुः। श० ६।५।२।६॥

अर्थात्—इन ही विश्वे देवा वैश्वानरों ने, इन लोकों में उखा (अंगीठी) में इस चतुर्थ यजु से दिशाओं को रखा।

विश्वेदेवा ही लोकों के साथ दिशाओं का सम्बन्ध बनाए हैं।

विश्वे देवा रश्मियां—गत वाक्य में विश्वे देवा का वैश्वानर रूप कहा गया है। अगले वचनों से ज्ञात होता है कि विश्वेदेवाः रश्मियाँ अथवा सूर्य-रश्मियाँ हैं। इन तथ्यों को वाजसनेयों ने समझाया है—

(क) एते वै विश्वे देवा रश्मयः। श० २।३।१।७॥

(ख) तस्य [सूर्यस्य] ये रश्मयस्ते विश्वे देवाः।

श० ४।३।१।२६॥

अर्थात्—ये विश्वेदेवा रश्मियाँ हैं।

सूर्य-रश्मियाँ किस प्रकार दिशाओं में संहत रहती हैं, यह अन्वेषण-योग्य है। निश्चय ही सायं समय अस्त होते हुए सूर्य का इन विश्वे देवाः रश्मियों से सम्बन्ध-विशेष होकर दिग्दाह की माया घटती है।[1]

बाईबिल में उत्पत्ति का चौथा दिन—यहूदी मत की प्राचीन

---

१. देखो, पूर्व पृष्ठ १७६, १८०।

पुस्तक बाईबिल मूसा के उपदेशों से युक्त है। मूसा मिश्र देश के ज्ञान से परिचित था। और मिश्र में कभी वैदिक ज्ञान का भूरि प्रचार था। मिश्र का प्रथम राजा मनु ही था। अतः मूसा-प्रदर्शित सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम टूटे-फूटे रूप में वैदिक विज्ञान पर ही आश्रित है। बाईबिल के उत्पत्ति के अध्याय में भी भूमि का सृजन सबसे प्रथम, पहले दिन माना गया है। यथा—

In the beginning God created the heaven and the earth. ...And the evening and the morning were the first day.

तत्पश्चात् अन्तरिक्ष को दूसरा दिन माना गया है। यथा—

And God said, Let there be a firmament,...And the evening and the morning were the second day.

इसके पश्चात् वहीं भूमि पर ओषधि आदि के प्रादुर्भाव को तीसरा दिन कहा है। तत्पश्चात् सूर्य और चन्द्र की उत्पत्ति लिखी है। यथा—

And God said, Let there be lights in the firmament of the heaven......

And God made two great lights......; he made the stars also.......

And the evening and the morning were the fourth day.

थोड़ा-सा भेद होने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि बाईबिल में यहाँ day (दिन) शब्द नहीं चाहिए। सम्भव है, पुराने समय में यह भूल हो गई हो। चन्द्रमा का सृजन निस्सन्देह चौथे स्थान पर है।

त्रयोदश अध्याय

ग्रह तथा धूमकेतु

उत्पत्ति—पूर्व पृष्ठ २६० पर लिखा गया है कि ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य से हुई। चन्द्रमा का सूर्य की सुषुम्णा रश्मिः से सम्बन्ध भी लिखा जा चुका है। पुनः पृष्ठ २२५ पर लिख चुके हैं कि सूर्य की एक रश्मिः हरिकेशः है। वह ऋक्षयोनिः है। अब सात प्रधान रश्मियों में से इन दो से अगली सूर्य की तीसरी रश्मिः विश्वकर्मा का वर्णन करते हैं।

१. बुध ग्रह—बुध (Mercury) को शशिज, चन्द्रज, सोमपुत्र, त्विषिपुत्र अथवा ज्ञः आदि कहा जाता है। ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, अ० २४ के अनुसार वैदिक ज्ञान के ज्ञानी बुध को नारायण भी कहते हैं। यथा—

नारायणं बुधं प्राहुर्वेदज्ञानविदो बुधः ।४६।

इस का स्पष्ट अर्थ है कि यह ग्रह चन्द्र से उत्पन्न हुआ है, साक्षात् सूर्य से नहीं। इस सम्बन्ध में एक घटना-विशेष का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्रमा का एक भाग ही सदा पृथिवी की ओर रहता है, उसी प्रकार बुध का सदा एक भाग सूर्य की ओर रहता है। यह ग्रह सूर्य के समीपतम है।

विश्वकर्मा रश्मिः—विश्वकर्मा रश्मिः का सम्बन्ध बुध ग्रह से है। वायु पुराण का श्लोकार्ध है—

दक्षिणे विश्वकर्मा तु रश्मिर्वर्धयते बुधम् ।५३।४७।।

अर्थात्—[सूर्य के] दक्षिण में विश्वकर्मा रश्मिः बढ़ाती है बुधको।

जिस प्रकार सुषुम्णा चन्द्र को बढ़ाती है, उसी प्रकार विश्वकर्मा बुध को बढ़ाती है।

तृतीय रश्मि-व्यापार—काठक संहिता में जहाँ सात प्रधान रश्मियों का व्यापार वर्णित है, वहाँ इस तृतीय रश्मि: के विषय में प्रवचन है—

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा। तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानी ग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ। दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः[1]। पौरुषेयो वधः प्रहेतिः। काठक संहिता १७।६॥
कपिष्ठल सं० २६।८॥

अर्थात्—यह दक्षिण में विश्वकर्मा। उसके रथस्वन और रथेचित्र सेनानी और ग्रामणी हैं। मेनका और सहजन्या अप्सराएँ हैं। काटने वाले पशु हेतिः हैं। परस्पर एक दूसरे पुरुष को मारना प्रहेतिः है।

इस पाठ की विशद व्याख्या शतपथ में इस प्रकार है—

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा इति। अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते। एष हीदं सर्वं करोति। तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति। तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानी ग्रामण्यौ इति। ग्रैष्मौ तावृतु। मेनका च सहजन्या च-अप्सरसौ-इति। दिक् च उपदिशा च, इति ह स्माह माहित्थिः।

श० ८।६।१।१७॥

काठक संहिता और शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोद्धृत पाठों की तुलना पूर्व पृ० २४८ पर उद्धृत सूर्य के ज्येष्ठ और आषाढ़ मास के पुराण-वर्णित सात गणों से करनी चाहिए। ये दोनों ग्रैष्म मास हैं। पुराण में ज्येष्ठ मास के गण में **पौरुषेयः** और **मेनका** तथा आषाढ़ के गण में **सहजन्या, बुधः** और **रथचित्रः** पढ़े गए हैं। शतपथ का पाठ अधिक सुरक्षित रहा है। अतः पुराण-पाठ के आषाढ़ गण में **वधः** और **रथेचित्रः** पाठ पढ़ने चाहिएँ।

---

1. **हेतिः कीला शिखा ज्वालार्चिः। अभिधान चिन्तामणिः, ४।१६८॥**

पुराण में विश्वकर्मा को रश्मिः कहा गया है। और शतपथ के इस प्रकरण में हरिकेशः को सूर्य रश्मिः, पर विश्वकर्मा को वायु कहा है। इस से दो बातें प्रतीत होती हैं। शतपथ और पुराण का या तो मत-भेद है, अथवा विश्वकर्मा रश्मिः तथा विश्वकर्मा वायु का कोई सूक्ष्म सम्बन्ध है।

विद्वान् माहित्थिः—इस से आगे शतपथ में माहित्थिः का प्रमाण दिया गया है। जिस माहित्थिः को याज्ञवल्क्य प्रमाणभूत आचार्य मानता है, उस की महत्ता निस्सन्देह बहुत अधिक होगी। उसके कथनानुसार मेनका और सहजन्या नामक अप्सराएँ दिशा और उपदिशा हैं। इस से प्रतीत होता है कि सूर्य की जिन नाड़ियों में ये अप्सराएँ अपना स्थान बनाए हैं, वे नाड़ियां दिशाओं और उप-दिशाओं तक अपना चक्र बनाती हैं। अस्तु।

बुध का रथ—जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र के रथ हैं, उसी प्रकार ग्रहों के भी रथ हैं। ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, अ० २३ का पाठ है—

तोयतेजोमयः शुभ्रः सोमपुत्रस्य वै रथः ॥८०॥
सोपासंगपताकस्तु सध्वजो मेघनिस्वनः ।८१॥

अर्थात्—जलयुक्त, तेजोमय और श्वेत वर्ण सोमपुत्र (बुध) का रथ है। इस रथ की गति से आकाश में मेघवत् शब्द निकलता है।

विष्णु पुराण का एतद्विषयक पाठ निम्नलिखित है—

वाय्वग्निद्रव्यसंभूतो रथश्चन्द्रसुतस्य च।
पिषङ्गैस्तुरगैर्युक्तः सोऽष्टाभिर्वायुवेगिभिः ॥२।१२।१६॥

अर्थात्—वायु और अग्निः के मिश्रित द्रव्य से उत्पन्न रथ है चन्द्र-सुत = बुध का। पिषङ्ग वर्ण के अश्वों से युक्त है वह, जो संख्या में आठ हैं।

रश्मि-संख्या—ब्रह्माण्ड पु०, पू० भा०, अ० २४ का पाठ है—

आप्यं श्यामं मनोज्ञस्य पञ्चरश्मेर्गृहं स्मृतम् ॥६४॥

अर्थात्—आप्य और श्याम पञ्चरश्मि बुध का स्थान है।

२. शुक्र ग्रह—शुक्र (Venus) ग्रह अति प्रसिद्ध है। शुक्र नाम का कारण सम्भवतः यह है कि इस से सूर्यस्थ शुक्र तेज बहुत अधिक मूर्छित होता है।

अन्य नाम—शुक्र को सित, उशना,[1] उशना काव्य, और भार्गव आदि भी कहते हैं। इस की उत्पत्ति में जहाँ सूर्यस्थ शुक्र का सम्बन्ध है, वहाँ भृगु-ऋषि (=प्राण) का भी सम्बन्ध है। भृगु प्राण का जन्म अर्चियों से हुआ।[2] उन अर्चि-संभव प्राणों का समावेश भार्गव में है।

उत्पत्ति—इसकी साक्षात् उत्पत्ति सूर्य की सात प्रधान रश्मियों में से चतुर्थ रश्मि विश्वश्रवा से कही गई है। यथा—

विश्वश्रवास्तु यः पश्चात् शुक्रयोनिः स्मृतो बुधैः।

वायु पु० ५३।४८॥

अर्थात्—विश्वश्रवा जो पीछे है, शुक्र ग्रह की योनिः है।

बुध की योनिः विश्वकर्मा रश्मिः से सम्बद्ध मासों से अगले दो मास श्रावण और भाद्रपद वार्षिक ऋतु के हैं। उनके विषय में शतपथ ८।६।१।१८ गत प्रवचन का अर्थ है—

अर्थात्—पश्चात् विश्वव्यचा। वह आदित्य ही विश्वव्यचा है। इसलिए—तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति।

अर्थात्—उसे पश्चात् (पश्चिम) में जाते हुए को देखते हैं।

रथप्रोत और असमरथ उसके सेनानी और ग्रामणी हैं। ये दो वार्षिक-ऋतु के [मास हैं]। प्रम्लोचन्ती और अनुम्लोचन्ती अप्सराएँ हैं। ये दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं। पर ये दोनों अहोरात्र हैं। व्याघ्राः हेतिः और सर्पाः प्रहेतिः हैं।

इस प्रवचन की तुलना पूर्व पृष्ठ २४८, ४६ पर लिखे गए पुराण

---

१. जिन मन्त्रों (ऋ० १।५१।१०,११ आदि) में उशना वर्णित है, वे अन्वेषणीय हैं।

२. बृहद्देवता, ५।९९॥

वर्णन से करनी आवश्यक है। हम इस की पूरी गहराई को समझ नहीं सके।

शुक्र के रथाश्व—इन के विषय में ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, अ० २३ के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

भार्गवस्य रथः श्रीमान् तेजसा सूर्यसन्निभः ॥८१॥
पृथिवीसंभवैर्युक्तो नाना वर्णैर्हयोत्तमैः।
श्वेतः पिशंगः सारंगो नीलः पीतो विलोहितः ॥८२॥
कृष्णश्च हरितश्चैव पृषतः पृश्निरेव च।
दशभिस्तैर्महाभागैरकृशैर्वातरंहसैः ॥८३॥

अर्थात्—भार्गव का रथ तेज से सूर्य सदृश है। इस में जो अश्व युक्त हैं, वे पृथिवी से उत्पन्न हैं। ये घोड़े दश वर्ण के हैं। दश वर्ण हैं—श्वेत, पिशंग, सारंग, नील, पीत, विलोहित, कृष्ण, हरित, पृषत और पृश्निः।[1]

अश्व वर्ण—ऋ० १।११५।३ के अनुसार सूर्य के चित्रवर्ण अश्व हरितः तथा एतग्वा अर्थात् एत वर्ण वाले हैं। चन्द्र के शुक्ल वर्ण वाले दश अश्व हैं। ये पावक अग्निः से जन्मे हैं। बुध के अश्व पिषङ्ग (=कपिल) वर्ण के हैं, और शुक्र के अश्व दश विभिन्न वर्णों के हैं। शुक्र के ये दश अश्व पृथिवी से उत्पन्न हैं। आगे लिखा जाएगा कि मंगल के अश्व अग्निसंभव हैं। सूर्य, चन्द्र, बुध, शुक्र और मंगल आदि के अश्व रश्मियों से युक्त हैं। इन्हीं रश्मियों के चित्र spectrum में आते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक spectrum की इन वर्ण रेखाओं से अनुमान करते हैं कि सूर्य आदि में क्या-क्या धातुएँ हैं। वैदिक विज्ञान

१. भार्गव शुक्र में वर्णों की विचित्रता का कथन पराशर ने भी किया है। हिम-कनक-रजत-शङ्ख-स्फटिक-वैदूर्य-मुक्ता-मधु-घृत-मेद - मांस समवपुः अच्छ—स्निग्ध-दीप-कान्तिप्रकाशः। अद्भुत सागर, पृ० १२६।

की सहायता से spectrum की रेखाओं का अभिप्राय अधिक ठीक समझ में आ सकेगा।

वर्तमान खोज—भार्गव का तेज सूर्य सदृश है, यह आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी अनुभव कर लिया है। यथा—

Venus reflects about 60 percent. of the sunlight that falls upon it.[1]

शुक्र के वर्णों का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है।

रश्मि-संख्या—ब्रह्माण्ड पु०, प० भा०, अ० २४ का लेख है—

शुक्रस्यापि-अम्मयं शुक्लं पद्मं षोडशरश्मिषु ।६५।

अर्थात्—शुक्र का स्थान अम्मय, शुक्ल अथवा पद्म, षोडश रश्मियों में है।

३. मंगल ग्रह—मंगल (Mars) को भौम, लोहिताङ्ग, अङ्गारक, सुरसेनापतिः, स्कन्द अथवा कुमार भी कहते हैं। यथा—

सुरसेनापतिः स्कन्दः पठ्यते ऽङ्गारको ग्रहः ।

ब्रह्माण्ड पु०, पूर्व भाग, २४।४८॥

उत्पत्ति—इसकी उत्पत्ति के विषय में वायु पुराण का लेख है—

संयद्वसुश्च यो रश्मिः सा योनिर्लोहितस्य तु ।५३।४८॥

अर्थात्—संयद्वसु जो रश्मिः है, यह योनिः है, मंगल की।

काठक संहिता और शतपथादि के वर्णन के साथ इस लेख की तुलना करनी चाहिए।

मंगल का रथ—मंगल के रथ के विषय में ब्रह्माण्ड का लेख है—

अष्टाश्वः काञ्चनः श्रीमान् भौमस्यापि रथोत्तमः ।
असङ्गैर्लोहितैरश्वैः सर्वगैरग्निसंभवैः ॥८४॥
प्रसर्पति कुमारो वै ऋजु-वक्र-अनुवक्रगैः ।८५।

इस का विष्णु पुराण-गत पाठ निम्नलिखित है—

---

1. Life on other Worlds, p. 102.

अष्टास्रः काञ्चनः श्रीमान् भौमस्यापि रथो महान्।
पद्मरागारुणैरश्वैः संयुक्तो वह्निसंभवैः ॥२।१२।१८॥

अर्थात्—आठ अश्वों का सुवर्ण-तुल्य, पद्मराग, अरुण अथवा लोहित वर्ण के अग्नि-से उत्पन्न अश्वों वाला भौम का रथ है।

कुमार=मंगल के अश्व ऋजु, वक्र और अनुवक्र गति में प्रसर्पण करते हैं।

मंगल ग्रह जब दिव्य चक्षु द्वारा भले प्रकार दिखता है, तो इस का रंग नारंगी के समान होता है। कई स्थान गहरे लाल भी दिखाई देते हैं। सम्भवतः इसी लिए इस को लोहिताङ्ग वा अङ्गारक कहते हैं। निस्सन्देह मंगल अङ्गार के समान है। मंगल के भौम नाम का कारण भी अध्ययन योग्य है।

रश्मि-संख्या—ब्रह्माण्ड पुराण, पू० भा० अ० २४ का लेख है—

नवरश्मेस्तु भौमस्य लोहितं स्थानम् अम्मयम् ॥६५॥

अर्थात्—मंगल की नव रश्मियां हैं। इसका स्थान लोहित और अम्मय है।

४. **बृहस्पतिः महाग्रह**—बृहस्पतिः (Jupiter) को सुराचार्य, देवाचार्य, गुरुः, आङ्गिरस, बृहत्तेज और जीव आदि कहते हैं।

उत्पत्ति—इस विषय में वायु पुराण का लेख है—

षष्ठस्त्ववर्वावसू रश्मिर्योनिस्तु स बृहस्पतेः ।५३।४६॥

अर्थात्—छठी अर्वावसु नामक रश्मिः है, वह योनिः है बृहस्पतिः की।

सुषुम्णा, हरिकेशा, विश्वकर्मा, विश्वश्रवा और संयद्वसु आदि पांच रश्मियों का वर्णन हो चुका। अब षष्ठ रश्मिः अर्वावसु का कथन हुआ है।

अङ्गारों में अङ्गिरा प्राण का जन्म हुआ था। उसी अङ्गिरा की विभूति इस आङ्गिरस में है।

ऋग्वेद में बृहस्पतिः—पुराण में बृहस्पतिः ग्रह को देवाचार्य और

आङ्गिरस कहते हैं। ऋग्वेद में भी बृहस्पतिः देव और आङ्गिरस है। अतः वेद का आङ्गिरस बृहस्पतिः ग्रह के अतिरिक्त और नहीं है। इसके विषय में ऋग्वेद का मन्त्र है—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यः तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥
४।५०।४॥

अर्थात्—बृहस्पतिः पहले उत्पन्न होता हुआ, महान् ज्योतिः से, परम व्योम में, सात मुख वाला, उच्च जन्म वाला, शब्द के साथ, सात रश्मियों से उसने परे फूँक दिया अन्धकारों को।

रश्मि संख्या—इस ऋग्वेदीय मन्त्र में बृहस्पतिः को सात मुख वाला और सप्त-रश्मि कहा है। पुराण में स्पष्ट रूप से इसकी रश्मियों का उल्लेख नहीं है। इसके बारह अंशों का उल्लेख तो है। यथा—

हरिद्राभ्यं बृहत्स्थानं द्वादशांशैर्बृहस्पतेः[1] । ब्र० पु०, पू० भा०, २४।६६।

बृहस्पतिः का रथ—विष्णु पुराण का श्लोक है—

अष्टाभिः पाण्डरैर्युक्तो वाजिभिः काञ्चनो रथः।
तस्मिंस्तिष्ठति वर्षान्ते राशौ राशौ बृहस्पतिः ॥२।१२।१६॥

अर्थात्—आठ पाण्डर अश्व बृहस्पतिः ग्रह के रथ के हैं। उस रथ में वर्षा के चार मास के अन्त में बृहस्पतिः ठहरता है। और प्रति मास एक-एक राशि बदलता है।

ब्रह्माण्ड के अनुसार विद्वान् बृहस्पतिः के आठ अश्व, गौर वर्ण, आपः से उत्पन्न हैं। यह बृहस्पतिः एक अब्द एक नक्षत्र के साथ ठहरता है—

नक्षत्रे ऽब्दं स तिष्ठन् वै संवेधास्तेन गच्छति।[2] ब्र०पु०, प० भा० २३।८७॥

---

१. द्वादशार्चिः। अभिधान चिन्तामणि, २।३२॥

२. तुलना करो—सपादम् ऋक्षद्वयम् अब्देन प्रविचरन्। अद्भुत सागर, पृ० १११ पर पराशर संहिता से उद्धृत।

आजि में प्रतियोगिता—एक वार देवों में दौड़ लगी। उनकी प्रतियोगिता की परीक्षा हुई। बृहस्पतिः उसमें सफल हुआ। इस घटना का विचित्र चित्र शतपथ ब्राह्मण के आगे उद्धृत प्रवचन में है—

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो ऽसुरा अतिमानेनैव—कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति—स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः। ते ऽतिमानेनैव पराबभूवुः।·············॥१॥ अथ देवाः। अन्यो ऽन्य-स्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः। तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ। यज्ञो हैषामास। यज्ञो हि देवानामन्नम्। ते होचुः। कस्य न इदं भविष्यतीति। ते मम मम इत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुः। ते हासम्पाद्योचुः। आजिमेव—अस्मिन् अजामहै। स यो न उज्जेष्यति, तस्य न इदं भविष्यतीति। तथेति। तस्मिन् आजिम् आजन्त। स बृहस्पतिः। सवितारमेव प्रसवायोपा-धावत्। सविता वै देवानां प्रसविता। इदं मे प्रसुव। त्वत् प्रसूत इदम् उज्जयानीति। तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्। तत् सवितृप्रसूत उदजयत्। स इदं सर्वमभवत्। प्रजापति ह्युदजयत्। सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः। तेनेष्ट्वा एतामेवोद्ध्र्वां दिशम् उदक्रामत्। तस्माद् यश्च वेद यश्च न एषोद्ध्र्वा बहस्पतेर्दिग इत्येवाहुः।

श० ५।१।१।१—४॥

अर्थात्—देव और निश्चय असुर दोनों प्रजापतिः के पुत्र परस्पर स्पर्धा करने लगे। तब असुर, अतिमान (अभिमान) से ही, किस में हम हवि दें, अपने-अपने मुखों में हवि देते हुए रहने लगे। वे अतिमान से ही हार गए।

फिर देव एक-दूसरे में ही हवि देते हुए रहने लगे। उनके लिए प्रजापति (हिरण्यगर्भ, यज्ञरूप पुरुष) ने अपने आपको दे दिया। (प्रजा-पति के कारण) यज्ञ इन (देवों का) हुआ। यज्ञ ही देवों का अन्न है। वे (देव) बोले। किसका यह होगा। वे मेरा, मेरा, यह कहते हुए निर्णय पर न पहुँचे। वे निर्णय पर न पहुँच कर बोले। दौड़ ही इस विषय पर दौड़ें। वह जो हममें से जीतेगा, उसका यह होगा, ऐसा हो।

उसमें दौड़ दौड़े। वह बृहस्पतिः सविता (मध्यम स्थानी) को ही प्रसव (शक्ति) के लिए गया। सविता ही देवों को जन्म और शक्ति देता है। (बृहस्पति ने कहा) दौड़ की शक्ति मुझ में उत्पन्न करो। तुझ से शक्ति दिया गया इस (दौड़) को जीतूँ। तो उस (बृहस्पति) के लिए सविता प्रसविता ने शक्ति दी। तो सविता से दत्त-शक्ति जीत गया।[1] वह इन सब के ऊपर हो गया। प्रजापति को भी उसने जीता।

यह सत्य है कि ग्रहों में बृहस्पतिः की गति सबसे अधिक है।

इसी आजि का सुन्दर वर्णन जै० ब्रा० २।१२८ में भी है।

मन्त्रों और ब्राह्मणों में इस ग्रह का विस्तृत वर्णन है। उसमें से पृथिवी विषयक एक सन्दर्भ आगे लिखा जाता है।

पृथिवी और बृहस्पति का परस्पर भय—शतपथ का प्रवचन है—

बृहस्पतेर्ह वा ऽ अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयांचकार। महद्वा ऽयमभूद् यो ऽभ्यषेचि। यद्वै मायं नावद्दृणीयादिति। बृहस्पतिर्ह पृथिव्यै बिभयांचकार। यद्वै मेयं नावधून्वीतेति। तदनयैवैतान्मित्रधेयमकुरुत। श० ५।२।१।१८॥

अर्थात्—बृहस्पतिः के अभिषेक से पृथिवी डरी। बड़ा निश्चय यह हुआ, जो इसका अभिषेक हुआ। यह मुझे परे न फेंके। बृहस्पति पृथिवी से डरा। जो निश्चय मुझे यह न हिला दे। तो इस (इष्टि) से यह मैत्री (एक दूसरे ने) की।

वेद में संकेत—बृहस्पतिः ने पृथिवी को दृढ़ किया, इसका संकेत ऋग्वेद में है—

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
४।५०।१॥

अर्थात्—जिसने स्तम्भित किया बल से पृथिवी के अन्तों को,

---

1. Jupiter has the shortest period of rotation of any of the planets.

बृहस्पति ने तीन स्थानों पर बैठे ने, शोर से।

पृथिवी के अन्त क्या हैं, वे बृहस्पति द्वारा कैसे स्तम्भित हुए, बृहस्पति किन तीन स्थानों पर बैठा था, उसका शोर कैसा है, इन सब रहस्यों को खोलना चाहिए।

मैकडानल और बृहस्पति—बृहस्पति का जो वर्णन इंगलैण्ड के अध्यापक मैकडानल आदि ने वैदिक रीडर में किया है, वह ऐसा वर्णन है, जो कोई अबोध बालक करेगा। वेद ऐसे लोगों से डरता है।

५. शनैश्चर महाग्रह—शनैश्चर (Saturn) अगला ग्रह है। यह **मन्दगामी** है। शनैश्चर नाम से यह सत्य स्वतः सिद्ध है। इसे **सौर, अर्कपुत्र, छायासुत, असित, क्रोड, विरूप और यम** आदि भी कहते हैं।

उत्पत्ति—वायु पुराण का लेख है—

शनैश्चरं पुनश्चापि रश्मिराप्यायते स्वराट् ।५३।४६।।

अर्थात्—शनैश्चर को पुनः स्वराट् रश्मिः वृद्धि को प्राप्त कराती है।

शनैश्चर का रथ—ब्रह्माण्ड, पूर्व भाग, अ० २३ का श्लोक है—

ततः शनैश्चरो ऽप्यश्वैः सबलैर्व्योमसंभवैः ।।८७।।
कार्ष्णायसं समारुह्य स्यन्दनं याति वै शनैः ।।८८।।

अर्थात्—शनैश्चर सबल अश्वों के द्वारा जो व्योम में जन्मे हैं, लोहे के रथ पर चढ़कर शनैः शनैः जाता है।

निश्चय है कि शनैश्चर की सामग्री में लोह का अंश पर्याप्त है।

वैवस्वत—ब्रह्माण्ड अ० २४ का श्लोक है—

रुद्रो वैवस्वतः साक्षाद् यमो लोकप्रभुः स्वयम् ।।४६।।
महाग्रहो द्विजश्रेष्ठा मन्दगामी शनैश्चरः ।।५०।।

रुद्र, वैवस्वत और यम नाम से शनैश्चर ग्रह मन्त्रों में कहाँ-कहाँ स्मृत है, इसका सूक्ष्म अध्ययन अभीष्ट है।

शनैश्चर के परिवेष—वृद्ध गर्ग ने शनैश्चर विषयक एक विलक्षण घटना लिखी है। यथा—

वपुष्मान् रश्मिमाली च चन्द्रसूर्यसमीपगः ।
नातीव च विनिर्भाति नित्यं च परिवेषवान् ॥

अद्भुतसागर, पृ० १४० पर उद्धृत ।

अर्थात्—शनैश्चर का भासन अधिक नहीं होता । कारण, यह सदा परिवेषवान है । भासन की न्यूनता से यह श्याम वर्ण रहता है ।

ये परिवेष क्यों होते हैं, इसका कारण संस्कृत ग्रन्थों में अभी मेरी दृष्टि में नहीं पड़ा ।

चन्द्र और सूर्य के परिवेषों का कारण पूर्व पृ० २८० पर लिखा है ।

पाश्चात्य मत—एतद्विषयक पाश्चात्य मत अनुमान-प्रधान है । वह सन्तोष-प्रद नहीं । वह नीचे लिखते हैं—

It is the rings of Saturn that make it such a unique and striking object in the telescope,......The rings may therefore be considered as consisting of a great number of tiny moons, circulating around Saturn ...... There is little doubt that the fragments of which the ring system is composed are the remnants of a former satellite of Saturn.[1]

ये परिवेष किसी पूर्व तारे के अवशेष प्रतीत नहीं होते ।

बहुविध परिवेष—भार्गवीय तन्त्र में परिवेषों के मूल नव वर्ण कहे हैं ।[२] उनके भी आगे अधिक भेद हो जाते हैं ।

ग्रहों के स्थान—उत्तर, मध्य और दक्षिण नामक तीन स्थानों अथवा मार्गों को ग्रह अपनाते हैं । इन स्थानों के दूसरे नाम भी हैं यथा—

उत्तर मार्ग	ऐरावत स्थान
मध्य मार्ग	जारद्गव स्थान
दक्षिण मार्ग	वैश्वानर स्थान

पूर्वोक्त वर्णन वायु पुराण अ० ६६।४६, ४७ के अनुसार है ।

1. Life on other Worlds, p. 86.
२. अद्भुतसागर, पृ० २८६ ।

वीथियाँ—प्रत्येक मार्ग की तीन-तीन वीथियाँ हैं। यथा—

उत्तर मार्ग में	नागवीथि,	गजवीथी,	ऐरावती
मध्य मार्ग में	अर्यमी=आर्षभी=वृषभा[1]	गोवीथी,	जारद्गवी
दक्षिण मार्ग में	अजवीथी,	मार्गी,	वैश्वानरी=दह

पितृयान और देवयान—वेद में प्रसिद्ध पितृयान और देवयान इन्हीं वीथियों के उत्तर, दक्षिण आदि में स्थिर हैं। उनका सुव्यवस्थित उल्लेख विष्णु पुराण २।८ में है। यथा—

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयानः स वै पन्था वैश्वानरपथाद् बहिः ॥८०॥
नागवीथ्युत्तरं यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानश्च स स्मृतः ॥८५॥

इन यानों में पितर और देव कैसे चलते हैं, इसका वर्णन देवाध्ययन में हो सकता है।

धूमकेतु

१०८ केतु—ग्रहों के इस अति संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् अब धूमकेतु का उल्लेख किया जाता है। देवल के अनुसार आग्नेय आदि नव प्रकार के १०८ केतु हैं।[2] यथा—

आग्नेय	१५	मृत्यु	४	
रौद्र	२१	माहेय=क्षितितनय	२५	
		सोमसंभव	३	
उद्दालकिसुत	१०	वारुण	३	
काश्यपेय	१४	यमपुत्र	१३	=१०८

वस्तुतः केतु बहुत अधिक हैं। अतः उनकी गणना में आचार्यों में भेद है। यथा—

---

१. ये पाठ अद्भुतसागर पृ० १३३ पर उद्धृत पराशर के प्रमाण से हैं।

२. अद्भुतसागर, पृ० १५२, ५३।

१०१ केतु—पराशर के अनुसार १०१ केतु हैं। इनमें धूमोद्भव एक है—धूमोद्भव एकः।[1]

ऋग्वेद में—ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के ११वें सूक्त में शुचिः अग्निः की स्तुति है। उस सूक्त का तीसरा मन्त्र है—

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः।
घृतेन त्वावर्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतुरभवद्दिवि श्रितः॥३॥

अर्थात्—विना मांजे उत्पन्न हुए हो, दोनों माताओं से शुचिः। प्रसन्न कविः उठे हो विवस्वान् से। घृत=दिव्य आपः से तुझे बढ़ाया, हे अग्ने, जिसमें हवियाँ दी जाती हैं। धूम तेरा केतु हुआ द्युलोक में ठहरा।

प्रमुख केतु—धूमकेतु सब केतुओं में प्रमुख है। ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग, अ० २४ का श्लोक है—

सर्वग्रहाणाम् एतेषाम् आदिरादित्य उच्यते।
ताराग्रहाणां शुक्रस्तु केतूनामपि धूमवान्॥१३६॥

अर्थात्—[इस सौर जगत् के] सारे इन ग्रहों का आदि आदित्य कहा जाता है। ताराग्रहों का आदि शुक्र है और केतुओं का आदि धूमकेतु है।

औद्दालिकि-श्वेतकेतु—केतुओं का विस्तृत वर्णन करने के लिए यहाँ स्थानाभाव है। पर श्वेतकेतु का उल्लेख हम अवश्य करना चाहते हैं। पराशर की अति प्राचीन संहिता में इस के विषय में लिखा है—

औद्दालिकि श्वेतकेतुः- दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य भवकेतोश्चारान्ते पूर्वस्यां दिशि दक्षिणाभिनतशिखोऽर्धरात्रकाले दृश्यः। तेनैव सह द्वितीयः प्रजापतिसुतः पश्चिमेन कनामा ग्रहः केतुयुगसंस्थायी युगपदेव दृश्यते। तावुभौ सप्तरात्रदृश्यौ।[2]

अर्थात्—औद्दालिकि श्वेतकेतुः, ११० वर्ष प्रवास में रहकर,

१. अद्भुतसागर, पृ० १६६, ६७।
२. अद्भुतसागर, पृ० १८४ पर उद्धृत।

भवकेतु के चार के अन्त में पूर्व दिशा में, दक्षिण को ओर झुकी हुई शिखा वाला अर्धरात्र काल में दिखाई देता है। उस ही के साथ दूसरा प्रजापति-पुत्र पश्चिम दिशा से क-नाम ग्रह केतु, जो युगस्थायी है, उसी काल में दिखाई देता है। ये दोनों सात रात तक दिखाई देते हैं।

इतना स्पष्ट और निश्चित लेख है। ईसा की गत शती में जब Halley's comet का ज्ञान हुआ, तो योरोप के खगोल-विदों में बहुत आनन्द मनाया गया। और यहाँ उससे सहस्रों वर्ष पूर्व, अर्थात् विक्रम से लगभग चार सहस्र वर्ष पहले, अथवा उससे भी सहस्रों वर्ष पहले इतना सूक्ष्म वैज्ञानिक ज्ञान था। दुःख इसी बात का है, कि वर्तमान में वह प्राचीन ज्ञान अध्येताओं के अभाव में सोया पड़ा है।

ऋषियों को ज्ञान था कि अनेक केतु युग के पश्चात् लुप्त हो जाएँगे।

चतुर्दश अध्याय

प्रकीर्णक

१. सप्त-लोक

तीन लोकों का सृजन कह दिया। इनके आगे चार अन्य लोक कहे हैं। इन लोकों के वैदिक नाम हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्।[1] सप्त लोकों के निम्नलिखित नाम भी जैमिनि ब्राह्मण में मिलते हैं—

१. उपोदक। २. ऋतधाम। ३. अपराजित। ४. अभिद्युः। ५. प्रद्युः। ६. रोचन। ७. विष्टप=ब्रह्मलोक।१।३३४॥

इससे एक अगले प्रकरण में सप्तलोकों की गणना निम्नलिखित है।

१. उपोदक। २. ऋतधामा। ३. शिव। ४. अपराजित। ५. अधिद्युः। ६. प्रद्युः। ७. रोचन।३।३४७॥

रोचन पद दीप्ति-वाचक है। अतः यह सूर्य लोक और उससे प्रदीप्त लोकों का भी वाचक है (श० ७।१।१।२४)। पर सप्तम लोक इस आदित्य लोक से अति परे है।

आदित्य से परे लोक—जैमिनि ब्राह्मण अति स्पष्ट रूप से कहता है—

बह्वो ह वा···आदित्यात् पराञ्चो लोकाः।१।११॥

अर्थात्—बहुत निश्चय से आदित्य से परे लोक हैं।

१. तुलना करो, पृ० १७८, टिप्पण १।

अन-अन्तर्हित लोक—ये लोक एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। कोई द्रव्य अथवा अनेक द्रव्य इन्हें पृथक् नहीं होने देते। इसीलिए जैमिनि ब्रा० का प्रवचन है—

अनन्तर्हितान् एवेत ऊर्ध्वान् लोकान् जयति।१।१४६॥

अर्थात्—न पृथक् हुए ही ऊर्ध्व लोकों को जीतता है।

परला अन्तरिक्ष—पूर्व पृ० १७८ पर जै० ब्रा० का जो प्रमाण लिखा है, वह विचारणीय है—

अथ यत् परेण दिवम् अन्तरिक्षं मन्यन्ते। एवं परेण पृथिवीम् आपः, तेनो बहिर्निधने—इति।१।२६८॥

अर्थात्—तब जो आचार्य परे द्यु लोक के अन्तरिक्ष मानते हैं। इसी प्रकार परे पृथिवी के आपः [मानते हैं]। द्यु लोक से परे कैसा अन्तरिक्ष है, यह ध्यान देने योग्य है।

इसी पूर्व पृ० १७८ पर दिशाओं का असंख्यात होना दर्शाया है। दिशाएँ इन तीन लोकों से परे भी हैं। यह साधारण विषय नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने इन सिद्धान्तों की विशद विवेचना की है।

२. प्रजापति रिरिचान, रिक्त

हिरण्यगर्भ, पुरुष, यज्ञ अथवा प्रजापति प्रजाएँ उत्पन्न करता चला गया। वह अन्त में रिक्त हो गया। उसकी उत्पादन शक्ति और सामग्री क्षीण हो गई। इसका सुन्दर उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। यथा—

(क) प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा रिरिचानोऽमन्यत। सोऽश्वो भूत्वा संवत्सरं न्यङ् भूम्यां शिरः प्रतिनिधाय अतिष्ठत्।

मै० सं० १।६।१२॥

अर्थात्—प्रजापति ने प्रजा सृजन करके अपने को रिक्त माना। वह अश्व होकर संवत्सर पर्यन्त नीचे भूमि पर शिर रख कर ठहरा।

(ख) [प्रजापतिः] प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिमित्वा व्यस्रंसत।

श० ६।१।२।१२॥

अर्थात्—प्रजापति प्रजा उत्पन्न करके, सारी दौड़-दौड़कर ढीला हो गया।

(ग) **प्रजापतिः प्रजा असृजत। सो ऽरिच्यत। सो ऽपद्यत।**
तां० ब्रा० ४।१०।१॥

अर्थात्—प्रजापति ने प्रजाएँ उत्पन्न कीं। वह रिक्त हो गया। वह सो गया (पाँव के भार पर खड़ा नहीं रह सका)।

(घ) **प्रजापतिः प्रजा सृष्ट्वा वृत्तो ऽशयत।** तै० ब्रा० १।२।६।१॥

अर्थात्—प्रजापति प्रजा उत्पन्न करके, निवृत्त होकर सो गया।

(ङ) **प्रजापतिः प्रजास्ससृजानस्स व्यस्रंसत। सो ऽन्नं[1] भूतो ऽशयत्।** जै० ब्रा० २।१२८॥[2]

अर्थात्—प्रजापति प्रजा उत्पन्न करता हुआ ढीला हो गया। वह झुका[1] हुआ होकर सो गया।

बाईबिल में अनुवाद—जैसा पूर्व पृष्ठ २६१ पर लिखा गया है, वह सत्य बाईबिल के निम्नलिखित उद्धरण से अधिक स्पष्ट होगा—

1. Thus the heaven and the earth were finished, and all the host of them.
2. And on the seventh day God ended his work which he had made; and he rested on the seventh day from all his work which he had made. (Genesis, ch. 2.)

यहाँ सातवें दिन का अभिप्राय सात लोकों और सात व्याहृतियों से है। तथा rested=विश्राम करने का अर्थ सोना भी है।

निस्सन्देह मिश्री ज्ञान में वैदिक ज्ञान की छाया थी। वेद-ज्ञान किसी एक देश का ज्ञान नहीं था।

३. लोकों का दूर-अवस्थापन

पूर्व पृष्ठ २०६—२०६ पर सूर्य-भूमि का सामीप्य लिखा गया है।

---

१. तुलना करो, निरुक्त ३।६ में अन्न पद का अर्थ-निर्वचन।

२. तुलना करो, श० ब्रा० ४।६।४।१॥

यह सामीप्य सूर्य और भूमि का ही नहीं था। सारे लोक कभी अति समीप थे।

जब सृष्टि बन रही थी, जब हिरण्याण्ड और तत्पश्चात् प्रजापति अथवा सविता फट कर लोकों को अपने अन्दर से बाहर निकाल रहे थे, तब भूमि, चन्द्र, सूर्य, बृहस्पति और शनि आदि इतनी दूरी पर न थे, जितनी पर अब हैं। ये लोक शनैः शनैः सरकते हुए इतनी दूरी पर अवस्थापित हो गए। पहले ये अति समीप थे। संहिता और ब्राह्मणों में लिखा है—

(क) इमौ वै लोकौ सहास्ताम्। तौ वियन्तावब्रूतां विवाहं विवहावहै। सह नावस्तु—इति। तां० ब्रा० ७।१०।१॥

अर्थात्—ये निश्चय से दोनों लोक साथ थे। उन दोनों ने पृथक् होते हुए कहा। विवाह को=[अपने-अपने वहनीय भार को] हम पृथक् पृथक् वहन करें। साहाय्य एक दूसरे का [दोनों का परस्पर साहाय्य] हो।

(ख) इमे वै लोकाः सहासन्। ते ऽशोचन्। तेषामिन्द्रः एतेन साम्ना शुचम् अपाहन्यत्। तां० ब्रा० ८।१।६॥

अर्थात्—ये लोक साथ-साथ थे। उन्होंने शोक किया। उनका इन्द्र ने इस साम से शोक दूर किया।

(ग) इमे वै लोकाः सह सन्तस्त्रेधाप्यायन्। ते ऽशोचन्। यथैकस्त्रेधा विच्छिन्नः शोचेद् एवम्। जै० ब्रा० ३।७२॥

अर्थात्—ये तीनों निश्चय ही लोक साथ-साथ होते हुए तीन स्थानों पर पृथक् हुए। उन्होंने शोक किया। जैसे एक तीन प्रकार में पृथक् हुआ हुआ शोक करे, ऐसे।

(घ) इमे वै लोका सह सन्तौ व्यैताम्। तयोर्न किं चन समपतत्। ते देवमनुष्या अशनायन्।......ताविमौ लोकौ सवासिनावकरोत्। जै० ब्रा० १।११६॥

अर्थात्—ये तीनों निश्चय ही लोक साथ-साथ होते हुए पृथक्

हुए। उन दोनों का नहीं कुछ भी गिरा। वे देव और मनुष्य भूख के कष्ट में हुए। इन लोकों को (हवि और वृष्टि द्वारा सहवासी किया।)

(ङ) इमौ वै लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्। तयोर्न किंचन् समपतत्। ते देवमनुष्या अशनायन्।..........ताभ्यां व्यवहेताम्। जै० ब्रा० १।१४५॥

कालेण्ड ने जै० ब्रा० के इस वचन का ताण्ड्य ब्रा० ७।१०।३ के टिप्पण दो में निम्नलिखित अनुवाद किया है—

These worlds, being together, went asunder (in discordance ?); nothing whatever reached them (i. e. nothing from earth reached heaven and vice versa)

टिप्पण—इसकी अपेक्षा हमारा अनुवाद शब्दानुसार सीधा है। नहीं कुछ भी गिरा। अर्थात् जब लोकों का परे-परे सर्पन् हो रहा था, तब उनका कोई अंश गिरा नहीं, तथा धूम और वर्षा इधर-से-उधर नहीं जा रहे थे।

(च) इमे वै सहास्ताम्। ते वायुर्व्यवात्। ते गर्भमदधाताम्। ततो ऽजा वशा अजायत। ताम् अग्निः अग्रसत। काठक १३।१२॥

अर्थात्—ये लोक साथ-साथ थे। उनको वायु ने पृथक्-पृथक् किया।

(छ) इमे वै सहास्ताम्। ते यथा वेणू सन्ध्याऽव्येते, एवं समधाव्येताम्। काठक १३।१२॥

अर्थात्—द्यावा पृथिवी निश्चय साथ थे। वे दोनों जैसे दो बाँस टकराए जाते हैं, वैसे एकत्र हो जाते थे।

उस समय वे उग्र, अदृढ़ थे। कभी थोड़ा दूर और कभी सर्वथा साथ हो जाते थे।

दूरगमन का प्रकार

(ज) अग्न आयाहि वीतये—इति। तद्धेति भवति वीतये—

इति। समन्तिकमिव ह वा इमे ऽग्रे लोका आसुः इति। उन्मृश्या हैव द्यौरास ॥२२॥

ते देवा अकामयन्त। कथं नु इमे लोका वितराᳫं स्युः। कथं न इदं वरीय इव स्यादिति। तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्-वीतये—इति। त इमे विदूरं लोकाः। ततो देवेभ्यो वरीयो ऽभवत्। वरीयो ह वा अस्य भवति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु-र्वीतये—इति ॥२३॥ शतपथ १।४।१॥

अर्थात्—हे अग्ने, आओ, फैलाने के लिए—

बहुत समीप के समान निश्चय से ये पहले लोक थे। हाथ उठाकर छूई जा सकने वाली निश्चय ही द्यु थी।

उन देवों ने कामना की। कैसे निश्चय से हमारे ये लोक अधिक दूर हों। कैसे हमारे लिए यह अधिक खुले (स्थान) के समान होवे। उन लोकों को इन ही तीन अक्षरों से परे ले गए, वीतये (ये तीन अक्षर हैं)। वे ये बहुत दूर (हुए) लोक। तब से देवों के लिए खुला स्थान हो गया।

अन्तरिक्ष देवों का स्थान है।

(झ) आदित्यो वा एतद् अत्राग्र आसीद् यत्रैतच् चात्वालम्। अदो ऽग्निः। स इदं सर्वं प्रातपत्। तस्य देवाः प्रदाहाद् अबि-भयुः। ते ऽब्रुवन् सर्वं वा अयम् इदं प्रधक्ष्यति वीमौ परिहरामेति। तम् अतस् तिसृभिर् आददत तिसृभिर् अन्तरिक्षात्। तिसृभिर् दिवम् अगमयन्। स ततः पराङ् एवातपत्। त एतद् आवद् उत्तमम् अक्षरम् अपश्यन्। तेनैनम् अर्वाञ्चम् अकुर्वन्। तत एतदर्वाङ् तपति। जै० ब्रा० १।८७॥

अर्थात्—आदित्य निश्चय से यह यहाँ पहले था, जहाँ यह चात्वाल। वहाँ अग्निः। वह इसको बहुत तपाता था। उसके देव प्रदाह से डरे। वे बोले, सबको निश्चय ही यह इसको जलाएगा। इन दोनों का स्थान बदल दें। उसको यहाँ से तीन द्वारा लिया, तीन द्वारा अन्तरिक्ष

से। तीन से द्यु: को पहुँचाया। वह (आदित्य) वहाँ से परे ही तपता था।

(ञ) सप्तविंशत्या ऽस्तुवत् द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन्। तेषामाधिपत्यमासीत्। तै० सं० ४।३।१०॥

अर्थात्—सत्ताईस के साथ स्तुति की। द्यु लोक और पृथिवी परे-परे हुए। वसु, रुद्र और आदित्य तत्पश्चात् उनके समान पृथक् हुए।

(ट) सप्तविंशत्यास्तुवतेति।······द्यावापृथिवी व्यैतामिति। द्यावापृथिवी ऽअत्र व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन् इति। शतपथ ८।४।३।१६॥

अर्थात्—सत्ताईस से स्तुति की।······द्यावापृथिवी दूर हुए। द्यावा पृथिवी यहाँ दूर हुए। वसु, रुद्र, आदित्य उनके पीछे दूर हुए।

(ठ) सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। तयोर्वियतोर्यो ऽन्तरेणा-काश आसीत् तदन्तरिक्षमभवत्। ईक्षं हैतन्नाम। ततः पुरान्तरा वा इदमीक्षमभूदिति। तस्मादन्तरिक्षम्। शतपथ ७।१।२।२३॥

अर्थात्—एक साथ निश्चय ही पहले ये दो लोक थे। उनके दूर होते हुओं के, जो मध्य में आकाश था, वह अन्तरिक्ष हुआ। दिखने योग्य निश्चय यह नाम (युक्त हुआ)। इससे पूर्व मध्य में यह दिखने योग्य हुआ। इस कारण अन्तरिक्ष।

परिणाम—पूर्वोद्धृत बारह प्रमाणों से निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

१. लोक-दूर-गमन से पूर्व देव-जन्म हो चुका था।
२. पहले देव भी साथ-साथ थे। उनका व्यापार-क्षेत्र न के तुल्य था।
३. लोकों का परस्पर साहाय्य उत्पन्न हुआ।
४. पृथक् होते हुए लोकों का कुछ गिरा नहीं।
५. देव और मनुष्य [=अन्तरिक्षस्थ नर] कष्ट में हुए।
६. तब अनन्त देव-चक्र स्थिर हुआ। वृष्टि आदि का प्रकार आरम्भ हुआ।

७. अजा वशा का जन्म लोक-दूर व्यवस्थापन से पश्चात् हुआ। उस अजा वशा को अग्निः ग्रस गया।
८. जब लोक साथ-साथ थे, तब वे इस प्रकार एक-साथ हो जाते थे, जैसे दो बांस साथ उगे हुए एक-दूसरे से टकराते हैं।
९. दूर-गमन में अग्निः और वायु की सहायता हुई। उस समय वीतये ध्वनि उठी। यही दैवी वाक् है। इस ध्वनि से जो छन्द बने, उन से लोक दूर-अवस्थापित हुए।
१०. उस समय से सूर्य के तपन क्रम में कुछ परिवर्तन हुआ।
११. वसु, रुद्र और आदित्यों का विभाग स्थिर हो गया।
१२. अन्तरिक्ष पूरा विस्तृत हुआ।

मन्त्र प्रमाण

समीपस्थ लोक दूर हो गए। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना थी। गुरुतम लोक इस प्रकार पृथक् हुए, यह निराधार आकाश विस्तृत होता गया, और देवों आदि से साधार बनता गया, इसका रोचक और स्पष्ट वर्णन वेद-मन्त्रों में मिलता है। उसी के आधार पर ब्राह्मणों के पूर्व-लिखित प्रवचन हैं। यथा—

यो भानुना पृथिवीं द्याम् उतेमाम् आततान रोदसी अन्तरिक्षम्। ऋ० १०।८८।३॥

यह सूर्य और वैश्वानर अग्निः परक देवता का मन्त्र है—

अर्थात्—जिस (अग्निः और सूर्य ने) तेजः रश्मियों से पृथिवी, इस द्युः और द्यावापृथिवी के अन्तरिक्ष को विस्तृत किया।

इस से स्पष्ट है कि पहले अन्तरिक्ष विस्तृत नहीं था।

अगला मन्त्र पुरीष्य अग्नियों का है—

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षम् उर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥
ऋ० ३।२२।२॥

अर्थात्—हे अग्ने जो तेरा द्युःलोक में वर्च है, पृथिवी में, जो ओष-धियों में, आपः में, हे यजनीय। जिस [तेज] के द्वारा तुम ने अन्तरिक्ष को बहुत विस्तृत किया। दीप्तिमान् वह तेजोमय, अर्णव रूप नरों का दर्शक।[1]

इस अग्निः से युक्त अन्तरिक्षस्थ नर चमकते हैं।

इस मन्त्र का व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में विद्यमान है—

य एवौषधिषु चाग्निस्तमेतदाह-येनान्तरिक्षम् उर्वाततन्थेति वायुः। श० ७।१।१।२३॥

अर्थात्—अग्नि युक्त वायु ने इस अन्तरिक्ष को बहुत विस्तृत किया।

लोक दूर-गमन विषयक पाश्चात्य मत

इस विषय में पाश्चात्य लेखकों को कुछ अधूरा-सा ज्ञान हुआ है। यथा—

(a) In fact, it is obvious that the moon must have been revolving "almost within tonch" of the Earth's surface immediately after the separation.[2]

(b) …various universes were much closer together when the solar system was formed than they are now.

—the various universes congregated close together in a volume of space much smaller than they now occupy.[3]

अर्थात्—कभी चन्द्रमा पृथिवी से छुई जाने वाली दूरी पर चक्र काटता था।

जब यह सौर जगत् बन रहा था, तब ये विभिन्न जगत् बहुत पास-पास थे।

१. तुलना करो, पूर्व पृ० १४६।

2. Biography of the Earth, p. 48.

3. Life on the other Worlds, p. 150.

४. लोक-क्रन्दन

सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक सुस्थिर न होने के कारण पहले कांपते थे। बहुत काल पश्चात् वे नियमित गतियों में प्रतिष्ठित हुए।

(क) शतपथ ब्राह्मण ११।८।१।२ में लिखा है—

तद् यथा ह वै। इदं रथचक्रं वा कौलाल चक्रं वाप्रतिष्ठितं क्रन्देद् एवं हैवेमा लोका अध्रु वा अप्रतिष्ठिता आसुः ॥१॥ स ह प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे। कथन्न्विमे लोका ध्रुवाः प्रतिष्ठिता स्युः इति। स एभिश्चैव पर्वतैर्नदीभिश्च इमाम् अदृंहद् वयोभिश्च मरीचिभिश्च-अन्तरिक्षम्। जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम् ॥२॥

अर्थात्—तब जैसे यह रथ का चक्र वा कुम्हार का चक्र अस्थिर क्रन्दन करता है, ऐसे ये लोक अध्रुव और अप्रतिष्ठित थे। उस प्रजापति ने ईक्षण किया। कैसे ये लोक ध्रुव तथा प्रतिष्ठित हों। उसने इन पर्वतों और नदियों से इस पृथ्वी को दृढ़ किया।[1] वयों और मरीचियों से अन्तरिक्ष लोक को। तथा जीमूतों और नक्षत्रों से दिव लोक को।

टिप्पण—यहाँ वय का अर्थ पक्षी नहीं है। शतपथ ब्रा० ८।२।३।१०—१३ में, चत्वारि वयांसि, कहे हैं। यथा मूर्धा वय, क्षत्र वय, विष्टम्भ वय तथा विश्वकर्मा वय। छान्दोग्य उप० २।२१।१ में नक्षत्राणि वयांसि मरीचयः प्रयोग देखने योग्य है। जीमूत द्यु में हैं।

(ख) ताण्ड्य ब्रा० २४।१।२ में भी सूर्य आदि के एक-दूसरे के प्रति न ठहरने का उल्लेख है—

प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता न प्रत्यतिष्ठन्।…इमे लोका न प्रत्यतिष्ठन।

अर्थात्—[हिरण्यगर्भ] प्रजापति ने प्रजाएँ उत्पन्न कीं। वे नहीं एक-दूसरे के सहयोग में ठहरीं।…ये लोक परस्पर गति में स्थिर न थे।

(ग) पुनः याजुष कपिष्ठल संहिता में लिखा है—

---

१. कुरान शरीफ में भी लिखा है—और जमा दिए उसमें पर्वतों को ऊपर से।

इमे वै लोका आवृता (काठक-आधृता। शोधित पाठ—अधृता) आसन्। ते संप्राकम्पन्त। तान् देवा एतैः यजुभिः व्यष्टभ्नुवन्। यदेतैः परिधीन् परिदधाति एषां लोकानां विधृत्यै।

३६।४॥ तथा काठक सं० २५।६॥

अर्थात्—ये लोक अधृत थे। वे कांपते थे। उन्हें देवों ने इन यजुओं से स्थिर किया। जो इन [यजुओं] से परिधियों को धारण करता है, इन लोकों की स्थिरता के लिए।

पूर्व पृष्ठ १७२ पर आईन स्टाईन का मत दिया गया है कि—

in space there are no directions and no boundaries.

अर्थात्—शून्य में कोई दिशाएँ और परिधियां नहीं हैं।

हम पहले भी कह चुके हैं कि शून्य कोई नहीं। इससे अधिक यह ध्यान रखना चाहिए कि दिशाएँ और परिधियां वैसी ही भौतिक हैं, जैसे सूर्य आदि भौतिक पदार्थ। इन्हीं परिधियों के कारण लोक स्थिर हैं। मरुत भी परिधियों के अन्दर चक्र काटते हैं। यह विज्ञान अभी पाश्चात्य लोगों को नहीं है।

अन्तरिक्षस्थ वायु-योग—वायु भी इन लोकों को स्थिर रख रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण में महिदास का प्रवचन है—

वायुना हीदं यतमन्तरिक्षं न समृच्छति।अ० १०।

अर्थात्—वायु द्वारा ही यह वशीभुति अन्तरिक्ष नहीं प्रलय को प्राप्त होता।

सौभाग्य का विषय है कि अनेक पाश्चात्य विज्ञान-छात्र अब शून्य का भाव त्याग रहे हैं।

दो मन्त्र—निम्नलिखित दो मन्त्र इस विषय पर भूरि प्रकाश डालते हैं। वे वरुण देवतात्मक द्रष्टव्य हैं—

अस्तभ्नाद् द्याम् असुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥

ऋ० ८।४२।१॥

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु[1]।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं[2] दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥
ऋ० ५।८५।२॥

अर्थात्—स्तम्भित किया द्यु लोक को [वरुण] असुर ने।

५. स्तम्भन=प्रतिष्ठापन=दृढीकरण

पहले चन्द्र का स्थान सूर्य से ऊपर था। वह शनैः शनैः नीचे आया और पृथिवी के गिर्द घूमने में स्थिर हुआ। सहस्रों ग्रह और नक्षत्र परस्पर टकरा कर नष्ट हुए। पर दूसरे चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदि एक दूसरे की परिधि में प्रविष्ट हो कर स्थिर गतियों को धारण कर रहे थे। इस तथ्य के समझने में शतपथ ब्रा० सहायता करता है—

(क) नेदन्योऽन्यं हिनसाव इति।............। अन्तरिक्षमेव रूपेण। अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे।

शत० ब्रा० १।२।१।१६॥

अर्थात्—[ग्रह आदि गतियां ठीक हो रही थीं।] ऐसा न हो, एक दूसरे को नष्ट करदें।.......। अन्तरिक्ष रूप के द्वारा ही [द्यु: की गतियां ठीक हुईं।] अन्तरिक्ष=आकाश=दिशाओं के द्वारा ही द्यावा-पृथिवी [कम्पन-रहित होकर] अलग-अलग स्तम्भित हुए।

पृथिवी-दृंहण तथा द्यु-स्तम्भन—आरम्भ में पृथिवी व्यथा से कांपती थी और द्यौ अस्तम्भित था, इसका वर्णन ऋग्वेद करता है—

(ख) यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्
यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥
२।१२।२॥

---

१. कपिष्ठल १।१६ का पाठान्तर—अघ्न्यासु।
२. कपिष्ठल—विक्ष्वग्निं।

अर्थात्—जिसने पृथिवी कांपती हुई को दृढ़ किया। जिसने कोप मे आए [=फुदकते हुए] पर्वतों को स्थिर किया। जिसने अन्तरिक्ष को बनाया अधिक विस्तृत। जिसने द्यु को स्तम्भित किया। वह, हे जनों, इन्द्र [है]।

टिप्पणी—इस मन्त्र के तीसरे पाद का ए० ए० मैकडानल ने कैसा भद्दा अनुवाद किया है—"who measures out the air more widely." (वैदिक रीडर, पृ० ४६)

(ग) स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसा
अधराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसम्
अस्तभ्नान् मायया द्यामवस्रसः ॥ऋ० २।१७।५॥

अर्थात्—उस [इन्द्र] ने प्राचीन पर्वतों[1] को दृढ़ किया ओज से, नीचे वाले किए आपः के कर्म। धारण किया पृथिवी को सर्वभूत धात्री को, स्तम्भित किया माया से द्युः को पतन से।

सविता की सहायता—मध्यम स्थानी सविता इस स्तम्भन की क्रिया में मध्यम स्थानी इन्द्र का सहायक था। मन्त्र कहता है—

(घ) सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णाद्
असकम्भने सविता द्यामदृंहत्। ऋ० १०।१४९।१॥

अर्थात्—सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को स्थिर किया। विना स्कम्भ के [स्थान] में सविता ने द्युलोक को दृढ़ किया।

मध्यम स्थानी सविता के यन्त्रों का स्पष्ट ज्ञान अन्वेषणीय है।

ये लोक कैसे दृढ़ हुए, इस का वर्णन अन्य मन्त्र में भी है—

(ङ) व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते
दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः॥ ऋ० ।७।९९।३॥

---

१. तुलना करो—पर्वता ध्रुवयो भवन्तु। पर्वत स्थिर हों। तथा येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। जिसने उग्र द्युः और उग्र पृथिवी को दृढ़ किया।

अर्थात्—पूर्ण स्तम्भित किया इन द्यावा पृथिवी को विष्णु ने, दृढ़ किया पृथिवी को चारों ओर से मयूखों (=रश्मियों) द्वारा।

वैदिक माईथालोजि पृ० ११ पर मैकडानल का भद्दा अनुवाद—

Viśnu fixed it (the earth) with pegs.

पुनः

Foundations are sometimes alluded to. Thus Savitṛ made fast the earth with bands.

(च) यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्
बृहस्पतिस् त्रिषधस्थो रवेण।ऋ० ४।५०॥१॥

अर्थात्—जिसने अलग-अलग थामा बल से पृथिवी के छोरों को, [वह] बृहस्पति तीन स्थानों में ठहरा शोर से।

(छ) मही चिद् द्यामातनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कभीयान्। ऋ० १०।१११।५॥

अर्थात्—मही को तथा द्यु को सब ओर फैलाया सूर्य द्वारा, और स्थिर किया।

(ज) हविषो गृहीताद् इमे लोका उद्वेपन्त।
तान् देवा एतेन यजुषा अदृंहन्॥ मै० सं०४।१।५॥

अर्थात्—हवि से ग्रहण किए हुए से ये लोक कांपे। उन (लोकों) को देवों ने इस यजु से दृढ़ किया।

पूर्वोक्त उद्धरणों से पता लगता है कि वरुण, अन्तरिक्ष, दिशाओं, इन्द्र, सविता, और विष्णु आदि के द्वारा ये लोक दृढ़ हुए। इन सूक्ष्म-तत्त्वों का अध्ययन भविष्य में होगा।

ये देवता, अन्तरिक्ष और दिशाएँ पहले स्वयं शिथिल थीं। ये दृढ़ हुए, तब इन्होंने लोकों को दृढ़ किया।

६. परिधि से बाहर

हम पूर्व पृष्ठ १०२-१०४, तथा १५३-१५६ पर पशुओं का वर्णन

कर चुके हैं। उनके विषय में ब्राह्मण का प्रवचन है—

प्रजापतिः पशून् असृजत। तेऽस्मात् सृष्टा अपाक्रामन्। सोऽकामयत न मत् पशवोऽपक्रामेयुः। अभि मा वर्तेरन् इति।

जै० ब्रा० १।१६०॥

अर्थात्—प्रजापतिः ने पशुओं को उत्पन्न किया, वे इससे उत्पन्न किए गए दूर चले गए। उस [प्रजापति] ने कामना की, नहीं मेरे पशु दूर जाएँ, मेरे चारों ओर रहें।

यहाँ प्रश्न होता है कि जिस प्रकार हमारे तीनों लोकों से पशु दूसरी परिधियों में चले गए, क्या उसी प्रकार महः, जनः आदि लोकों से भी कोई उधर के पशु इधर आए वा नहीं। पृ० २८६ पर प्रमाण दिया गया है कि शबलपशु वैद्युत हैं।[1] क्या दूसरे लोकों में यहाँ से ये वैद्युत पशु भी बाहर गए हैं। और उधर से यहाँ आ चुके हैं।

७. राशि-परिभ्रमण

गृह-परिवर्तन—आरम्भ में पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि अपने-अपने गृह में भ्रमण करते थे। बहुत काल पश्चात् जब उनकी गतियां स्थिर होने लगीं, तो उन्होंने गृह-परिवर्तन आरम्भ किया। ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है—

१. इमौ वै लोकौ······ताभ्यां व्यवहेताम्। ततो ह वा इदम् अर्वाचीनम् अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति। यथागृहं ह वाव ततः पुरोषुर् यथाज्ञाति वा। जै० ब्रा० १।१४६॥

अर्थात्—ये दोनों लोक·······उनसे उन्होंने विवाह किया। उस काल के पश्चात् एक दूसरे के गृह=राशि में रहते हैं। अपनी राशि में निश्चय उससे पूर्व रहते थे, अथवा अपनी-अपनी जाति वाले के साथ।

---

१. **तुलना करो**—The cosmic rays, being charged particles, are affected by the earth's magnetic field. (The Upper Atmosphere, 1958, p. 46.

यह आश्चर्यकर सिद्धान्त है। पाश्चात्य ज्योतिषी समझते हैं कि जो ग्रह आदि जिससे उत्पन्न हुआ है, वह उसी के गिर्द घूमता है। और क्योंकि चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द घूमता है, अतः वह पृथिवी से उत्पन्न हुआ है। पर जैमिनि ब्रा० के अनुसार यह बात नहीं है। इस पर गम्भीर अन्वेषण अपेक्षित है।

यथा सूर्य का अपना नैसर्गिक घर सिंह राशि पांचवीं में है, २, ५, ८, ११ आदि राशियां सूर्य के ज्ञाति सम्बन्धी घर हैं।

वेद मन्त्र भी कहता—

२. नाना चक्राते सदनं यथा वेः समानेन क्रतुना संविदाने ॥
ऋ० ३।५४।६॥

अर्थात्—नाना चक्र काटते हैं, राशियों अथवा स्थानों को, जैसे पक्षियों के [घोंसले नाना]। समान यज्ञ से एकमति को प्राप्त हुए [ये द्यावापृथिवी]।

३. इतो वा इमे लोका ऊर्ध्वाः कल्पमाना यन्ति।
अमुतोऽर्वाञ्चः कल्पमाना आयन्ति ॥ ता० ब्रा० ७।१०।५॥

अर्थात्—यहाँ से निश्चय ही ये लोक ऊपर की ओर जाते हैं। ऊपर से नीचे की ओर आते हैं।

Caland—These worlds keep arranging themselves from hence upwards and (on the other side) from above downwards.

८. प्रजाओं का अन्योऽन्य अदन

जब तक लोकों का परस्पर व्यवस्थापन और दृंहण नहीं हुआ था, तब तक प्रजापतिः की प्रजाएँ एक-दूसरे का भक्षण भी कर लेती थीं। इस घटना का सुन्दर दृश्य ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रवचन में है—

प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता अविधृता असञ्जानाना अन्योऽन्यम् आदन्। तेन प्रजापतिरशोचत्। स एता अपश्यत्। ततो

वा इदं व्यावर्तत। गावोऽभवन्। अश्वा अश्वाः। पुरुषाः पुरुषाः। मृगा मृगाः। २४।११।२।

अर्थात्—प्रजापतिः ने प्रजाएँ उत्पन्न कीं। वे दूर-दूर नहीं थीं, [तथा] ऐकमत्य-रहिता थीं। उन्होंने एक-दूसरे को खाया। इस कारण प्रजापतिः ने शोक किया। उस [प्रजापतिः ने] इन [४६ दिन की इष्टियों] को देखा। तब से यह घटन बन्द हुआ। अथवा ये प्रजाएँ पृथक-पृथक् हो गईं। गौएँ हुईं गौएँ। अश्व हुए अश्व। पुरुष [मरुतों के नरः] हुए पुरुष। मृग हुए मृग।

उस प्राथमिक अवस्था में अनेक तारे, नक्षत्र, ग्रह आदि परस्पर टकरा कर नष्ट हो गए। गौएँ, अश्व, नर और मृग, जो अन्तरिक्षस्थ थे, नष्ट हुए। अभी तीन लोकों और उनसे परले लोकों का देव-चक्र व्यवस्थित नहीं था।

यह देव-चक्र ४६ दैवी दिनों में व्यवस्थित हुआ। वे दैवी दिन कैसे गिने गए, यह विचारणीय है। सूर्य अभी राशि-चक्र में प्रविष्ट नहीं हुआ होगा। लोकों के विधृत होने के पश्चात् अन्तरिक्ष स्थिर हुआ। इसकी दिशाएँ और दिशाओं के पर्वत आदि स्थिर हुए—पर्वता ध्रुवयो भवन्तु। इस प्रकार कितने लोक खाए गए इसका किसे ज्ञान हो सकता है।

६. तमिस्र लोक—अलोक

प्रतीत होता है आन्तरिक्ष तथा द्युः-लोक के मध्य में अन्धकार युक्त एक तमिस्र भाग है। इसके विषय में निम्नलिखित पाँच ब्राह्मण और संहिता प्रवचन द्रष्टव्य हैं।

(क) यथा ह वै कूपस्य खातस्य गम्भीरस्य पर तमिस्रम् इव ददृश एवं ह वै शश्वत् परस्ताद् अन्तरिक्षस्य—असौ लोकः। तत् कः तद् वेद यदि तत्रास्ति वा न वा। जै० ब्रा० १।२६१॥

अर्थात्—जैसे निश्चय गहरे कूप के खुदे हुए के नीचे घने अन्धकार

के समान दिखता है। इस प्रकार निश्चय निरन्तर परे अन्तरिक्ष के वह [तमिस्र] लोक [है]। तो कौन इसे जानता है, यदि वहाँ है वा नहीं [है]।

(ख) अयं वै लोको गार्हपत्यः। इममेव तं लोकं संस्कृत्य समारोहन् [देवाः]। ते तम एव—अनतिदृश्यम् अपश्यन्। शत० ब्रा० ७।१।२।१॥

अर्थात्—[क्योंकि गार्हपत्य बनाकर देव इस पर चढ़े।] यह निश्चय [पृथिवी] लोक गार्हपत्य [लोक है]। इस ही उस लोक को पूरा बनाकर [वे देव] ऊपर चढ़े। उन्होंने अन्धकार ही, जिसमें से कुछ दिखाई न दे, देखा।

(ग) तमो वै स्वर्गं लोकम् अन्तरा तिष्ठति। मै० सं० ३।३।४॥

अर्थात्—अन्धकार निश्चय ही स्वर्गलोक के मध्य में ठहरता है।

(घ) छन्दांसि वा अमुष्मात् लोकात् सोमम् आहरन्। तत् तमो ऽन्तराधीयत। कपिष्ठल सं० ३७।७॥

अर्थात्—छन्द निश्चय उस लोक से सोम को लाए। वह अन्धकार मध्य में हुआ।

(ङ) अलोको वा एष यदनुजावरः। ता० ब्रा० २।१०।१॥

अर्थात्—प्रकाश-रहित निश्चय यह [है], जो अनुजावर [है]।

अनुजावर का अर्थ है, सबसे पश्चात् जन्मने वाला और सबसे छोटा वा निम्न कोटि का। इनके साथ भागवत पुराण का लोकालोक विषयक निम्नलिखित पाठ देखना चाहिए—

स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात् सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयो ऽर्वाचीनांस्त्रींल्लोकान्-आवितन्वाना न कदाचित् पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नह-नायामः। भागवत पु० स्कन्द ५, अ० २१, खण्ड ३७।

अर्थात्—वह [अलोक] तीन लोकों के अन्त में ईश्वर-प्रजापति ने

बनाया। जिसके कारण से सूर्य से ध्रुव पर्यन्त ज्योतिर्गणों की किरणें नीचे के तीन लोकों की ओर विस्तृत होती हुई, न कभी भी परली ओर होने का साहस करती हैं। वहाँ तक बन्धन-रहितता का विस्तार है।

यह अलोक का विषय गम्भीर विचार चाहता है। सूर्य-रश्मियाँ इससे पार क्यों नहीं जातीं, यह अभी हमारी समझ में नहीं आया।

१०. सप्त वायुमार्ग

पूर्व पृ० २३८ के टिप्पण १ में वायु के सप्त-मार्गों का संकेत कर चुके हैं। मनुस्मृति १।२६—में भी इन वायु मार्गों का कथन है। वायु पुराण ४६।१६३ में भी वायु के सप्त-स्कन्धों का उल्लेख है। महाभारत, शान्ति पर्व, अ० ३३६ में इन सातों मार्गों की विशद व्याख्या है। इसके बिना अन्तरिक्ष की माया समझ में नहीं आ सकती। अतः इसका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है—

१. प्रथम मार्ग आवह का है। यह धूमज और ऊष्मज अभ्र-संघातों का प्रेरक है।

ब्रह्माण्ड के अनुसार मेघों की उत्पत्ति तीन प्रकार की है—आग्नेय, ब्रह्मज और पक्षज। आग्नेय मेघ ऊष्णज हैं। ब्र० पू० भा० २२।३१॥

इस आवह में जीमूत मेघ रहते हैं। ये विद्युत् गुण विहीन, मूक होते हैं।

२. द्वितीय मार्ग प्रवह का प्रथम से ऊपर है। यह अभ्रों से स्नेह और तडित् से महाद्युति देता है।

पृथिवीस्थ घृत, तैल आदि का सारा स्नेह इसके कारण है। प्रवह और अभ्र के मेल का यह विचित्र परिणाम है। प्रशस्तपाद आदि में स्नेह को आपः का प्रधान गुण माना है। यह मूल आपः का गुण नहीं हो सकता। स्नेह के परमाणुओं के मेल का अन्वेषण आवश्यक है। स्नेह युक्त आपः जिन बीजों से आकृष्ट होते हैं, वहाँ स्नेह का प्रादुर्भाव होता है।

३. तृतीय मार्ग उद्वह का द्वितीय से ऊपर है। यह जीमूत मेघों को जल पहुँचाता है।

४. चतुर्थ मार्ग संवह का तृतीय से ऊपर है। यह देव विमानों का आकाश में वहन करता है। यहाँ से वर्षा के जल का मोक्षण आरम्भ होता है।

५. पंचम मार्ग विवह मारुत का चतुर्थ से ऊपर है। यह नभ को स्तनयित्नुमान् करता है।

६. षष्ठ मार्ग परिवह का पंचम से ऊपर है। इसमें आपः दिव्य और चंचल होते हैं।

७. सप्तम मार्ग परावह का षष्ठ से ऊपर है। यह द्यु-लोक तक पहुँचता है।

ऋग्वेद के अग्निमारुत सूक्त का मन्त्र है—

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥१।१९।६॥

इस पर स्कन्दभाष्य है—

ये आदित्यस्योपरि दीप्ते दिव एकदेशे स्थाने सप्तमे वायुस्कन्धे देवा अधिवसन्ति तैर्मरुद्भिः।

अर्थात्—सप्तम वायु स्कन्ध आदित्य से परे दिव लोक तक जाता है।

इन वायु-मार्गों का विस्तृत ज्ञान अन्तरिक्ष के सब रहस्यों को खोलता है। वायु के ये सात मार्ग क्यों बने, क्या इन सब में वायु एक ही प्रकार का है, अथवा परमाणुओं के विभिन्न मेल से इसके विविध प्रकार बन गए हैं, यह खोजना चाहिए।

इन मार्गों में आग्नेय प्रभाव कितना और उसके फलस्वरूप ताप-मान कितना है, यह जानना चाहिए।

११. वृत्र माया

• वैदिक विज्ञान में वृत्र की माया एक आश्चर्य-जनक घटना है। वृत्र के हनन के विना पृथिवी पर उद्भिज-उत्पत्ति असम्भव थी। बीज भी न बन सकते थे। और उद्भिज के विना मानव-सृष्टि असम्भव थी। अतः वेद में वृत्र का विशद वर्णन है। पर ब्राह्मण प्रवचनों के विना वृत्र-विषयक मन्त्रों की समझ नहीं आ सकती। अतः संहिता और ब्राह्मण-गत वे प्रवचन आगे लिखे जाते हैं।

उत्पत्ति-समय—वृत्र बन रहा था। प्रजाएँ भी उत्पन्न हो रही थीं। पुनः अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ। लोक कुछ दृढ़ हो गए। देव अपने पूरे यौवन में हुए। तब वृत्र वृद्धि को प्राप्त हुआ। तब उस के हनन का अवसर आया।

(क) प्रजाः सृष्ट्वा-अंहोऽवयज्य सोऽकामयत। वृत्रं हन्याम् इति। मै० सं० १।१०।१४॥

अर्थात्—प्रजाओं को उत्पन्न करके, सब कष्ट (=पाप) का यजन कर के उस [प्रजापतिः] ने कामना की। वृत्र का हनन करूँ। इससे स्पष्ट है कि वृत्र-वध प्रजा-उत्पत्ति के बहुत काल पश्चात् हुआ।

(ख) स यावद् ऊर्ध्वः पराविध्यति तावति स्वयमेव व्यरमत। यदि वा तावत् प्रवणमासीत्। यदि वा तावत् अध्यग्नेरासीत्। स संभवन् अग्नीषोमावभि समभवत्। स इषुमात्रम् इषुमात्रं विष्वङ् अवर्धत। स इमान् लोकान् अवृणोत्। यदिमान् लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्। तस्माद् इन्द्रो अबिभेत्। अपि त्वष्टा। तस्मै त्वष्टा वज्रम् असिञ्चत्। तपो वै स वज्र आसीत्। तम् उद्यन्तुं नाशक्नोत्। अथ वै तर्हि विष्णुः अन्या देवता आसीत्। तै० सं० २।४।१२॥ तुलना—तै० सं० २।५।२ तथा मै० सं० २।४।३॥

अर्थात्—वह [अग्निः] ऊपर-ज्वाल जहाँ तक वींधता है, वहाँ तक स्वयं ही [वह] ठहर गया। यदि निश्चय उतना झुकाव [अन्तरिक्ष वन]

था, यदि निश्चय उतना अग्निः पर आधिपत्य था। वह जन्मता हुआ, अग्निः और सोम पर बल वाला हो गया। वह बाण की दूरी तक, बाण की दूरी तक चारों ओर बढ़ा। उसने इन [तीन] लोकों को घेर लिया। जो इन लोकों को घेरा, वह वृत्र का वृत्रपन है। उससे इन्द्र डरा। त्वष्टा भी [डरा]। उस के [हनन के] लिए त्वष्टा ने वज्र को सींचा।

देवता परिवर्तन—उपर्युक्त प्रमाण के अन्त में कहा है—उस समय विष्णु अन्य देवता थी। वह कब विष्णु रूप में आई, यह पर्येष्य है।

इसी प्रकार अग्निः के तीन रूप होकर अग्निः तथा दो देवता हुई। यथा—

अग्निः त्रेधा-आत्मानं कृत्वा प्रत्ययतत। अग्निरेवास्मिन् लोके भूत्वा। वरुणोऽन्तरिक्षे। रुद्रो दिवि। मै० सं० ४।३।४॥

सब देव अग्निः और सोम के परमाणुओं के रूपान्तर हैं।

(ग) अथ यद् वर्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः। अथ यद् अपात् समभवत् तस्माद् अहिः। श० ब्रा० १।६।३ ६॥

अर्थात्—अब जो होता हुआ, बढ़ा, इस कारण वृत्र [है]। अब जो विना पाँव बढ़ा, इस कारण अहिः [है]।

विकसित वृत्र—जब वृत्र ने पूर्ण वृद्धि प्राप्त कर ली, तो उस की दशा कैसी थी। शतपथ में इसका सुन्दर उल्लेख है—

(घ) वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्त्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा-पृथिवी। स यदिदं सर्वं वृत्त्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥४॥ तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एव आपोऽभि प्र सुस्राव। सर्वत इव हि अयं समुद्रः तस्माद् उ हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे। ता उपरि-उपरि-अति पप्लुविरे। अत इमे दर्भाः। ता हैता अनापूयिता आपः। अस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभि प्रास्रवत्। तदेव-आसाम् एताभ्यां पवित्राभ्याम् अपहन्ति।

शत० ब्रा० १।१।३।४,५॥

अर्थात्—वृत्र निश्चय इस सब को घेर कर सोया। जो यह बीच

में द्यावापृथिवी के है। वह जो इस सब को घेर कर सोया, इस कारण वृत्र नाम [हुआ]। उस को इन्द्र ने मारा। वह मारा हुआ दुर्गन्धमय सब ओर से हो आपः की ओर बहा। सब ओर ही यह समुद्र है। इस लिए एक प्रकार के आपः घृणा करने लगे। वे ऊपर-ऊपर अति बहने लगे। वे ये दर्भ हुए। वे निश्चय ये दुर्गन्ध-रहित आपः [हैं]। है निश्चय दूसरी [आपः] में संसृष्ट के समान जो इनको वृत्र दुर्गन्ध के साथ बहा। वह ही [दुर्गन्ध] इन [आपः] की इन पवित्रों से नष्ट करता है।

यह वृत्र पृथिवी से द्युः लोक तक मानों एक ही टुकड़ा था। जब तक यह नष्ट न होता, तब तक इन लोकों की लीलाएँ असम्भव थीं। उस समय इन्द्र, मरुत आपः[1] और अग्निः[2] आदि के प्रभाव बढ़े। ये प्रभाव कैसे बढ़े, भूतों और उन के विकार इन्द्र आदि में शक्ति कैसे उत्पन्न हुई, इसका वर्णन वेद-मन्त्रों में ही है। यह विज्ञान साक्षात् कृतधर्मा ऋषियों की देन हैं।

महत्तमः—वृत्र ने लोकों में महान् अन्धकार कर दिया। इस विषय में प्राचीन इतिहास थे। उन्हें स्कन्द ऋग्भाष्य में उद्धृत करता है। यथा—

(क) वृत्रः किल महत्तमस्ततान। तमसा वृतं सर्वमन्धं प्रज्ञातं बभूव। तदिन्द्रो वृत्रं हत्वा तमसोऽपनोदनार्थं सूर्यं दिव्यारोहयाञ्चकार इति। ऋ० १।५१।४॥

(ख) वृत्रः आदित्यं नक्षत्राणि रश्मींश्चापहृत्य महत्तमस्ततान लोके। अग्नीषोमौ त्वादित्यादीन् प्रत्यानिन्यतुरिति।

ऋ० १।९३।४॥

(ग) वृत्रः किल सूर्यनिरोधनसमर्थं महत्तमस्ततान। तं

---

१. आपो ह वै वृत्रं जघ्नुः। तेनैवैतद् वीर्येण-आपः स्यन्दन्ते। श० ब्रा०

२. अग्निना वा अनीकेन इन्द्रो वृत्रम् अहन्। मै० सं० १।१०।५॥
अग्निषोमौ वृत्रहणौ। काठक ५।१।१॥

हत्वेन्द्रः तमसोऽपनोदनार्थं सूर्यं दिव्यारोहयाञ्चकार इति।
ऋ० १।१२१।१०॥

अर्थात्—वृत्र ने महान् तम का विस्तार कर दिया। सब अन्ध हो गया। आदित्य, नक्षत्र और रश्मियां लुप्त हो गईं। तब इन्द्र ने वृत्र-वध किया। फिर अग्निः, सोम और इन्द्र ने सूर्य को दिव-लोक में चढ़ा दिया।

इस से ज्ञात होता है कि वृत्र-वध से पूर्व सूर्य दिव-लोक में नहीं था। वह अभी बहुत नीचे था, और उसका अवस्थापन उचित स्थान पर नहीं हुआ था। वृत्र वस्तुतः भूमि से द्युः लोक तक था। तभी उसने नक्षत्र और रश्मि जाल को भी ग्रस लिया था।

सप्त-सिन्धु—वेद के सप्त सिन्धु इस पार्थिव लोक के नद आदि नहीं हैं। वेद में वर्णित नद द्यु अथवा अन्तरिक्षस्थ हैं। इसीलिए ऋग्वेद कहता है—

यो हत्वा-अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून।२।१२।३॥

अर्थात्—जिसने मार कर वृत्र को बहाया सात सिन्धुओं को।

इसके साथ तुलना करो, ऋग्वेद ३।३३।६, तथा निरुक्त २।२६॥

वेद में मानव इतिहास ढूँढने वालों को अभी वेद-ज्ञान का क, ख भी नहीं आता।

इसी वृत्र-वध के पश्चात् कालवाली (गञ्जी) पृथिवी पर ओषधियां और वनस्पतियाँ उगीं। वृत्र के अंशों ने आपः, अथवा सोम और पृथिवी के योग से बीजों को उत्पन्न किया। मन्त्रों में इस वृत्र अर्थात् महामेघ की तुलना भी पुरुष से की है। इसके विविध अंगों से विविध बीज बने। इसी से वनस्पति आदि उत्पन्न हुए। उसी वृत्र के शरीर से ये गिरि और ये पत्थर बनें।[१]

इन विषयों में से प्रत्येक के ऊपर एक विशाल ग्रन्थ रचा जा

---

१. तस्य [वृत्रस्य] एतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानः।
श० ब्रा० ३।४।३।१३॥३।९।४।१४॥

सकता है ।

वृत्र अनेक—ऐसे वृत्र अनेक हो गए । ये ही महा-मेघ के भाग कहीं-कहीं अब भी बचे हैं । ऋग्वेद का मन्त्र है—

त्वं हि···एको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः ।३।३०।४॥

अर्थात्—तुम ही अकेले वृत्रों को, विचरते हो, नष्ट करते हुए ।

पुनश्च ऋग्वेद का पाठ है—

अग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि ।१०।८०।२॥

यहाँ वृत्रों को, तथा पुरूणि वृत्राणि प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं ।

नैबूला—यह nebulea शब्द लैटिन भाषा का है । इसका अर्थ वहाँ मेघ है । पाश्चात्य विज्ञान वालों को इस विषय की पूरी समझ वेदाध्ययन से ही हो सकती है । संसार भर में केवल वेद-ज्ञान है जो अति-अतीत के तथ्यों का सत्य चित्र खींचता है । यह चित्रण दैवी और योग-समाधि का परिणाम है ।

ग्रन्थकार द्वारा रचित वा सम्पादित पुस्तकें

विरचित

१. ऋग्वेद पर व्याख्यान (अप्राप्य)
२. बार्हस्पत्य सूत्र की भूमिका
३. वैदिक कोष की भूमिका
४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास
प्रथम भाग—वेदों की शाखाएँ (द्वि० परि० सं०) १०)
द्वितीय भाग—वेदों के भाष्यकार
तृतीय भाग—ब्राह्मण और आरण्यक
५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास प्रथम भाग १६)
६. ,, ,, ,, द्वितीय भाग मुद्र्यमाण
७. भाषा का इतिहास ५)
८. Western Indologists १॥)

सम्पादित

१. वाल्मीकीय रामायण (पश्चिमोत्तर पाठ)
बाल तथा अरण्य काण्ड का कुछ भाग
२. अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका
३. माण्डूकी शिक्षा
४. आथर्वण ज्योतिष

५. उद्गीथाचार्यकृत ऋग्वेद भाष्य, दशम मण्डल का कुछ भाग

६. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वरचित जन्म चरित ।=)

७. ऋङ्-मन्त्र व्याख्या (अप्राप्य)

८. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन ७)

९. गुरुदत्त लेखावली—भाषा-अनुवाद (अप्राप्य)

विशिष्ट लेख

१. बैजवाप गृह्य सूत्र संकलन

२. शाकपूणि का निरुक्त और निघण्टु

३. शूद्रक-अग्निमित्र-इन्द्राणीगुप्त

४. साहसाङ्क विक्रम और चन्द्रगुप्त विक्रम की एकता

५. Date of Vis'varūpa

६. आर्य वाङ्मय

७. अश्व शास्त्र

८. भारतीय प्राचीन राजनीति पर भाषण

भारतीय वाङ्मय के इतिहास की दो विशिष्ट पुस्तकें

१. आयुर्वेद का इतिहास, प्रथम भाग, कविराज सूरम चन्द, बी० ए०, वैद्य वाचस्पति कृत ८)

२. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत १०)